भामती : एक अध्ययन
वेदान्त दर्शन के सन्दर्भ में
वाचस्पति मिश्र का मूल्यांकन
डॉ. ईश्वर सिंह

भारतीय दर्शन में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र के नाम से विख्यात आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वेदान्त—सभी वैदिक दर्शन-सम्प्रदायों को अपनी लेखनी से उपकृत एवं समृद्ध किया है।

शांकरवेदान्त में शारीरकभाष्य पर उनकी 'भामती' अन्यतम स्थानाभिषिक्त अन्वर्थनाम्नी विवृति है। अद्वैत वेदान्त का अध्ययन-अध्यापन 'भामती' के बिना अपूर्ण ही रहता है। डॉ० ईश्वर सिंह द्वारा लिखित 'भामती: एक अध्ययन' (वेदान्त दर्शन के सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र का मूल्यांकन) एक शोधात्मक मीमांसा है। भामतीकार के समग्र व्यक्तित्व का परिचय, भामती के आविर्भाव से पूर्व के वेदान्त की झांकी, व्याख्या के रूप में 'भामती' का वैशिष्ट्य, प्रतिपक्षियों की आलोचनाओं, विशेषकर बौद्धों व भास्कर के आक्षेपों का भामतीकार के द्वारा किया गया प्रत्याख्यान-विवरण, उत्तरवर्ती अद्वैतीय वाङ्मय पर 'भामती' का प्रभाव आदि के माध्यम से एक व्याख्याकार और दार्शनिक के रूप में भामतीकार का मूल्यांकन प्रस्तुत अध्ययन की अन्यतम विशिष्टता है।

भारतीय दर्शन, विशेषकर शांकरवेदान्त के जिज्ञासुओं के लिए एक अध्येतव्य एवं संग्राह्य 'प्रयास' है।

भामती : एक अध्ययन

[वेदान्तदर्शन के सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र का मूल्यांकन]

डॉ० ईश्वर सिंह
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक

Foreword by

Dr. Jai Dev Vidyalankar
Professor & Head
Department of Sanskrit, Pali & Prakrit,
Maharshi Dayanand University ROHTAK

भामती : एक अध्ययन

[वेदान्तदर्शन के सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र का मूल्यांकन]

प्रथम संस्करण : 1983

मूल्य : पंचानबे रुपये

Rs. 95-00

मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक द्वारा प्रकाशित एवं रघु कंपोज़िंग एजेंसी द्वारा तारकेश्वर प्रिंटर्स, शाहदरा-दिल्ली-110032 में मुद्रित।

BHĀMATĪ : EKA ADHYAYANA

Vedānta Darśana Ke Sandarbha Meṅ Vācaspati Miśra Kā Mūlyāṅkana

by Dr. Ishwar Singh

FOREWORD

As a co-sharer in teaching a paper of the specialised group of Indian Philosophy to the students of M. A. class with Dr. Ishwar Singh, I had many an occasion to discuss with him some of the knotty problems relating to the Advaita-Vedānta-school of Śaṅkarācārya. On one such occasion our discussion centred on the phenomenon of adhyāsa as defined by the great Ācārya. Naturally enough, our discussion veered on its elucidation by the different commentators and this provided me an opportunity to go through the third chapter (tṛtiya unmeṣa) of his thesis entitled "Vācaspati Miśra Kī Vedānta darśana Ko dena." The presentation of Vācaspati's and those of others' views on this topic was so lucid and informative that it captivated my interest so much that I read the whole of it in four sittings.

Its reading convinced me that Dr. Ishwar Singh has not only covered the new ground than that done by Dr. S. S. Hasurkar in his book entitled "Vācaspati Miśra on Advaita Vedānta" (1958) but has also critically analyzed and evaluated Vācaspati Miśra's contribution to Śaṅkara's Advaita theory. I felt convinced that this thesis must see the light of day so that the students and scholars of this Philosophy may judge for themselves the high merit of Dr. Ishwar Singh's work. I, therefore, readily agreed to introduce his book entitled "Bhāmatī : eka adhyayana" (Vedānta Darśana Ke Sandarbha meṅ Vācaspati Miśra Kā mūlyāṅkana) to the admirers of Indian Philosophy, when I came to know that the book is being published. Readers of this book will readily agree that this work is not merely a 'book' but is an embodiment of the result of a labourious study of the Pre and Post Śaṅkara Advaita Philosophy.

Vaiśākhī
13th of April, 1983
Rohtak

—*Jai Dev Vidyalankar*

उपक्रम

प्रस्तुत ग्रंथ पी-एच० डी० उपाधि के लिए जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर द्वारा स्वीकृत मेरे शोधप्रबन्ध 'वाचस्पति मिश्र की वेदान्तदर्शन को देन' का परिवर्तित शीर्षक के अन्तर्गत मुद्रित रूप है। इस विषय की ओर उन्मुख होने की एक स्वाभाविक पृष्ठभूमि है।

एम० ए० उत्तरार्द्ध में वैकल्पिक वर्ग के रूप में मैंने भारतीय दर्शन का चयन किया था। उसी के अन्तर्गत 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' के माध्यम से आचार्य वाचस्पति के 'सम्पर्क' में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, किन्तु वैदिक दर्शन के जिस सम्प्रदाय के भी मैं पृष्ठ पलटता, वहीं वाचस्पति मिश्र का नाम विशिष्टाभ एव अपरिहार्य प्रतीत होता। इस प्रकार दर्शन के रंगमंच पर विभिन्न भूमिकाओं में प्रस्तुत होने वाली उनकी बहुभंगिमा-विशारद मनीषा उत्तरोत्तर वर्धिष्णु जिज्ञासा एवं आकर्षण का केन्द्र बनती चली गई। इसी जिज्ञासा और आकर्षण ने इस बहुपक्षीय मनीषा से लेखनी-सम्बन्ध स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा को जन्म दिया। अनतिविलम्ब ही उत्साहवर्धक परीक्षा-परिणाम ने शोध-कार्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर इस महत्त्वकांक्षा की पूर्ति का अवसर भी जुटा दिया।

किन्तु वाचस्पति का दार्शनिक व्यक्तित्व इतना विशाल एवं गम्भीर है कि उसे पूर्णांश में स्पर्श कर पाना लेखनी के सकृत् प्रयास की पहुँच से बाहर है, यह तथ्य भी सामने था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उस विराट् व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष तक ही अपने प्रयास को सीमित रखा जाए। किन्तु किस पक्ष तक? सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वेदान्त अनेक पक्ष हैं उस व्यक्तित्व के! इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया स्वयं आचार्य वाचस्पति मिश्र ने। दर्शन की विभिन्न सुधासरिताओं में अवगाहन करने के अनन्तर उनकी अनुभवसंकुला मनीषा अन्ततोगत्वा वेदान्तजाह्नवी में ही तो रम गई थी। अतः उस विराट् व्यक्तित्व को लेखनी से छूने की सामान्योन्मुखी अभिलाषा का विशिष्टीकरण हुआ वेदान्ती वाचस्पति मिश्र को जानने-टटोलने की महत्त्वाकांक्षा के रूप में। सौभाग्य से मेरी रुचि एवं जिज्ञासा के अनुसार ही शोध के लिए विषय भी स्वीकृत हो गया—"वाचस्पति मिश्र की वेदान्त-दर्शन को देन।" ईशानुकम्पा और गुरुप्रसाद से उस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति हुई उपर्यंकित शोध-प्रबन्ध के रूप में, और परिणति हुई प्रकृत मुद्रित 'अध्ययन' के रूप में।

अपने विषय पर कार्य करते हुए इसी विषय से सम्बन्धित, डॉ० श्रीनाथ श्रीपाद हसूरकर द्वारा लिखित शोध-प्रबन्ध "Vācaspati Miśra on Advaita Vedānta"[1]

---

१. प्रकाशित—Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, Darbhanga, 1958

को लेकर यह प्रश्न प्रायः मेरे सामने आता रहा कि जब पहले ही इस विषय पर कार्य हो चुका है तो प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की क्या विशिष्ट उपयोगिता हो सकती है ? इसका उत्तर मैं इस प्रकार देना चाहूँगा। एक ही राम को लेकर वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना की और तुलसी ने भी उसी राम पर रामचरितमानस का भव्य प्रासाद खड़ा किया, क्या इन दोनों कृतियों का अपना पृथक् महत्त्व नहीं है ? ब्रह्मसूत्रों पर शंकर ने भाष्य लिखा किन्तु आगे चलकर भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, माध्व, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से उन्हीं ब्रह्मसूत्रों को भाष्य समर्पित किये। शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर पद्मपाद टीका लिख चुके थे, आचार्य वाचस्पति ने क्यों लिखी ? फिर उनके परवर्ती आचार्यों आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द और अद्वैतानन्द ने उसी भाष्य की विवृति के लिए क्यों लेखनी उठायी ? इतना ही क्यों, ब्रह्म को लेकर उपनिषदों में पर्याप्त चर्चा हो चुकी थी, फिर ब्रह्मसूत्रों, भाष्यों आदि की निर्मिति उसी ब्रह्म को विषय कर क्यों की गई ? किन्तु हम देखते हैं कि एक ही विषय पर लिखित विभिन्न ग्रन्थ निरर्थक नहीं हैं, सबका अपना-अपना महत्त्व है। अतः किसी विषयविशेष पर किसी विद्वद्विशेष के द्वारा लेखनी उठाये जाने का यह अर्थ कथमपि नहीं हो सकता कि आगे आने वाले जिज्ञासुओं एव अनुसंधित्सुओं के लिए उस विषयविशेष के द्वार बन्द हो गए हैं।

इसलिए कोई भी कृति अपने प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। लिखने की आवश्यकता बनी ही रहती है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' इस बात में सन्देह नहीं कि डॉ० हसुरकर ने विषय का प्रतिपादन पर्याप्त कुशलता, सफलता एवं गम्भीरता से किया है किन्तु कुछ ऐसी बातें, जो वर्तमान शोध-कर्ता के दृष्टिकोण से वेदान्त को वाचस्पति की देन के मूल्यांकन के सन्दर्भ में समाविष्ट की जानी चाहिएँ थीं, अस्पृष्ट ही रह गई हैं, यथा वाचस्पति के व्यक्तिगत जीवन तथा उनकी विभिन्न कृतियों का सामान्य परिचय, 'भामती' की व्याख्या-सम्बन्धी विशेषताएँ, उनके द्वारा की गई विरोधी मतवादों, विशेषकर भास्करदृष्टि की गम्भीर आलोचनाएँ, परवर्ती टीकाकारों एवं लेखकों द्वारा की गई वाचस्पति मिश्र की आलोचनाओं की समीक्षा, परवर्ती वेदान्ताचार्यों पर वाचस्पति मिश्र के प्रभाव का सर्वेक्षण[1] आदि। साथ ही अवच्छेदवाद-प्रतिबिम्बवाद में वाचस्पति का हृदय तथा दृष्टिसृष्टिवाद का स्वरूप-विवेचन व वाचस्पति मिश्र के द्वारा उसका अवलम्बन आदि कुछ ऐसे विचार-बिन्दु थे, जहाँ मैं विद्वान् लेखक के निष्कर्षों से सहमत हो पाने में असमर्थ था। इसलिए उक्त विषय पर शोध-कार्य करने की महती आवश्यकता भी थी और पर्याप्त क्षेत्र भी था। प्रस्तुत शोधात्मक अध्ययन इसी दिशा में एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत अध्ययन पाँच उन्मेषों में विभक्त है। परिचयात्मक प्रथम उन्मेष में वाचस्पति मिश्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, क्योंकि किसी विद्वान्

---

१. इस ओर संकेत अवश्य किया गया है किन्तु परवर्ती साहित्य से इस प्रसंग में प्रमाण-स्वरूप स्थल प्रस्तुत करने तथा विशदरूप से सर्वेक्षण करने का प्रयास नहीं किया गया है।

के दृष्टिकोण के पक्षविशेष से सम्बन्ध स्थापित करने से पहले उसके सम्पूर्ण दृष्टिकोण का सामान्य परिचय आवश्यक होता है। 'प्राक्-प्रवाह' नामक द्वितीय उन्मेष में वाचस्पति से पूर्व के वेदान्त पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए इस बात को जानने का प्रयास किया गया है कि उस समय वाचस्पति जैसे प्रबुद्ध मनीषी एवं 'भामती' जैसी प्रौढ़ रचना की आवश्यकता क्यों थी। दार्शनिक दृष्टि से जो-जो वाचस्पति मिश्र की विशेषताएँ मानी जाती हैं, उनकी पृष्ठभूमि के परिज्ञान के लिए इसी क्रम में कतिपय अद्वैतीय मान्यताओं के प्राक्-प्रवाह पर भी प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया। 'भामती की आभा' नामक तृतीय उन्मेष में भामतीकार की दार्शनिक एवं व्याख्यात्मक विशेषताओं को भी उभारने का प्रयास किया गया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतमत की स्थापना के लिए विरोधी मतों का सबल युक्तियों से खण्डन किया है। 'आलोचन-भंगिमा' नामक चतुर्थ उन्मेष के पूर्वभाग में एक आलोचक के रूप में आचार्य वाचस्पति मिश्र की देन को उजागर करने का तथा उत्तरभाग में परवर्ती वेदान्ताचार्यों द्वारा की गई इन विशिष्ट सिद्धांतों तथा व्याख्यानों की आलोचनाओं को समीक्षासहित प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। 'प्रलय-गमन' नामक पंचम उन्मेष में परवर्ती वेदान्तसाहित्य पर वाचस्पति के प्रभाव-विस्तार के प्रसंग में 'भामती' की व्याख्याओं, उपव्याख्याओं पर प्रकाश डालने के साथ-साथ शांकरभाष्य की (वाचस्पति-परवर्ती) अन्य व्याख्याओं के ऐसे स्थलों को सामने लाने का प्रयास किया गया है जो 'भामती' के वैचारिक अथवा भाषिक गठन से प्रभावित हैं। इसी क्रम में वेदान्त के परवर्ती प्रकरण-ग्रन्थों पर भी वाचस्पति मिश्र के प्रभाव का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत विषय के लिए सामग्री एकत्र करने के प्रसंग में जिन संस्थाओं से मुझे विशिष्ट उपयोगी सामग्री मिली उनमें (१) पुस्तकालय, श्री उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, (२) श्री गोयनका संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, (३) श्री सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी, (४) विभागीय पुस्तकालय, संस्कृत एवं पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (५) केन्द्रीय पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (६) पुस्तकालय, श्री मुनिमण्डलाश्रम, कनखल (हरिद्वार), (७) पुस्तकालय, श्री गुरुमण्डलाश्रम, हरिद्वार, (८) श्री श्रवणनाथ पुस्तकालय, हरिद्वार, (९) केन्द्रीय पुस्तकालय, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, (१०) श्री सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय, जोधपुर तथा (११) राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान जोधपुर के नाम मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। इन सभी संस्थाओं के सम्बन्धित अधिकारियों ने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग मुझे दिया, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आदरणीय श्री सुरजनदास जी स्वामी ने अपने कुशल निर्देशन तथा अनेकधा साहाय्य के रूप में आहुति प्रदान कर इस शोधयज्ञ को सफल बनाकर मुझे उपकृत किया है। मैं उनका आजीवन अधमर्ण रहूँगा।

भगवान् विश्वनाथ की पवित्र नगरी, पारम्परिक संस्कृताध्ययनाध्यापन के वैभव से मण्डित काशी में जिन प्रतिष्ठित विद्वानों का विशिष्ट एवं अमृतोपम प्रसाद मुझे प्राप्त हुआ उनमें अन्वर्थनामा परमपूज्य स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी महाराज का नाम विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। उनके पवित्र एवं स्नेहपंकिल चरणों में बैठकर जहाँ मैं उनके विविधग्रन्थोदधिमन्थनप्रसूत ज्ञानरत्नकणों को यथासामर्थ्य बटोरने का सौभाग्य प्राप्त कर सका वहाँ उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय में उपलब्ध अनेक महत्त्वपूर्ण दुर्लभ ग्रन्थों से भी लाभान्वित हुआ। एतदर्थं मैं आदरणीय स्वामी जी महाराज का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। समादरणीय ज्ञानवयोवृद्ध श्री कमलाकान्त जी मिश्र (भूतपूर्व अध्यक्ष, गोयनका-संस्कृत महाविद्यालय तथा सम्मानित प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), स्नेहमूर्ति पूजनीय श्री एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री (अध्यक्ष, मीमांसाविभाग, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), माननीय श्री मूलशंकर जी व्यास (प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) आदि विद्वानों ने भी अपनी चिरकाल-संचित ज्ञानसुधा से मेरी ज्ञान-पिपासा को तृप्त किया है। अपने तत्कालीन विभागाध्यक्ष महोदय डॉ० रसिकविहारी जोशी का भी मुझे यथासमय अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ जिसके लिए उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। प्रेरणा एवं स्नेह के स्रोत परमपूज्य श्री द्वारिकानाथ जी शुक्ल (उपप्रधानाचार्य, श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर) एवं श्री जी० एल० शर्मा (भूतपूर्व प्राध्यापक, श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर), तथा अपने अभिन्न मित्र श्री जगदीशचन्द्र गहलोत (जोधपुर) के सहयोग को भी मैं इस अवसर पर कैसे भुला सकता हूँ जिन्होंने शोधकार्यावधि में अनेक विषम परिस्थितियों में मुझे निश्चिन्तता एवं स्थिरता प्रदान की।

अपने वर्तमान विभागाध्यक्ष माननीय डॉ० जयदेव विद्यालङ्कार के प्रति भी अपनी श्रद्धाभिव्यञ्जना एवं धन्यवादार्पण अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनकी सत्प्रेरणा एवं पथ-संज्ञापना प्रत्येक अधिजिगांसु एवं जिज्ञासु के लिए पाथेयस्वरूप है। प्राक्कथन (Foreword) के रूप में उनके आशीर्वचन से प्रस्तुत कृति निःसन्देह द्विगुणाभ हुई है।

मैंने यथामति विषय का सुसंगत प्रतिपादन करने का पूर्ण प्रयास किया है, किन्तु मैं इस सम्बन्ध में पूर्णता या त्रुटिहीनता का दावा नहीं करता। किसी विषयविशेष से सम्बद्ध निष्कर्ष पर मतवैभिन्न्य का सभी को अधिकार है, अतः मैं सर्वसहमति की आशा लेकर नहीं चल रहा हूँ। स्वयं को एक जिज्ञासु की भूमिका में देखना मुझे परम रुचिकर प्रतीत होता है, अतः विज्ञ जन जो भी उपयोगी सुझाव प्रेषित करेंगे, उनका हृदय से स्वागत करूँगा।

कतिपय मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई हैं। उनके निराकरण के लिए अशुद्धि-संशोधन-पत्र पुस्तक के अन्त में दिया गया है। पाठकगण कृपया उक्त संशोधन को कार्यान्वित करने के पश्चात् ही पुस्तक को पढ़ना प्रारम्भ करें, यह विनम्र निवेदन है। इनके अतिरिक्त भी कुछ त्रुटियाँ अदृष्ट, अस्पृष्ट रह गई होंगी। ऐसे स्थलों पर सुमति पाठक कृपया स्वयं सुधार करके पढ़ने का कष्ट करें। इति शम्।

रामनवमी
२१ अप्रैल, १९८३
रोहतक

सुविज्ञाशीराकांक्षी
—ईश्वरसिंह

संकेत-सूची

अन्ययो० = अन्ययोगव्यवच्छेदस्तोत्र
अभि० शा० = अभिज्ञानशाकुन्तल
ईशा० = ईशावास्योपनिषद्
ऋग्/ऋग्वे० = ऋग्वेद
कठ० = कठोपनिषद्
कल्प०/कल्पतरु = वेदान्तकल्पतरु
काठ० = काठकोपनिषद्
कौ० ब्रा० = कौषीतकीब्राह्मण
गी०/गीता = श्रीमद्भगवद्गीता
गीताभाष्य = श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य
गोपी० = गोपीनाथ कविराज
चौ० सं० = चौखम्बा संस्करण
चौ० सं० सी० = चौखम्बा संस्कृत सीरीज़
छा०/छान्दो०/छान्दोग्य० = छान्दोग्योपनिषद्
जै० सू० = जैमिनिसूत्र
तै० ब्रा० = तैत्तिरीयब्राह्मण
तै०/तैत्ति० = तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० सं० = तैत्तिरीयसंहिता
द्र० = द्रष्टव्य
न्या० क०/न्याय क० = न्यायकणिका
न्या० कु० = न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या० वा० ता०/तात्पर्यटीका/न्या० वा० ता० टी०/न्या० वा० टी० = न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
न्या० वा० ता० प० = न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि
न्या० सि० मु० = न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या० सू० = न्यायसूत्र
न्या० सू० नि० = न्यायसूचीनिबन्ध
परिमल = कल्पतरुपरिमल (वेदान्तकल्पतरु की व्याख्या)

पंच० = पंचपादिका
पंच० विव० = पंचपादिकाविवरण
प्रकटार्थ/प्रकटार्थ० = प्रकटार्थविवरण
प्र० वा० = प्रमाणवार्त्तिक
प्रश्न० = प्रश्नोपनिषद्
बृ०/बृह०/बृहदा० = बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० शां० भा०/शां० भा० ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
भाम० = भामती
भास्करभाष्य = ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य
मनु० = मनुस्मृति
माण्डूक्यो० = माण्डूक्योपनिषद्
मी० द० = मीमांसादर्शन
मी० न्या० प्र० = मीमांसान्यायप्रकाश
मी० सू० = मीमांसासूत्र
मु०/मुण्डक = मुण्डकोपनिषद्
यो० सू० = योगसूत्र
लङ्का० = लङ्कावतारसूत्र
वेदान्त० = वेदान्तपरिभाषा
शतपथ०/श० ब्रा० = शतपथब्राह्मण
शाण्डिल्य० = शाण्डिल्यसूत्र
शारीरकभाष्य = ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
शां० भा० = शांकरभाष्य
श्लो० = श्लोक
श्लो० वा० = श्लोकवार्त्तिक
श्वे०/श्वेता० = श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां० का० = सांख्यकारिका
सां० तत्त्वकौ०/सांख्यतत्त्वकौ० = सांख्यतत्त्वकौमुदी
सिद्धान्त० = सिद्धान्तलेशसंग्रह
सर्वदर्शन० = सर्वदर्शनसंग्रह
Proceedings = Proceedings of the Second Oriental Conference, Calcutta.
Radha Krishnan = S. Radha Krishnan

विषयानुक्रम

मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा
बद्धांजलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसो मर्म तथा भव सावधाना
वाचस्पते र्वचसि न स्खलतो यथैते।।

—उदयनाचार्यः

१

भामतीकार : परिचय

मिथिला जनपद की पावन धरा ने वाचस्पति नाम के कई वेदार्थवेत्ता, शास्त्रनिष्णात, दर्शन-मनीषी विद्वानों को जन्म दिया है, जिनमें तीन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) सर्वतन्त्र स्वतन्त्र षड्दर्शन-टीकाकार वाचस्पति मिश्र, (२) खण्डनोद्धार ग्रंथ के रचयिता वाचस्पति मिश्र[1] तथा (३) धर्मशास्त्रों के प्रख्यात व्याख्याता वाचस्पति मिश्र।[2] इनमें षड्दर्शन-टीकाकार प्रथम वाचस्पति मिश्र का ही प्रकृत ग्रन्थ से सम्बन्ध है। अतः परिचयात्मक इस प्रथम उन्मेष में उन्हीं के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

देश

वर्तमान बिहार प्रान्त में नेपाल से सटा हुआ दरभंगा मण्डल है। उसके मधुबनी सबडिविजन में अन्धराठाढ़ी नाम का एक गाँव है। यही वह गाँव है जिसे आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपने जन्म एवं सरस्वत्याराधन से कृतार्थ किया था। आचार्य के स्मारकों में से इस समय केवल एक 'मिसिराइन पोखरि' ही दिनमणि के समान अपने प्रभास्वर ज्ञानालोक से सर्वदिशाओं को भास्वरित करने वाले दार्शनिक शिरोमणि के अदृश्य प्रतिबिम्ब को अपने अन्तस्थल में समोये हुए है जिसकी चपल ऊर्मियां दिक्-तटों पर आचार्यप्रवर का जाज्वल्यमान इतिहास लिखती चली जा रही हैं—अनदेखी-सी अनजानी-सी। कहा जाता है कि इस 'पोखरि' का खनन आचार्य वाचस्पति मिश्र की धर्म-पत्नी 'मिश्रानी' जी के नाम पर उनके जीवन-काल में किया गया था।

काल

सौभाग्य से स्वयं आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी कृति 'न्यायसूचीनिबन्ध' के अन्त में उसका रचनाकाल 'वस्वकंवसुवत्सरे' स्पष्टतः निर्दिष्ट किया है।[3] सांकेतिक भाषा में वसुपद* '८' संख्या का, अंक '९' संख्या का सूचक माना जाता है। इस प्रकार '९' संख्या अपने पूर्व व उत्तर दो 'वसु' पदों से निर्दिष्ट दो '८' से घिरी '८९८' सम्पन्न होती है। विपरीत गति से अंकों का विन्यास करने पर भी ८९८ संख्या ही प्राप्त होती है। अब प्रश्न इतना रह जाता है कि यह कौन-सा संवत्सर है। मूल पंक्ति में 'वत्सर' शब्द

विशेष निर्णायक सिद्ध नहीं होता क्योंकि वत्सर का सामान्य अर्थ वर्ष मात्र होता है। उस समय विक्रमाब्द और शकाब्द के रूप में दो संवत्सर प्रचलित थे। संस्कृत के विद्वान् उन दोनों का उपयोग किया करते थे। यदि इसे शकाब्द माना जाए, जैसाकि कुछ विद्वानों[४] का मत है, तो उनके व्याख्याकार उद्भट नैयायिक श्री उदयनाचार्य से केवल ८ वर्ष पूर्व आचार्य वाचस्पति मिश्र की स्थिति होती है। इतना ही नहीं, 'न्यायसूचीनिबन्ध' के पश्चात् सांख्य, योग और वेदान्त पर विपुल व्याख्या-सम्पत्ति का सम्पादन करने के लिए वाचस्पति मिश्र विद्यमान रहे होंगे। उदयनाचार्य ने अपनी रचना 'लक्षणावली' का समय शक संवत् ९०६ लिखा है।[५] उससे पूर्व भी उनका उदीयमान जीवन रहा होगा। फलतः दोनों समसामयिक हो जाते हैं जो कि विद्वानों की आदान-प्रदान, आलोचना-प्रत्यालोचना आदि परम्परा में अधिक युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति ने अपनी निबन्धावलियों में आचार्य वाचस्पति के मतों की पुष्कल समालोचना की है। उनके समालोचित खण्डलक ज्यों-के-त्यों 'न्यायकणिका' और 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में पाये जाते हैं। ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति की आलोचनाओं का समुचित उत्तर एवं उनकी स्थापनाओं की गम्भीर आलोचना उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थों में की है। ज्ञानश्री का समय सन् १०४० ई० विद्वानों ने माना है[६] जो कि ९६२ शक संवत् बैठता है जो कि उदयनाचार्य के भी पश्चात् पड़ता है। अतः यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। वाचस्पति और उदयनाचार्य के मध्य में ज्ञानश्री की स्थिति मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार वाचस्पति की ग्रन्थ-रचना, उसकी प्रसिद्धि, ज्ञानश्री द्वारा उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों का निर्माण और उन ग्रन्थों की लोक-प्रसिद्धि तथा आचार्य उदयन द्वारा ज्ञानश्री के ग्रन्थों की समालोचना आदि के लिए आचार्य वाचस्पति और उदयनाचार्य के मध्य में सौ-डेढ़ सौ वर्ष का समय सामान्यतः अपेक्षित है जो कि ८९८ को विक्रम संवत्सर मानने पर ही सुलभ होता है। इस तथ्य की पुष्टि श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण[७], श्री गोपीनाथ कविराज[८], श्री सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता[९] के लेखों से भी होती है कि ८४१ ई० सन् अर्थात् ८९८ वि० सं० में वाचस्पति विद्यमान थे।

इस मन्तव्य को आचार्य वाचस्पति द्वारा निर्दिष्ट[१०] उनके आश्रयदाता महाराज नृग की स्थिति के निकष-ग्रावा पर चढ़ाकर परीक्षण किया जा सकता है किन्तु महाराज नृग का स्थिति काल स्वयं अन्धकार के गर्भ में निहित-सा है क्योंकि नृग नाम का कोई प्रसिद्ध नरपति मिथिला अथवा उसके आसपास का शासक था, इस विषय पर इतिहास मौन है। अतः नृग नाम की संगमनिका लोगों ने कई प्रकार से की है। कुछ विद्वानों ने नृग शब्द को यौगिक मानकर 'मनुष्यों का आश्रयदाता' अर्थ करके इससे धर्मपाल[११] नाम के राजा की ओर संकेत किया है। कुछ लोगों ने किसी अन्ध महाराजा के लिए नृग शब्द का प्रयोग माना है अर्थात् जो मनुष्यों के सहारे चलता हो, (नृभिर्गच्छतीति)। उस महाराजा की राजधानी को अन्धराठाढ़ी कहा जाता है। अन्धराठाढ़ी गाँव के पास ही तीन छोटे-छोटे तालाब हैं जिनके नाम 'नरही', 'बचही', 'मिसिराइन' प्रसिद्ध हैं। नरही का सम्बन्ध नृग से, बचही का वाचस्पति से और मिसिराइन का वाचस्पति की धर्मपत्नी से जोड़ा

जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि नृग नाम का महाराजा नेपाल में 'सिमरांवगढ़' का शासक था।[+] वाचस्पति मिश्र उसी के सभापण्डित थे।

आशय यह है कि वाचस्पति मिश्र का समय निश्चित करके ही उनके समय के किसी राजा को नृग नाम से संकेतित किया जा सकता है। नृग महाराजा के द्वारा किसी प्रकार का ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। अतः वाचस्पति मिश्र द्वारा समालोचित दार्शनिक विद्वानों के समय से ही सहायता लेना आवश्यक है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आचार्य वाचस्पति मिश्र के घोर समालोचक बौद्ध विद्वान् ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य के मध्य में आकर वाचस्पति के समय की उत्तरावधि के निर्णायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र द्वारा समालोचित विद्वान् इनकी पूर्वावधि के निर्णायक माने जा सकते हैं। आचार्य वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ में धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, धर्मोत्तर एवं शान्तरक्षित जैसे बौद्ध विद्वानों का निराकरण किया है।[१२] इनमें सबसे परवर्ती तत्त्वसंग्रह के रचयिता आचार्य शान्तरक्षित माने जाते हैं। इनका समय विद्वानों ने आठवीं शताब्दी निश्चित किया है।[१३] अतः उस शताब्दी के पश्चात् नवम शताब्दी में ही आचार्य वाचस्पति मिश्र की स्थिति मानी जा सकती है।

विद्यास्रोत

वाचस्पति मिश्र ने त्रिलोचनाचार्य को अपना गुरु लिखा है[१४] और उनके विषय में लिखा है कि उन्होंने न्यायमञ्जरी[१५] नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। अतः कहा जा सकता है कि त्रिलोचनाचार्य उनके विद्यागुरु तथा न्यायमञ्जरी के रचयिता थे। श्री उदयनाचार्य ने भी तात्पर्य-परिशुद्धि के आरम्भ में त्रिलोचनाचार्य को वाचस्पति मिश्र का गुरु बताया है।[१६] किन्तु त्रिलोचनाचार्य का इस समय कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जयन्त भट्ट की 'न्यायमञ्जरी' निश्चित रूप से त्रिलोचनाचार्य की 'न्यायमञ्जरी' से भिन्न है क्योंकि इसमें आचार्य वाचस्पति का मत उद्धृत है*। अतः जयन्त भट्ट की 'न्याय-मञ्जरी' आचार्य वाचस्पति मिश्र के पीछे की रचना है। यहाँ एक बात अवश्य ही विचारणीय है कि त्रिलोचनाचार्य की न्यायमञ्जरी का ज्ञान जयन्त भट्ट को रहा होगा या नहीं। यदि रहा होगा तो अपनी इस रचना का वही नाम क्यों रखा? प्रायः विद्वान् अपनी रचनाओं को नया नाम प्रदान किया करते हैं, जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो। इससे ज्ञात होता है कि जयन्त भट्ट को त्रिलोचनाचार्य की न्यायमञ्जरी का ज्ञान नहीं था। न्याय का एक उद्भट ग्रन्थकार अपने पूर्वाचार्यों की कृति से अनभिज्ञ हो, यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। ज्ञानश्री द्वारा आलोचित त्रिलोचनाचार्य की 'न्यायमञ्जरी' के स्थल जयन्त की 'न्यायमञ्जरी में उपलब्ध नहीं होते और जयन्त की न्यायमञ्जरी ज्ञानश्री की पहली दृष्टि से कैसे बच गई? इस प्रकार 'न्यायमञ्जरी' की समस्या इस समय न्याय की एक जटिल ग्रन्थि बन गई है। जयन्त भट्ट के पुत्र द्वारा विरचित 'आगमडम्बर' नाम के नाटक से उसका समय वाचस्पति मिश्र के कुछ पश्चात् ठहरता है। बहुत सम्भव है कि काश्मीर और मिथिला के सुदूर प्रान्तों में रहने वाले

न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् एक दूसरे की रचना-राशि से अपरिचित होते हुए अपने ग्रन्थों की रचनाएँ करते चले गए हों।

जयन्त भट्ट और आचार्य वाचस्पति मिश्र का परस्पर परिचय रहा हो अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जयन्त भट्ट को आचार्य वाचस्पति मिश्र का गुरु मानना[१७] किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। अतः यह निश्चित है कि आचार्य वाचस्पति के गुरु त्रिलोचनाचार्य थे और उनकी 'न्यायमञ्जरी' जयन्त की 'न्यायमञ्जरी' से भिन्न थी।

वाचस्पति मिश्र का चतुरस्र वैदुष्य उनके विशाल विद्यास्रोत का साक्षी है। आचार्य त्रिलोचन को छोड़कर आचार्य वाचस्पति मिश्र के विद्यास्रोत का विशेष पता नहीं लगता। त्रिलोचनाचार्य यदि वेदान्ती भी थे तो उनको मण्डन मिश्र के सम्प्रदाय का वह प्रकाश-स्तम्भ मानना होगा जिससे आचार्य वाचस्पति मिश्र की अन्तरात्मा सर्वथा विभासित थी। पक्षान्तर से वाचस्पति मिश्र का अन्य कोई मण्डन-सम्प्रदाय-दीक्षित शिक्षक मानना होगा। इस प्रकार सांख्य, योग आदि के विषय में भी कहा जा सकता है। व्याकरण, काव्य, कोश में प्रवीण विद्वान् अपने स्वयं श्रम से विविध विद्याओं का उपार्जन कर सकते हैं, किन्तु उसका उपार्जन साम्प्रदायिकता से बहिर्गत-सा झलकता रहता है। मीमांसाशास्त्र का स्वयं अनुशीलन कर एक ग्रन्थकार ने मीमांसा के पारिभाषिक शब्द 'विद्वद्वाक्य'[१८] का असाम्प्रदायिक अर्थ कर डाला है। किन्तु वाचस्पति मिश्र की यह अनुपम विशेषता है कि उनके ग्रन्थ में कहीं भी असाम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं है। उनका पूरा वाङ्मय साम्प्रदायिक गरिमा और भावगाम्भीर्य-सुलभ-समूर्जा से ओत-प्रोत है। उनके समय असाम्प्रदायिक तत्त्वों के मस्तक पर अनुपासितगुरुता का भयंकर कलंक लगा दिया जाता था। कुछ दिनों के पश्चात् वही उपाधि गाली के रूप में परिणत हो गई थी। इस प्रकार इस तथ्य पर पहुँच जाना अत्यन्त स्वाभाविक है कि विभिन्न सम्प्रदायसिद्ध गुरु या गुरुजनों से ही उन्होंने विधिपूर्वक ज्ञान, विज्ञान और संज्ञान की प्राप्ति की थी।

साहित्य-सर्जन क्रम में सर्वप्रथम 'न्यायकणिका' का उल्लेख[१९] वाचस्पति मिश्र ने किया है। 'न्यायकणिका' के आरम्भ में 'न्यायमञ्जरी' के तरुवर गुरुजन को नमस्कार करने का क्या तुक ? 'न्यायमञ्जरी', 'कोई न्यायरत्न', 'न्यायमाला', 'न्यायप्रकाश' के समान मीमांसा का ही ग्रन्थ होगा और उसके रचयिता कोई मीमांसाचार्य रहे होंगे, यह कहना कदापि सम्भव नहीं क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि बौद्ध विद्वान् ज्ञानश्री ने त्रिलोचनाचार्य की जिस 'न्यायमञ्जरी' का उद्धरण और निराकरण प्रस्तुत किया है, वह न्याय का ही ग्रन्थ था, मीमांसा का नहीं। फिर मीमांसा-प्रकरण के आरम्भ में न्याय के आचार्य का उल्लेख यह सिद्ध कर रहा है कि वही न्यायाचार्य मीमांसा के भी उपदेक थे किन्तु उनके ऐश्वर्य से न्याय-क्षेत्र जितना जाज्वल्यमान हो रहा था उतना मीमांसाप्रांगण नहीं। मीमांसा-जगत् में भाट्ट (कुमारिल) क्षेत्र ही ऐसा है जो कि मण्डन सम्प्रदाय से परिरक्षित और परिवर्द्धित था। मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' ग्रन्थ का निर्माण किया था विध्यर्थ का निरूपण करने के लिए। उसी पर 'न्याकणिका' व्याख्या वाचस्पति ने लिखी। 'विधि-विवेक' पर 'न्यायकणिका' के निर्माण में बहुत सावधानी बरती गई है। ऐसा नहीं

लगता कि वह किसी विद्वान् का प्रथम प्रयास है। अतः इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व उनके द्वारा अध्ययन-अध्यापन की दीर्घकालिकता तथा पुष्कलता से सभी दार्शनिक तत्त्वों का मंथन किया जा चुका था।

विद्यास्रोत का उद्गम-स्थल गुरुजनों के पश्चात् सुहृत्प्राप्ति[२०] माना जाता है। इस दृष्टि से भी वाचस्पति मिश्र का विद्यास्रोत सम्पन्न और प्रभावशाली था। आचार्य वाचस्पति मिश्र के जीवन की यह महती विशेषता थी कि उनका विद्यास्रोत उभयदृष्टि से सम्पन्न था। इसलिए पूरा दार्शनिक क्षेत्र उनकी अभिनव देनों के द्वारा पुनर्जीवित और समृद्ध हो गया था। उद्योतकर का रचना-प्रवाह अत्यन्त जीर्ण और शुष्कप्रायः हो चला था। उसे नवजीवन प्रदान करते समय वाचस्पति मिश्र कह उठे थे, मैं पुण्य कर रहा हूँ—

"उद्योतकरगवीनां मतिजरतीनां समुद्धरणात्"

अर्थात् उद्योतकराचार्य की वाग्रूपी गौ का जीर्णता के दलदल से उद्धार किया। निश्चित रूप से यह बड़े पुण्य का कार्य सम्पन्न हो गया। जैसे गंगा के क्षीण प्रवाह को मार्ग में पड़ने वाले स्रोतों से सम्पन्न और समृद्ध किया जाता है, इसी प्रकार 'भामती' के प्रखर विपुल स्रोत ने शांकरभाष्य की तरंगिणी को नया रूप, अद्भुत बल तथा विस्तृत प्रभाव प्रदान किया, भले ही वह अपने को पवित्र करने का बहाना[२१] लेकर इसमें मिला हो। आशय यह है कि जिस प्रकार हिमाद्रि का विशाल वक्षःस्थल विविध मेघमालाओं से जल-धाराएँ प्राप्त कर और उन्हें एक विशाल रूप देकर महानद के रूप में प्रवाहित कर विस्तृत समतल क्षेत्रों को आप्लावित किया करता है, इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र के विशाल मस्तिष्क ने विविध विद्या-स्रोतों से विचार-धाराएँ (ज्ञानधाराएँ) प्राप्त कर सम्पूर्ण दर्शन के विशाल वक्षःस्थल-क्षेत्र को आप्लावित कर दिया था। उनकी उदग्र, प्रांजल, गहन और अश्रान्त लेखनी की समता प्राप्त करने का साहस आज तक कोई लेखनी नहीं कर पायी है।

वैदुष्य

किसी विद्वान् का वैदुष्य उसकी भाषा-शैली के सौष्ठव एवं भाव-गाम्भीर्य से निखरा करता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने समग्र दर्शनों को अनुपम व्याख्या से ही विभूषित नहीं किया अपितु सभी दर्शन-क्षेत्रों को अपनी प्रांजल व अभिनव भाषा-शैली से हरे-भरे लता-मण्डप का वह रूप प्रदान किया जिसकी शीतल छाया में आज भी प्रत्येक सन्तप्त जिज्ञासु मनीषी विश्रान्ति और नवस्फूर्ति प्राप्त करता है। उदाहरण के रूप में भाषा-शैली के कुछ स्थल प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(१) प्रतिभासमानता मात्र ही वस्तु सत्ता है—इस पर आपत्ति करते हुए वाचस्पति ने लिखा है—"तथा सति मरुषु मरीचिचयमुच्चावचम् उच्चलत्तुंगतरंगभंगमालेयमभ्यर्णमवतीर्णा मन्दाकिनी इत्यभिसंधाय प्रवृत्तस्तत्तोयमापीयापि पिपासामुपशमयेत्।"[२२] अर्थात् वस्तु के प्रतिभासमान = प्रतीयमान = प्रतीतिसमारूढ़ आकार को ही यदि सत् माना जाए तब मरुमरीचि में प्रतीयमान और उछलती हुई तरंगों वाले

प्रतीयमान जलाशय की सत्ता माननी पड़ेगी, तब उसमें अवगाहन करने और उसमें से जल की कुछ अंजुलियां पान करने से मानव का सन्ताप और तृषा दूर हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः प्रतीयमान मात्र को वस्तुसत्ता नहीं कहा जा सकता।

(२) ब्रह्मसाक्षात्कार की संस्कारिता की सम्भावना के लिए पूर्वपक्षी कहता है—"मा भूद् ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पाद्यादिरूपः उपासनायाः, संस्कार्यस्तु अनिर्वचनीया-नाद्यविद्याद्वयापिधानापनयनेन भविष्यति, प्रतिसीरापिहिता नर्तकीव प्रतिसीरापनयद्वारा रंगव्यापृतेन"[२३]

अर्थात् 'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य-प्रतिपादित अवघात एक ऐसा संस्कारकर्म है जिसके द्वारा धान्य का तुष दूर हो जाता है और तण्डुल अनावृत हो जाते हैं, वैसे ही उपासना का एक ऐसा संस्कार कर्म है जिसके द्वारा ब्रह्म के दोनों आवरणों (मूलाविद्या एवं तूलाविद्या) का अपसारण हो जाता है तथा अनावृत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अतः उपासना में संस्कार्यकर्मता ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति बहुत सम्भावित है। अथवा इसे यूं भी कहा जा सकता है—किसी रंगशाला का द्वार दो पर्दों से ढका है—दोनों पर्दों के उठते ही नर्तकी का साक्षात्कार होता है, दर्शक मुग्ध और कृतकृत्य हो जाते हैं क्योंकि बहुत दिनों से जिसकी यशोगाथा सुनते आए थे, जिसके रूप-लावण्य का चिन्तन अन्तः-स्थल पर खेला करता था, जिसकी दिदृक्षा सीमा पर पहुंच चुकी थी, उसका मोहक रूप सामने आने पर किस दिदृक्षु का हृदयपुण्डरीक न खिल उठेगा।

(३) लौकिक या वैदिक रूप अर्थ में ही पदों की शक्ति का ग्रहण होता है, इस प्रकार के आग्रह से भरे हुए हठीले प्रभाकर का मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए एक ऐसा महावाक्यरूपी ब्रह्मास्त्र प्रस्तुत किया जाता है जिसके सामने उसे नमतस्तक होकर यह मान लेना होगा कि इस वाक्य में न तो किसी कार्यार्थक तव्य, लिङ्, लोट् आदि का प्रयोग किया गया है और न यहां कोई कार्यार्थ विद्यमान है, अपितु पूरे का पूरा सिद्धार्थ-निकरपारावार प्रस्तुत किया जाता है—"आखण्डलादिसिद्धविद्याधरगन्धर्वाप्सरःपरिवारो ब्रह्मलोकावतीर्णमन्दाकिनीपयःप्रवाहपातधौतकलधौतमयशिलातलो नन्दनादिप्रमदवनवि-हारिमणिमयशकुन्तकमनीयनिनदमनोहरः पर्वतराजः सुमेरुः"[२४]

पर्वतराज सुमेरु का पौराणिक वर्णन कितना मनोहर है। गिरि-सम्राट् वह सुमेरु पर्वत है जिस पर महेन्द्रादि लोकपाल व देवतागण निवास करते हैं, जो सिद्ध विद्याधर, गन्धर्व एवं अप्सराओं के परिवार से परिपूर्ण है, जिसकी शिलाएं ब्रह्मलोक से अवतीर्ण मन्दाकिनी के विमल प्रवाह से धुलकर सुवर्णिम आभा लिए दर्पण के समान चमक रही हैं, जिस पर नन्दनवन जैसे अनुपम उद्यानों में बहुवर्ण की मणियों से परिपूर्ण पक्ष वाले पक्षिगण मनोहर कलरव कर रहे हैं।

(४) "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति"[२५]—इस श्रुतिवाक्य का रहस्य समझाने के लिए कितना अच्छा उदाहरण उपस्थित किया जाता है—"यथा चिरंतननिरूढनिबिडमलपिहितानां कलधौतशकलानां पथि पतितानामुपर्युपरि संचरद्भिरपि पान्थैर्धनायद्भिरप्रविखण्डनिवहविभ्रमैर्मैतानि नोपादीयन्ते"[२६]

अर्थात् बहुत दिनों से जमे हुए मैल से कलुषित सुवर्ण से परिपूर्ण भूमि पर परि-

भ्रमणरत धनाभिलाषी मनुष्य सुवर्ण के खण्डों को पत्थर के निकम्मे टुकड़े समझकर हाथ नहीं डालता उसी प्रकार मुमुक्षुगण अपनी चिराभिलषित धनराशि से परिपूर्ण धराधाम पर विचरण करते हुए भी अपनी निधि से अनभिज्ञ रहते हैं।

(५) अन्वयव्यतिरेकगर्भित युक्ति के आधार पर शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है—"यथा खल्वयं चैत्रस्तारक्षवीं व्यात्त-विकटदंष्ट्राकरालाननामुत्तब्धबम्भ्रमन्मस्तकावचुम्बिलांगूलामतिरोषारुणध्वस्तविशालवृत्त-लोचनां रोमांचसंचयोत्फुल्लभीषणां स्फटिकाचलभित्तिबिम्बितामभ्यमिश्रीणां तनुमास्थाय स्वप्ने प्रतिबुद्धो मानुषीमात्मनस्तनुं पश्यति तदोभयदेहानुगतमात्मानं प्रतिसंदधानो देहातिरिक्तमात्मानं निश्चिनोति।"[२७]

(६) परमेश्वर की जगद्रचना एक क्रीडामात्र है जिसे वह बिना किसी प्रकार के श्रम के अनायास कर डालता है—इस सिद्धान्त को सुदृढ़ करने के लिए पुराणों से लेकर अपने समय तक के उदाहरण मिश्र जी प्रस्तुत करते हैं—"दृष्टं च यदल्पवीर्यबुद्धी-नामशक्यमतिदुष्करं वा तदन्येषामनल्पबलवीर्यबुद्धीनां सुशकमीषत्करं वा। न हि वानरैर्मारुतिप्रभृतिभिर्नगैर्न बद्धो नीरनिधिरगाधो महासत्त्वानाम्। न चैष पार्थेन शिलीमुखैर्न बद्धः। न चायं न पीतः संक्षिप्य चुलुकेन हेलयैव कलशयोनिना महामुनिना। न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रविनिर्मितानि महाप्रासादप्रमदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्"[२८]

अर्थात् जिस काम को एक शक्तिहीन दीन मानव नहीं कर पाता उसे शक्ति-सम्पन्न सक्षम महापुरुष सहज में कर डालता है, अगाध महोदधि, जिस पर सेतुबन्ध की रचना एवं उसके पी जाने का सामर्थ्य साधारण मानव में न होने पर भी, क्या हनुमान् जैसे महापराक्रमी, अर्जुन जैसे महाबली पुरुषपुंगवों के द्वारा वह नहीं बांधा गया और अगस्त्य जैसे महर्षियों ने क्या उस सागर को चुल्लुओं से नहीं पी डाला? आज भी यह देखने में आता है कि अन्य स्वल्पबलवीर्य वाले राजाओं के द्वारा असाध्य कार्य अपार पौरुष एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न महाराज नृग के द्वारा सहज में ही सुसम्पन्न कर डाले जाते हैं, वैसे ही साधारण मानव द्वारा जगत् की रचना सोची भी नहीं जा सकती। किन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इसे अनायास कर डालते हैं।

(७) "भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" (तै० २।८)—इस श्रुति का आशय स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"इतरथाऽतिचपलस्थूलबलवरकल्लोलमालाकलितो जलनिधिरिलापरिमण्डल-मवगिलेत्। बडवानलो वा विस्फूर्जितज्वालाजटिलो जगद्भस्मसाद् भावयेत्। पवनः प्रचण्डो वाऽकाण्डमेव ब्रह्माण्डं विघटयेत्।"[२९]

अर्थात् वह ब्रह्माण्डाधिनायक परमेश्वर जगत् की प्रत्येक इकाई को अपनी मर्यादा और सीमा में जकड़ कर रखता है, नहीं तो पृथ्वी-मण्डल से कई गुणा अधिक महासागर कभी भी ज्वार-भाटा के समय अपनी विकराल जलतरंगों से पृथ्वी-मण्डल को डुबा देता, उससे भी अधिक प्रचण्ड बडवानल की धधकती ज्वालाएँ कभी भी ब्रह्माण्ड को भस्मसात् कर देतीं और अत्यन्त बलवेगशाली पवन के झकोरे विश्व को झकझोर

कर रख देते। अतः मानना होगा कि ईश्वर के भय से प्रत्येक भूत अपनी मर्यादा में सीमित और केन्द्रित है।

(८) वस्तु-साक्षात्कार किसी प्रकार की भावना, तर्क या कल्पना पर निर्भर नहीं रहा करता। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार में किसी प्रकार की अविरल चिन्तना या भावनामयी प्रज्ञा का उपयोग सम्भव नहीं। इस तथ्य का विशदीकरण लोक-प्रसिद्ध निदर्शन के द्वारा किया जाता है—

"न खल्वनुमानविबुद्धं वह्निं भावयतः शीतातुरस्य शिशिरभरमन्थरतरकायकाण्डस्य स्फुरज्ज्वालाजटिलानलसाक्षात्कारः प्रमाणान्तरेण संवाद्यते।"[२०]

अर्थात् चिन्तामयी प्रज्ञा की अभिव्यक्ति भावना के सन्तत प्रवाह की देन अवश्य है किन्तु उसका स्वरूप साक्षात्कार जैसा नहीं होता, कोई शीतपीड़ित दन्तवीणाप्रवीण प्राणी अग्नि के निरन्तर चिन्तन-मात्र से शरीर के शैत्य निवारण में सक्षम वह्नि-साक्षात्कार को प्रकट नहीं कर सकता। ठीक इसी प्रकार जिस ज्ञानाग्नि से सभी कर्म भस्मसात् हो जाते हैं, समस्त बन्धन प्रक्षीण हो जाते हैं तथा मोक्षपद का लाभ होता है, उसकी उत्पत्ति किसी प्रकार की भावना, चिन्तना, उपासनामन्त्र से सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप है और उस ब्रह्म को उत्पन्न करने का साहस किसी प्रकार के कर्म में सम्भव नहीं, क्योंकि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव-ब्रह्म का निर्माण क्या कभी घटपट के समान किसी कर्म से हो सकता है?

(९) 'भामती' के समान ही मिश्र जी की अन्य रचनाओं का सम्पूर्ण वाङ्मय-कलेवर ललित सूक्तियों से अलंकृत पाया जाता है, उनके प्रदर्शन से अनपेक्ष्य लेख-विस्तार के भय से केवल एक 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का वाक्य उद्धृत कर इस प्रसंग को पूर्ण किया जाता है।

सांख्य-सम्मत प्रकृति की सुकुमारता एवं तत्त्वद्रष्टा पुरुष के प्रति प्रकृति की अप्रवृत्ति का उदाहरण रखा गया है—

"असूर्यम्पश्या हि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद् विगलितशिरोऽञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण, तदाऽसौ तथा प्रयतते, अप्रमत्तां यथैनां पुरुषान्तराणि न पुनः पश्यन्ति।"[२१]

अर्थात् जैसे कि विशाल महलों की ऊँची चारदीवारी के घेरे में रहने वाली कुलवधू कभी बाहर निकलती है, लजीले नेत्रों को पैरों के पास की धरती पर गड़ाये सकुचाती-सी बहुत मन्द गति से जा रही है। प्रमादवश या उद्धत वायु की चपल हिलोर से घूंघट-पट कुछ खुल जाता है और किसी पुरुष की दृष्टि मुखमण्डल पर पड़ जाने का आभास जैसे ही होता है, वैसे ही इतनी सजग और सावधान होकर चलती है कि फिर वह पुरुष कभी भी उसका दर्शन नहीं कर पाता।

कथित सूक्तियों की चर्चा से यह परिस्फुटित हो जाता है कि वाचस्पति मिश्र की भाषा-शैली अत्यन्त संयत, मनोरम, प्रायः वैदर्भी तथा गौड़ी रीति का मिश्रित सम्पुट लिए विमल-प्रवाह-जाह्नवी के समान समस्त दार्शनिक क्षेत्र को उर्वरता और शाद्वलता प्रदान करती हुई प्रवाहित होती है। इनकी भाषा पर स्पष्ट रूप से आचार्य मण्डन मिश्र,

योगभाष्यकार व्यास, भाष्यकार शंकर तथा आचार्यवर पतंजलि की भाषा का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। केवल भाषा-शैली में ही यह प्रांजलता नहीं, भावगाम्भीर्य भी अत्यन्त श्लाघनीय है।

जैसा कि कृतियों में परिचय के अन्तर्गत बतलाने का प्रयास किया जाएगा कि सर्वप्रथम मिश्र जी ने मीमांसा का उपवन इसलिए सँवारा क्योंकि उसके सौरभ से सभी दर्शन सुरभित बने हुए हैं। इसीलिए कुमारिल भट्ट ने मीमांसा विद्या को अन्य विद्याओं का उपष्टम्भक, पोषक माना है।[३२] सभी दर्शनों की दृढ़ता का सूत्रपात वहीं होता है। पश्चात्तन सभी रचनाओं में मिश्र जी 'न्यायकणिका' को उद्धृत करते चले गए हैं।[३३] विपक्षिगणों के आक्षेप भी अधिक इसी अंग पर हुए हैं। इस अंग को मूर्च्छित करने का प्रयास इसीलिए उनका रहा है कि इसके भावों की अखण्डनीय शक्ति से दूसरे दर्शन संचालित बने हुए हैं। 'भामती' जैसी भावी कृतियों का आधार 'न्यायकणिका' में ही मिश्र जी की भविष्याभिज्ञता से निहित एवं निश्चित हो चुका था जिसका निर्देश स्पष्ट रूप से वे 'भामती' टीका में विषयों का पतिपादन करते हुए कर देते हैं।

(१) जैसाकि प्रभाकर की ओर से जो यह कहा गया था कि किसी ज्ञान को मिथ्या विषय-व्यभिचारी मानने पर सभी ज्ञानों पर से मनुष्य का विश्वास उठ जाएगा और ज्ञान-मूलक व्यवहार विलुप्त हो जाएगा, उस कथन का निराकरण स्वतःप्रामाण्यव्युत्पादन के समय 'न्यायकणिका' में विस्तृत रूप से किया गया है।[३४]

(२) 'सामान्यतोदृष्टं वा' के द्वारा जगत्कर्त्ता ब्रह्म का अनुमान जो तार्किक लोग किया करते हैं उसका परीक्षण और निराकरण 'न्यायकणिका' में कर दिया गया है।[३५]

(३) तार्किमतसम्मत शब्द की अनित्यता और अस्थिरता का निराकरण 'न्यायकणिका' में पर्याप्त रूप से किया जा चुका है।[३६] अब उस पर यहाँ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार 'न्यायकणिका' में विवादास्पद विषयों पर विचार करते हुए मिश्र जी इतनी गहराई में चले गए हैं कि अन्यत्र उसपर सोचे-समझे बिना पूर्वचर्चा का उद्धरण मात्र देकर उसे छोड़ देते हैं।

इसी भाँति 'तात्पर्यटीका' में स्थान-स्थान पर भावगाम्भीर्य का दर्शन होता है। 'भामती' तो उनकी अन्तिम कृति होने से उन्हें सबसे अधिक बढ़कर प्रियतमा रही होगी। उसमें सभी बातों को अन्तिम रूप दे दिया गया है जिसके ऊपर कुछ अधिक कहने का साहस आज तक किसी विद्वान् ने नहीं किया।

कृतियाँ

'भामती' के अन्त में वाचस्पति मिश्र ने अपनी कृतियों का उल्लेख किया है।[३७] तदनुसार इनके लिखे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) न्यायकणिका

(२) ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा

(३) तत्त्वबिन्दु

(४) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
(५) न्यायसूचीनिबन्ध
(६) सांख्यतत्त्वकौमुदी
(७) तत्त्ववैशारदी
(८) भामती।

(१) न्यायकणिका (मीमांसा)

जैमिनि (लगभग २०० ई० पू०) के मीमांसा-सूत्रों पर भर्तृमित्र[३८], हरि तथा भावदास[३९], हरि तथा उपवर्ष (शास्त्रदीपिका में उल्लेख)[४०] ने टीकाएँ लिखीं। शबरस्वामी (०५७ ई० पू०)[४१] ने भाष्य लिखा। यही भाष्य परवर्ती मीमांसा-कृतियों का आधार बना। इस पर एक अज्ञातनामा लेखक ने, जिसे कि प्रभाकर ने वार्तिककार कहकर पुकारा है तथा कुमारिल ने जिसका 'यथाहुः' कहकर उल्लेख किया है, शाबर-भाष्य पर टीका लिखी। डॉ गंगानाथ झा के अनुसार[४१] शाबर-भाष्य पर प्रभाकर ने जो 'बृहती' नामक टीका लिखी है, वह इसी वार्तिककार की कृति पर आधारित है। 'बृहती' पर शालिकनाथ मिश्र ने 'ऋजुविमला' टीका लिखी। कुमारिल भट्ट ने शाबर-भाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद पर 'श्लोकवार्तिक' तथा प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से तृतीय अध्यायान्त भाष्य पर 'तन्त्रवार्तिक' टीकाएँ लिखीं। शेष अध्यायों पर 'टुप टीका' लिखी। मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' तथा 'मीमांसानुक्रमणी' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। उन्होंने तन्त्रवार्तिक पर भी टीका लिखी है।

मण्डन मिश्र ने 'विधिविवेक' ग्रन्थ की रचना-विधि के स्वरूप का निर्णय करने के लिए की है जैसाकि स्वयं उन्होंने आरम्भ में प्रतिज्ञा की है—

"साधने पुरुषार्थस्य संगिरन्ते त्रयीविदः।
बोधं विधौ समायत्तमतः स प्रविविच्यते ॥"

इस ग्रन्थ पर वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायकणिका' नाम की व्याख्या लिखी है। यह व्याख्याग्रन्थ वाचस्पति मिश्र की समस्त रचनाओं में प्रथम स्थानाभिषिक्त माना जाता है। पूर्वमीमांसा विषय पर सर्वप्रथम लेखनी उठाने का भी एक विशेष तात्पर्य है। कोई ऐसा भारतीय दर्शन नहीं जिसमें मीमांसा का अवलम्बन न लिया गया है। कुमारिल भट्ट ने भी लिखा है—

"मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता।"

अतः समस्त दर्शन जिस शक्ति से शक्तिमान् बने हों उस शक्ति का संचय परमावश्यक था। दूसरी एक बात यह भी हो सकती है कि मण्डन मिश्र की प्रांजल भाषा-शैली का अभ्यास करना आवश्यक था। इसका प्रभाव उनकी समस्त रचनाओं में अबाध रूप में परिलक्षित होता है।

वाचस्पति मिश्र ने अपनी कृतियों में जैसे 'न्यायकणिका' का उल्लेख किया है वैसे 'न्यायकणिका' में अपनी किसी अन्य कृति का उल्लेख नहीं किया। इसी से निश्चित

होता है कि यह उनकी प्रथम कृति है। उन्होंने अपनी इस प्रथम रचना को सोच-समझकर रच-पचकर बनाने का प्रयत्न किया है। जैसे शब्द-शैली में मण्डन मिश्र, योगभाष्यकार की उन्नत भाषा-शैली को अपनाया वैसे ही काव्य-शैली के लिए कालिदास का अनुकरण करते हुए शिखरस्य काव्य-शैली चुनी। उसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

भुवनभवनस्थेम-ध्वंस-प्रबन्धविधायिने
भवभयभिदे तुभ्यं भेत्रे पुरां तिसृणामपि।
क्षितिहुतवहक्षेत्रज्ञाम्भः प्रभंजनचन्द्रमस्-
तपनवियदित्यष्टौ मूर्तौ नमो भवबिभ्रते॥[४२]

वाचस्पति के इन शब्दों में कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम मंगल-श्लोक का भाव प्रतिबिम्बित है।[४३]

वाचस्पति ने गहन दार्शनिक सिद्धान्तों को लोकोक्तियों के द्वारा सुगम बनाने का मार्ग अपनाया है। अत्यन्त प्रेमास्पद एवं कमनीय वस्तु के ग्रहण में अभ्यासवृत्ति की हेतुता स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"श्वश्रूरेकेन गवाक्षेण वीक्ष्य जयामातारमपरेण वीक्षते प्रीतिविशेषादिति।"[४४]

वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या में केवल प्रतिपाद्य प्रमेय-राशि का विशदीकरण ही नहीं किया अपितु प्रसंगतः मतान्तरों की सजीव शब्दों में गम्भीर आलोचना भी प्रस्तुत की है तथा कुछ मुख्य सिद्धान्त स्थिर किये हैं जिनका अपनी पश्चाद्भावी 'भामती' जैसी रचनाओं में वे पुष्कल उद्धरण देते चले गए हैं।[४५] 'न्यायकणिका' के उन सिद्धान्तों का खण्डन बौद्ध दर्शन के उद्भट विद्वान् ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति (दशम शताब्दी पूर्वार्द्ध)+ ने अपनी निबन्धावलियों में किया है। वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायकणिका' में प्रभाकर मत की मण्डन मिश्र से भी बढ़-चढ़कर तीखी आलोचना की है। स्थान-स्थान पर 'प्रकरण-पंचिका', 'ऋजु विमला' एवं 'बृहती' के तथाकथित सिद्धान्तों को उन्हीं शब्दों में रखकर निरस्त किया है।

किसी भी विषय पर लिखते समय मिश्र जी की दृष्टि अपने दर्शन-परिवार से लेकर बाहर के दार्शनिक परिवारों पर बराबर बनी रहती है। अतः 'न्यायकणिका' जैसे प्राकरणिक, एकांगी विषय के निरूपण में भी जरत् प्रभाकर से लेकर दिङ्नाग, धर्म-कीर्ति-पर्यन्त सभी दार्शनिकों की आलोचना कर डाली है।[४६]

'न्यायकणिका' के आरम्भ में अपने गुरु की 'न्यायमञ्जरी' नाम की रचना का उल्लेख[४७] किया है। अतः इनके विद्यागुरु त्रिलोचनाचार्य ने न्यायमञ्जरी नामक कोई ग्रन्थ रचा था—यह प्रतीत होता है। जयन्त भट्ट की 'न्यायमञ्जरी' से यह 'न्याय-मञ्जरी' भिन्न थी जो अभी तक उपलब्ध नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायकणिका' के आरम्भ में विष्णु और शंकर दोनों की समान रूप से वन्दना की है; अतः ये शैव या वैष्णव की मान्यता की कट्टरता से परे प्रतीत होते हैं, जैसाकि प्रायः विद्वानों की उनके लिए शैव होने की धारणा प्रचलित है।[४८]

'न्यायकणिका' की रचना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समन्वयरूप इसी रचना की वेदिका पर बैठकर वाचस्पति मिश्र ने समग्र दार्शनिक स्वाध्याययज्ञ का अनुष्ठान कर दार्शनिक साम्राज्य की प्राप्ति की हो।

(२) ब्रह्मतत्त्व समीक्षा

आचार्य मण्डन मिश्र (४०० ई०)[४९] की 'ब्रह्मसिद्धि' पर यह एक सफल टीका है। वाचस्पति मिश्र ने इसकी रचना न्यायकणिका के अनन्तर की थी जैसाकि 'भामती' में उन्होंने अपनी रचनाओं का क्रम प्रस्तुत किया है।[५०] दुर्भाग्य से यह टीका उपलब्ध नहीं है। इसका पता केवल वाचस्पति के स्वनिर्मित अन्य ग्रन्थों में प्रदत्त उद्धरणों से लगता है।[५१] 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' और 'न्यायकणिका' जैसी प्रमेय-बहुल व्याख्याओं के रचयिता होने के कारण ही वाचस्पति मिश्र को कुछ विद्वानों ने 'मण्डनपृष्ठसेवी' कह डाला है।[५२]

(३) तत्त्वबिन्दु

आचार्य मण्डन मिश्र के रचनानुक्रम का सम्भवत: अनुगमन करते हुए मण्डन मिश्र की 'विधिविवेक' और 'ब्रह्मसिद्धि' पर क्रमश: व्याख्याएँ लिखकर उनकी तीसरी रचना 'स्फोट-सिद्धि' पर मिश्र जी व्याख्या लिखना चाहते थे किन्तु 'स्फोट-सिद्धि' में प्रतिपादित सिद्धान्तों से वैमत्य होने के कारण स्फोट सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए कुमारिल भट्ट के मतवाद को अपनाकर शाब्दबोध प्रक्रिया पर प्रकाश डालने के लिए 'तत्त्वबिन्दु' की रचना की। इस ग्रन्थ का पुरा नाम 'शब्दतत्त्वबिन्दु' परम्परा से प्रचलित है। अर्थात् शब्दमहोदधि का एक कण, एक बिन्दु इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

वेदान्त में 'व्यवहारे भाट्टनय:' की कहावत प्रचलित है। अत: 'तत्त्वबिन्दु' की प्रक्रिया भाट्टगामी[५३] होने पर भी वेदान्त-सम्मत कही जा सकती है। अत: आफरेष्ट की सूची[५४] में इस ग्रन्थ की गणना वेदान्त-ग्रन्थों में करना अधिक असंगत प्रतीत नहीं होता।

वस्तुत: मीमांसा-दर्शन के भाष्यकार शबर स्वामी ने शब्द के विषय में व्यवस्था दी है[५५] कि वक्ता के मुख से उत्पन्न ध्वनि से अभिव्यक्त होने वाला वर्णात्मक शब्द ही अर्थ का बोध कराता है। वर्ण उद्भवाभिभवशाली हैं, किसी वाक्यगत वर्णावली के पूर्व-पूर्व अभिव्यक्त वर्णों के संस्कार से संस्कृत अन्तिम वर्ण की उपलब्धि अर्थबोध कराती है। मीमांसा-वार्त्तिककार कुमारिल भट्ट ने उसी सिद्धान्त का दृढ़ीकरण अपने 'श्लोकवार्त्तिक' के शब्द-प्रकरण में बड़े ऊहापोह के साथ किया है। इन्हीं भाट्ट सिद्धान्तों का दिग्दर्शन तत्त्वबिन्दु में कराया गया है। स्फोटवाद का खण्डन भी शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट के मतानुसार ही किया गया है। भर्तृहरि, मण्डन मिश्र जैसे उद्भट आचार्यों द्वारा समुद्भावित स्फोटवाद वाचस्पति मिश्र को नहीं रुचा। अत: मण्डन मिश्र के लिए 'आचार्या:' जैसे सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग करते हुए भी 'दोषा वाच्या गुरोरपि' की तीखी कसौटी पर कसकर मण्डन मिश्र आदि का शब्द के विषय में खण्डन तत्त्वबिन्दु में किया गया है।

(४) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (न्याय)

अक्षपाद-प्रणीत न्याय-सूत्रों पर पक्षिल स्वामी का संक्षिप्त भाष्य है। उस भाष्य की बृहत्काय व्याख्या 'वार्त्तिक' उद्योतकर भारद्वाज ने लिखी। इसका महत्त्व दार्शनिकों में इतना बढ़ा कि उद्योतकर-सम्प्रदाय ही प्रसिद्ध हो गया। शान्तरक्षित जैसे प्रौढ़ बौद्ध नैयायिकों ने उद्योतकर की आलोचना करते हुए उनके प्रत्येक सिद्धान्त का खण्डन 'तत्त्वसंग्रह' में किया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उन सब खण्डनों का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए वार्त्तिक पर विशाल 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' की रचना की।[२६] इसी के नाम पर न्यायजगत् वाचस्पति मिश्र को टीकाकार या तात्पर्याचार्य के नाम से जानता है। इनके समय उद्योतकर की भाषा एवं भावों को समझना नितान्त कठिन हो गया था। स्वयं मिश्रजी ने ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥[२७]

बौद्धन्याय के साथ भयंकर संघर्ष करना इस टीका का प्रधान लक्ष्य था। यों तो सूत्रों से लेकर पूर्ण व्याख्यासम्पत्तिपर्यन्त न्यायदर्शन एक वह बड़ा अखाड़ा है जिसमें दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति, प्रभाकर जैसे वादि-वृषभों के साथ पूरे दाँव-पेच के साथ वैदिक नैयायिकों ने कई सौ वर्षों तक मल्लयुद्ध किया है। इनमें उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र का मौलिक महत्त्व है। यद्यपि इनके पूर्ववर्ती विश्वरूपाचार्य (वार्त्तिककार) एवं रुचिटीकार जैसे महत्त्वपूर्ण व्याख्या ग्रन्थकारों का निर्देश यत्र-तत्र मिलता है किन्तु उनके ग्रन्थों के इस समय उपलब्ध न होने के कारण उनके वैदुष्य के मूल्यांकन एवं वाचस्पति पर उनके प्रभाव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। वाचस्पति मिश्र के समकालीन आचार्य भासर्वज्ञ ने अपने 'न्यायभूषण' में बौद्धों और जैनों का प्रबल खण्डन किया है, किन्तु वाचस्पति मिश्र का खण्डन अपने ढंग का निराला है।

इस टीका का महत्त्व एवं गाम्भीर्य इसी बात से परिलक्षित हो जाता है कि महान् नैयायिक उदयनाचार्य इस पर 'तात्पर्य परिशुद्धि' नाम की व्याख्या आरम्भ करने से पहले स्खलन से बचने के लिए सरस्वती से प्रार्थना करते हैं[२८]—हे सरस्वति माँ! मैं बार-बार सांजलि प्रार्थना करता हूँ कि तू सजग—सावधान होजा—वाचस्पति के लेख की व्याख्या करते समय कहीं मैं फिसल न जाऊं। वाचस्पति के भावगर्भित सुन्दर पद-कदम्ब और उनका अर्थगाम्भीर्य मेरी पहुँच के परे न रह जाय।

'तात्पर्यटीका' में वाचस्पति मिश्र ने अपनी रचनाओं में से 'न्यायकणिका', 'तत्त्वबिन्दु', 'तत्त्वसमीक्षा' का उल्लेख किया है[२९] एवं 'भामती' के अन्त में अपनी रचनाओं का जो निर्देश[३०] किया है उसमें भी 'न्यायकणिका', 'तत्त्वबिन्दु', 'तत्त्वसमीक्षा' के बाद न्यायनिबन्ध (तात्पर्यटीका) का क्रम निर्देश है; अतः उनके पश्चात् ही 'तात्पर्य-टीका' की रचना हुई।

'तात्पर्यटीका' में वार्त्तिक की व्याख्या के अतिरिक्त भाष्य के उन दुरूह स्थलों

का विमलीकरण भी किया गया है जिन्हें वार्तिककार ने छोड़ दिया था। वार्तिककार की कई जगह आलोचना भी कर दी है।[११]

(५) न्यायसूचीनिबन्ध (न्याय)

न्यायसूत्रों का प्राकरणिक गुम्फन इस स्वल्पकाय ग्रन्थ में किया गया है। सम्भवतः मिश्र जी के समय न्यायसूत्रों की प्राकरणिक योजना विवादास्पद बन गई थी, अतः इस सूची की रचना करनी पड़ी। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण वह उल्लेख है जिसके आधार पर वाचस्पति मिश्र की ठीक-ठीक तिथि का ज्ञान होता है—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे ॥[१२]

यह उल्लेख वाचस्पति मिश्र के समय निर्धारण में किस प्रकार सहायक है—इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है।

(६) सांख्यतत्त्वकौमुदी (सांख्य)

'सांख्यतत्त्वकौमुदी' सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण (२०० ई० के लगभग)[१३] की सांख्यकारिकाओं पर महत्त्वपूर्ण एवं संक्षिप्त व्याख्या है। वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में प्राचीन सांख्यग्रन्थ 'राजवार्तिक' के कतिपय पद्यों का उल्लेख किया है।[१४] जयन्त भट्ट ने भी 'न्यायमञ्जरी'[१५] में लिखा है—"यत्तु राजा व्याख्यातवान् प्रतिराभिमुख्ये वर्तते तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमिति'।"[१६] यह उद्धरण भी 'युक्तिदीपिका' में विद्यमान है।[१७] अतः 'राजवार्तिक' नाम का कोई व्याख्या-ग्रन्थ अवश्य रहा होगा।

वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में अपनी 'न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका' का न केवल उल्लेख[१८] किया है अपितु उसकी पंक्तियों को भी उद्धृत किया है।[१९] अतः उन्होंने 'तात्पर्यटीका' की रचना के पश्चात् 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना की होगी।

(७) तत्त्ववैशारदी (योग)

योग-भाष्य के गम्भीर भावों को प्रकाशित करने के लिए 'तत्त्ववैशारदी' व्याख्या की रचना की गई। इस ग्रन्थ में 'न्यायकणिका' एवं 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' का उल्लेख है।[२०] 'तत्त्ववैशारदी' में वाचस्पति मिश्र ने ८४ आसनों की कलाबाजी का प्रदर्शन भले ही न किया हो, योग के गम्भीर प्रमेय और दार्शनिक पक्ष पर विशेष प्रकाश डाला है। व्याख्या के नामकरण से भी मिश्र जी ने यही भाव प्रकट किया है। योगशास्त्रसम्मत तत्त्वों का विशारदीकरण उसमें वैसे ही किया गया है जैसे ब्रह्मसिद्धि-प्रतिपादित तत्त्वों की समीक्षा उसकी व्याख्या 'तत्त्वसमीक्षा' में तथा सांख्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रकाश 'तत्त्वकौमुदी' में किया गया है। 'तत्त्ववैशारदी' का अध्ययन पाठक को बलात् यह अनुभव करा देता है कि योग तत्त्व का आचार्य-परम्परा-प्राप्त रहस्य उन्हें सुलभ था। 'योग-

वार्तिक' के रचयिता विज्ञानभिक्षु ने मिश्र जी के व्याख्यान की समालोचना स्थान-स्थान पर की है। 'योगवार्तिक' का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान-भिक्षु ने केवल पौराणिक उपदेशों के आधार पर मिश्र जी की आचार्य-परम्परा-प्राप्त विद्या को चुनौती दी है और यथार्थतः वाचस्पति मिश्र की मान्यताओं का निराकरण करने में वे असमर्थ ही रहे हैं। अप्रासंगिक होने से इसका प्रतिपादन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

(८) भामती (वेदान्त)

ब्रह्मसूत्रों के शांकरभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यद्यपि 'भामती' से पूर्व भी शांकरभाष्य पर शंकर के साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य 'पंचपादिका' नाम की टीका लिख चुके थे किन्तु वह केवल चतुःसूत्री-पर्यन्त ही है। अतः शांकरभाष्य के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए 'भामती' का अध्ययन अनिवार्य एवं अनुपेक्षणी है।

इस रचना के नामकरण के सम्बन्ध में कई प्रकार की किंवदन्तियाँ हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार वाचस्पति मिश्र अध्ययन लेखन में इतने तल्लीन रहे कि घर-गृहस्थी का ध्यान ही न रहा, वृद्धावस्था के द्वार तक जा पहुँचे किन्तु अपनी पत्नी (भामती) की कभी खोज-खबर ही न ली। एक दिन प्रसंगवश पत्नी के द्वारा सन्तानहीनता की शिकायत करने पर उन्होंने कहा कि जब अब तक उस ओर नहीं गया तो अब क्या जाऊँगा। अपने नाम को चलाने के लिए ही सन्तान की आवश्यकता होती है। मैं अपनी रचना का नाम तुम्हारे नाम पर रखूँगा। इस प्रकार अपनी पत्नी के नाम पर उन्होंने अपनी रचना का नाम 'भामती' रखा।

एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार आद्य शंकराचार्य की शिष्य-परम्परा में किन्हीं शंकराचार्य[1] ने शांकर भाष्य पर टीका लिखने के लिए वाचस्पति मिश्र से आग्रह किया था तथा इस आग्रह को मनवाने में भामती (वाचस्पति मिश्र की पत्नी) का विशेष हाथ था। अतः उन्हीं के नाम पर ही उन्होंने अपनी इस रचना का नाम 'भामती' रखा।

कुछ लोगों के अनुसार इनकी लड़की का नाम भामती था, उसी के नाम पर इस कृति का नाम भी 'भामती' रखा गया। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इनके ग्राम का नाम भामह था—उसी के नाम पर इस कृति को 'भामती' नाम से विभूषित किया गया।

'भामती' वाचस्पति मिश्र की अन्तिम रचना है। इसमें उनकी परिपक्व दार्शनिक मनीषा के दर्शन होते हैं। यह टीका न केवल शांकर भाष्य के रहस्य का समुद्घाटन करती है अपितु विरोधी मतों को ध्वस्त करने हेतु एवं स्व-सिद्धान्त स्थापनार्थ स्वतन्त्र मनीषा का परिचय भी प्रस्तुत करती है। इसलिए वेदान्त में 'भामती' की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। 'भामती-प्रस्थान' की उपेक्षा करना परवर्ती वेदान्ती लेखकों के लिए सम्भव न रहा।

'भामती' के अध्ययन से एक बात और सामने आती है। वह यह कि इसकी

रचना करते समय वाचस्पति के सामने चार उद्देश्य थे—(१) शांकरभाष्य की विवृति, (२) विरोधी मतों को तर्क प्रहार से ध्वस्त कर वैदिक मार्ग की रक्षा[९२], (३) श्रुति सागर के मन्थन से ब्रह्मामृत का आविष्कार तथा (४) शंकर और मण्डन मिश्र के दो विभिन्न मतों का टीका के माध्यम से एक मंच पर प्रस्तुतीकरण।

इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि भामतीकार अपने उद्देश्यचतुष्टय में पूर्णतः सफल हुए हैं।[९३] इतनी अधिक सफलता शायद ही किसी अन्य टीकाकार को मिली हो। उनकी टीका के महत्त्व को प्राचीन व अर्वाचीन विद्वानों ने मुक्तहृदय से स्वीकार किया है।[९४]

सन्दर्भ

१. इन्होंने अपने इस ग्रन्थ की रचना श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' का खण्डन एवं द्वैतमत का समर्थन करने के लिए की थी।

२. श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने अपनी पुस्तक 'History of Dharmaśāstra' Vol I (पृ० ४०५) में इनका समय ई० सन् १४५० एवं १४८० के मध्य निश्चित किया है। इनकी कृतियों के नाम हैं—आचार-चिन्तामणि, आह्निक-चिन्तामणि, कृत्य-चिन्तामणि, तीर्थ-चिन्तामणि, द्वैत-चिन्तामणि, नीति-चिन्तामणि, विवाद-चिन्तामणि, व्यवहार-चिन्तामणि, शुद्धि-चिन्तामणि, शूद्राचार-चिन्तामणि, श्राद्धचिन्तामणि, तिथि-निर्णय, द्वैतनिर्णय, महादाननिर्णय, शुद्धिर्णिय, कृत्यमहार्णव, गंगाभक्ति-तरंगिणी, गयाश्राद्धपद्धति, चन्द्रधेनुप्रमाण, दत्तकविधि, पितृ-भक्ति-तरंगिणी, कृत्य-प्रदीप। —History of Dharmasastra, Vol. I, p. 399—405

३. "न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
वाचस्पतिमिश्रस्तु वस्वङ्कवसुवत्सरे॥" —न्या० सू० नि०

* "धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः॥" इति भरतः।
"आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥" इति महाभारते।

४. बलदेव उपाध्याय : 'वाचस्पति मिश्र के देश तथा समय' —मित्रवाणी

५. तर्काम्बरांक-प्रमितेष्वतीतेषु शकाब्दतः।
वर्षेषू दयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥ —लक्षणावली, अन्तिम श्लोकावली

६. History of Indian Logic, P. 341

७. Ibid, p. 133

८. सरस्वती भवन स्टडीज, भाग-३, न्यायग्रन्थ सम्बन्धी लेख।

९. 'A History of Indian Philosophy', Vol. II, p. 147

१०. (क) "न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रनिर्मितानि महाप्रासादप्रमदवनानि श्रीनन्मृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम्"
—भामती, पृ० ४८१, २।१।३३ 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्'

(ख) नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम् ।
कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥५॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥६॥

—भामती, अन्तिम श्लोक

११. 'नृणां गतिः' ए रूप अर्थ करिले नृगशब्देर अर्थ सिद्ध हय। 'नर समूहे गतिर्वा' आश्रय बलिते धर्म के बुझाइते पारे। अतएव नृगशब्दे धर्मपाल के बुझाइते पारे। भामतीर अन्यत्र ३ राजा नृगेर उल्लेख देखा जाए। २-१-३३ सूत्रेर व्याख्याप्रसंग वाचस्पति भामती ते लिख्या छेन—"न चाद्यापि न दृश्यन्ते लीलामात्रविनिर्मितानि महाप्रासादप्रमदवनानि श्रीमन्नृगनरेन्द्राणामन्येषां मनसापि दुष्कराणि नरेश्वराणाम् राजा नृगेर पक्षे महाप्रासादादिनिर्माण लीलामात्र······"

—वेदान्त दर्शनेर इतिहास, पृ० ३२७, प्रथम भाग

† द्र० 'मित्रवाणी' वाचस्पति अङ्क, पृ० ७५

१२. 'History of Indian Logic', p. 323

१३. 'A History of Indian Philosophy, Vol, II, p. 171

१४. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥ —न्या० वा० ता० टी०, पृ० १३३

१५. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥

—न्यायक० के प्रारम्भिक श्लोक, सं० ३

१६. "त्रिलोचनगुरोः सकाशादुपदेशरसायनमासादितम्···"—न्या०वा०ता०प०, पृ० ७०

* See 'History of Indian Philosophy', Vol. II, p. 119

१७. वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ० २०६

१८. "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते" इस प्रकार के विद्वत्पदघटित वाक्यों को मीमांसा में विद्वद्वाक्य कहा जाता है। किन्तु एक ग्रन्थकार ने इसका अर्थ 'विदुषां वाक्यम्' किया है—"विदुषां वाक्यं विद्वद्वाक्यम्"

—मी० न्या० प्र० की व्याख्या (भाट्टालंकार टीका), पृ० १६५

१९. "यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः ।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः ॥" —भामती, पृ० १०२०

२०. "ऊहः शब्दोऽध्ययनं विघ्नविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः" —सां० का० ५१

२१. "आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम् ।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥"

—भामती, प्रारम्भिक श्लोक सं० ७

२२. भामती, पृ० २२

२३. वही, पृ० ५४

२४. वही, पृ० १३१

२५. छान्दोग्य० ८।३।२
२६. भामती, पृ० २६४
२७. वही, पृ० ४५९-६०
२८. वही, पृ० ४८१
२९. वही, पृ० ७२५-२६
३०. वही, पृ० ५४
३१. सां० तत्त्वकौ०, कारिका ६१
३२. "मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता" —श्लो० वा० १।१।१।१३
३३. द्रष्टव्य प्रकृत शोध-प्रबन्धस्थ न्यायकणिका-परिचय।
३४. "यच्चोक्तं मिथ्याप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वप्रमाणेष्वनाश्वास इति, तत् बोधकत्वेन स्वतःप्रामाण्यं नाव्यभिचारेणेति व्युत्पादयद्भिरस्माभिः परिहृतं न्यायकणिकायामिति नेह प्रतन्यते।" —भामती, पृ० ३०
३५. "यथा च सामान्यतोदृष्टमप्यनुमानं ब्रह्मणि न प्रवर्तते तथोपरिष्टान्निपुणतरमुपपादयिष्यामः। उपपादितं चैतदस्माभि विस्तरेण न्यायकणिकायाम्।" —वही, पृ० ६१
३६. "प्रपञ्चितं चैतदस्माभिर्न्यायकणिकायाम्" —वही, पृ० ३२५
३७. "यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः॥" —वही, पृ० १०२०
३८. "मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता......"
—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नाकर, पृ० ४
३९. Radha Krishnan : Indian Philosophy, Vol. II, pp. 376-77
४०. Ibid
४१. (i) 'Prabhakar School of Pūrvamimāmsā' –Proceedings, Calcutta.
(ii) A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 370
४२. न्या० क० प्रारम्भिक श्लोक
४३. "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥"
—अभि० शा०, प्रारम्भिक श्लोक
४४. न्या० क०, पृ० १८०, मैडिकल हाल प्रेस, काशी, सन् १९०७
४५. भामती, पृ० ३०, ७६, ६१, १०६, ३२५, ५४१, ७३०, ५६३
+ A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 158
४६. (क) "अजैव जरत्प्राभाकरा......"
—न्या० क०, पृ० १०६
(ख) "न खलु 'प्रत्यक्षं' कल्पनापोढमभ्रान्तमिति निर्दिष्टलक्षण"—मिति प्रणयतो दिङ्नागस्यैव कल्पनापोढमात्रं प्रत्यक्षलक्षणमपि तु तदेवाऽभ्रान्तत्वसहितं प्रत्यक्षलक्षणमिति मन्यते स्म कीर्तिः।
—वही, पृ० १६२

४७. "अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥३॥ —न्या० क०, पृ० १

४८. Gopinath Kaviraj : Saraswati Bhawan Studies, Vol. III

४९. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 87

५०. भामती, पृ० १०२०, श्लोक ३

५१. (क) "विपंचितं चैतदस्माभि : तत्त्वसमीक्षान्यायकणिकाभ्यामित्युपरम्यते ।"
—न्या० वा० ता० टी०, पृ० ५६१

(ख) "विस्तरस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामवगन्तव्य इति ।"
—भामती, पृ० ३०

(ग) "अक्षणिकस्य चार्थक्रिया न्यायकणिकाब्रह्मतत्त्वसमीक्षाभ्याम् उपपादिता"
—तत्त्ववैशारदी १।३२

५२. "वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः समन्वयसूत्रे श्रवणादिविधि निराचचक्षे······" —प्रकटार्थ, Vol. II, पृ० ६८६

५३. 'तत्त्व-बिन्दु' में विविध सिद्धान्तों का प्रदर्शन करते हुए भाट्ट सिद्धान्त को अन्त में रखकर लिखा है—
"पदैरेवसमभिव्यावहारवद्भिरभिहिताः स्वार्था आकांक्षायोग्यतासत्तिसध्रीचीना वाक्यार्थधीहेतव इत्याचार्याः"
—पृ० ८, तत्त्वबिन्दु, अण्णामलै यूनिवर्सिटी, संस्कृत सीरीज नं० ३, १९३६

५४. Catalogus Cataloguram

५५. शाबरभाष्य, मी० सू० १।१।२४-२५, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९१०

५६. "ग्रन्थव्याख्याच्छलेनैव निरस्ताखिलदूषणा ।
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका अस्माभिर्विधास्यते ॥१॥" —न्या० वा० ता० टी०

५७. न्या० वा० ता० टी०, श्लोक २

५८. मातः सरस्वति ! पुनः पुनरेष नत्वा
बद्धांजलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि ।
वाक्यचेतसोमर्मं तथा भव सावधाना
वाचस्पते र्वचसि न स्खलतो यथैते ॥
—न्या० वा० ता० टी० परिशुद्धि, प्रारम्भिक श्लोक

५९. 'तत्त्वबिन्दु' का उल्लेख पृ० २०७ तात्पर्यटीका, चौखम्बा संस्करण ।
'तत्त्वसमीक्षा' का उल्लेख पृ० ६१ तात्पर्यटीका, चौखम्बा संस्करण ।
'न्यायकणिका' का उल्लेख पृ० ५६१-६२, ६६२ तात्पर्यटीका, चौखम्बा संस्करण ।

६०. 'भामती', पृ० १०२०

६१. जैसे 'तात्पर्यटीका' (पृ० १८३) में वार्त्तिककार के उदाहरण का निराकरण करते हुए लिखा है—"इदं तु परिशेषस्योदाहरणं नादरणीयम् ।"

६२. न्या० सू० नि०

६३. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 212

६४. तथा च राजवार्तिकम्—

"प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्त्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पंचविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥

—सां० तत्त्वकौ०, कारिका ७२, पृ० ३१९-२०

६५. न्यायमञ्जरी, पृ० १०९

६६. वही

६७. युक्तिदीपिका, पृ० ४२

६८. सां० तत्त्वकौ०, कारिका ५ व ६

६९. तात्पर्यटीका, पृ० ४३८-३९, सां० तत्त्वकौ०, पृ० १५

७०. तत्त्ववैशारदी, पृ० ७५ व २९५

७१. कुछ लोगों के अनुसार ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार स्वयं आदि शंकराचार्य ने उक्त आग्रह किया था। [द्र० वाचस्पति विशेषांक] —मित्रवाणी

७२. "वैदिकमार्गं वाचस्पतिरपि सुरक्षितं चक्रे" —कल्पतरु, प्रारम्भ

७३. "भङ्क्त्वा वाद्यसुरेन्द्रवृन्दमखिलाविद्योपधानातिगं
येनाम्नायपयोधि नैयषा ब्रह्मामृतं प्राप्यते ।
सोऽयं शांकरभाष्यजातविषयो वाचस्पतेः सादरम्
सन्दर्भः परिभाव्यतां सुमतयः स्वार्थेषु को मत्सरः ॥" —भामती, उपसंहार

७४. (क) "न केवलं ग्रन्थव्याख्यामात्रमत्र कृतम् अपितु तत्र-तत्र बौद्धादिविरुद्ध-सिद्धान्तभंगं स्वातन्त्र्येण नयमरीचिभिः कुर्वता जगतामबोधोऽपनिन्ये ब्रह्मबोधश्च स्थिरीचक्रे ।" —कल्पतरु, पृ० १०२१

(ख) "शंके सम्प्रति निर्विशंकमधुना स्वाराज्यसौख्यं वह-
न्नेन्द्रः सान्द्रतपः स्थितेषु कथमप्युद्वेगमभ्येष्यति ।
यद् वाचस्पतिमिश्रनिर्मितमितव्याख्यानमात्रस्फुटद्-
वेदान्तार्थ-विवेक-वंचित-भवाः स्वर्गेऽप्यमी निःस्पृहाः ॥"

—सनातन मिश्र : भामती, पृ० ९२८

(ग) A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 106, 108

(घ) S. Subramania Sastri—Preface 'Ābhoga'

२
प्राक्-प्रवाह

१. वाचस्पति से पूर्व का वेदान्त : एक विहंगम-दृष्टि

वेदान्त-दर्शन के प्रति आचार्य वाचस्पति मिश्र का क्या योगदान है, इस गवेषणा के सन्दर्भ में उनसे पूर्व के वेदान्त-दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि तभी यह स्पष्ट हो सकता है कि उस समय अद्वैत-वेदान्त की सामयिक मांग क्या थी और आचार्य वाचस्पति कहाँ तक उसे पूरा करने में सफल हुए।

भारतीय दर्शन की किसी भी धारा के मूल स्रोत की गवेषणा का पथिक अन्ततोगत्वा सहज ही सुदूर अतीत में विद्यमान वैदिक हिमगिरि की क्रोड़ में जा पहुँचता है। उससे पूर्व भारतीय संस्कार भला किस अन्य वाङ्मय की शरण में जा सकता है। क्योंकि उस (अन्य वाङ्मय) की सत्ता या तो थी ही नहीं और यदि थी भी तो सर्वथा अज्ञान के निविडान्धकार में वह विलीन हो चुकी है। वेदान्त का भी मूल उसी अतीत में विद्यमान है। जहाँ से इस प्रकाश की किरणें समुद्गत होती प्रतीत होती हैं, वे ऋग्वेदीय महर्षियों के कुछ गीत माने जाते हैं जिनमें सर्वप्रथम अद्वैत का प्रतिपादन उपलब्ध होता है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्० २।३।२३।४६)। उस एक देवतास्वरूप को एक अद्वैत तत्त्व के रूप में उपनिषद् वाक्यों ने स्थिर कर दिया था। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (छा०६।२।१)। 'अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' (गी० २।१७)—यह गीतावचन भी इस समस्त प्रपंच के पीछे एक ही नित्य सत्ता की ओर संकेत कर रहा है। किन्तु इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सुव्यवस्थित प्रयास वेदान्तसूत्रों के प्रणयन के रूप में उपलब्ध होता है। आम्नायपरम्परा की भावना आकूतिक केन्द्र भी वही है। इस प्रकार व्यास के चरणचिह्नों से शांकर वेदान्त की पवित्र सरणि का समारम्भ माना जाना नितान्त स्वाभाविक है।

वेदान्त सूत्रों को बादरायणकृत माना जाता है। ये सूत्र चार अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम समन्वयाध्याय में संदिग्ध उपनिषद्वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय बतलाया गया है। द्वितीय अविरोधाध्याय में अन्य दर्शनों तथा श्रुतियों के कारण प्रतीयमान विरोधों का परिहार किया गया है। तृतीय साधनाध्याय में परब्रह्म की प्राप्ति की साधनभूता ब्रह्मविद्या तथा अन्य सगुण व निर्गुण विद्याओं के विषय में विचार किया गया है तथा चतुर्थ फलाध्याय में उन विद्याओं के द्वारा प्राप्त होने वाले

साधनानुरूप फल के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया है।

बादरायण के समय में या उससे पूर्व भी वेदान्त के कुछ आचार्य विद्यमान थे जिनके मतों का उल्लेख वेदान्त सूत्रों में किया गया है। इनमें प्रमुख हैं आचार्य बादरि, आश्मरथ्य, जैमिनि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, आत्रेय आदि। इन आचार्यों में अनेक विषयों पर परस्पर मतभेद था, यथा—

(१) वैश्वानराधिकरण में जठराग्निप्रतीक या जठराग्न्युपाधि के बिना भी वैश्वानर शब्द से परमेश्वर की उपासना मानने में कोई विरोध नहीं है, जैमिनि के इस मत का उल्लेख किया गया है।[1] वैश्वानर शब्द से परमेश्वर का ग्रहण मानने पर परमेश्वर के व्यापक होने से प्रादेशमात्रताबोधक श्रुति[2] के विरोध का परिहार अभिव्यक्ति की अपेक्षा से प्रादेशमात्रता मानकर हो जाता है, ऐसा आचार्य आश्मरथ्य मानते हैं।[3]

आचार्य बादरि प्रादेशमात्रताबोधक श्रुति के विरोध का परिहार इस प्रकार करते हैं कि सर्वव्यापक ब्रह्म का स्मरण मन के द्वारा होता है जो कि प्रादेशमात्रहृदय में प्रतिष्ठित है। अतः इस स्मरण की अपेक्षा से उसे प्रादेशमात्र बतला दिया गया है।[4]

जैमिनि के मतानुसार द्युलोक से लेकर पृथ्वीपर्यन्त त्रैलोक्य रूप वैश्वानर के अवयवों का अध्यात्म में मूर्द्धा से लेकर चिबुकपर्यन्त देहावयवों में सम्पादन वाजसनेयी ब्राह्मण में बतलाया गया है। उसी की अपेक्षा से उसमें प्रादेशमात्रता है।[5]

(२) वाक्यान्वयाधिकरण में 'न वाऽरे पत्युः कामाय······' इनसे प्रारम्भ कर 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः······' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में 'आत्म' पद से परमात्मा का ग्रहण मानने पर 'न वाऽरे पत्युः कामाय······' इस उपक्रम का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि प्रियादि विशेषणों से विज्ञान आत्मा (जीवात्मा) का ही ग्रहण प्रतीत होता है। इसका परिहार करते हुए आश्मरथ्य आचार्य ने कहा है कि आत्मविज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है, इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए प्रियादि-सूचित विज्ञान-आत्मा को द्रष्टव्य बतलाया गया है। अर्थात् वह विज्ञानात्मा परमात्मा से अभिन्न है, इसलिए विज्ञानात्मा से उपक्रम करने पर भी 'आत्म' पद से परमात्मा का ग्रहण मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।[6]

औडुलोमि आचार्य यह मानते हैं कि यद्यपि उपक्रम विज्ञानात्मा से ही किया गया तथापि ज्ञान, ध्यान आदि के अनुष्ठान से सम्प्रसन्न तथा देहादि संघात से उत्क्रान्त होने वाले विज्ञानात्मा का परमात्मा से अभेद है, अतः उस अवस्था में विज्ञानात्मा के परमात्म-स्वरूप होने से विज्ञानात्मा होने से विज्ञानात्मा से उपक्रम मानने में भी कोई विरोध नहीं है। इसीलिए 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३), यह श्रुति सम्प्रसादावस्था में जीवात्मा की परमात्मरूपता सिद्ध कर रही है।[7]

काशकृत्स्न आचार्य के अनुसार परमात्मा ही जीवरूप से सृष्ट पदार्थों में प्रविष्ट होता है, अतः परमात्मा के ही जीव होने से उपक्रमश्रुति में प्रियादिसूचित विज्ञानात्मा का उपक्रम मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[8]

(३) मुक्तावस्था में जीव स्वस्वरूप से निष्पन्न हो जाता है किन्तु उसका वह

स्वस्वरूप क्या है, इस विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। जैमिनि आचार्य मानते हैं कि कि अपहृतपाप्मत्व, सत्यसंकल्पत्व आदि धर्मों से विशिष्ट ब्राह्मस्वरूप ही उसका स्व-स्वरूप है।[९] आचार्य औडुलोमि का कथन है कि शुद्ध चैतन्य ही उसका वह स्वरूप है अर्थात् चितिमात्र से ही उसकी स्थिति उस समय होती है।[१०] बादरायण आचार्य का मत है कि उस अवस्था में दोनों ही रूपों में उसकी अवस्थित्ति मानने में कोई बाधा नहीं है। चितिमात्रता उसका वास्तविक स्वरूप है और अपहृतपाप्मत्वसत्यसंकल्पत्वादिधर्मविशिष्ट ब्राह्मस्वरूप उसका व्यावहारिक स्वरूप है, इस प्रकार दोनों की उपपत्ति हो सकती है।[११]

ये आचार्य बादरायण से पूर्ववर्ती या उसके समकालिक हो सकते हैं। जैमिनि निश्चित रूप से समकालिक थे क्योंकि दोनों ने अपने सूत्रों में एक दूसरे के मत का उल्लेख किया है। यह पारस्परिक उल्लेख समकालिक व्यक्तियों में ही सम्भव है। इस बात का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि उक्त सभी आचार्यों में कौन-कौन आचार्च अद्वैतवेदांत के अनुयायी थे।

वेदान्त-सूत्रों में जैमिनि आदि आचार्यों की तरह बादरायण के मत का उल्लेख[१२] होने से वेदान्त सूत्रों का कर्त्ता सूत्र-निर्दिष्ट बादरायण से भिन्न था, ऐसा प्रतीत होता है किन्तु सूत्रनिर्दिष्ट बादरायण आत्मैकत्वादी थे।[१३] यहां एक विशेष बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि ब्रह्मसूत्रकार ने स्वमतस्थापन के लिए यद्यपि सभी वैदिकावैदिक की आलोचना की है किन्तु उनके आक्रमणों का मुख्य लक्ष्य सौगत-सिद्धान्त ही रहे हैं। इस तथ्य का उद्घाटन इस बात से होता है कि तर्कपाद में कुल ४५ सूत्रों में लगभग छः मतों की आलोचना की गई है जिनमें १५ सूत्र अकेले सौगत-सिद्धान्तपरिहार में व्यय किए गए हैं। सूत्रकार द्वारा उठाया गया यह कदम जहाँ तत्कालपर्यन्त सौगतसंघर्ष की कथा कह रहा है वहीं अपनी भावी सन्तति के लिए उनसे उत्पन्न होने वाले खतरे के प्रति एक चेतावनी का भी प्रतीक था।

अद्वैतवेदान्त के इतिहास में आचार्य गौडपाद[१४] का नाम विशिष्ट स्थान रखता है। इनका स्थितिकाल (छठी-७वीं शताब्दी) माना जाता है।[१५] ये शंकराचार्य के दादागुरु थे। शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा मायावाद के यही प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकाएँ लिखी थीं जो कि माण्डूक्यकारिका अथवा गौडपाद-कारिका के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कारिकाएँ अत्यन्त प्रौढ़, गूढार्थपरिपूर्ण तथा प्रांजल हैं। ये कारिकाएँ चार प्रकरणों में विभक्त हैं—(१) आगम प्रकरण (२) वैतथ्यप्रकरण, (३) अद्वैतप्रकरण (४) अलातशांतिप्रकरण।

आचार्य गौडपाद ने चतुष्पादब्रह्म के चारों पादों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। विश्व और तैजस इन दो पादों को उन्होंने कारण तथा कार्य से बद्ध, तृतीय पाद प्राज्ञ को कारण से बद्ध यथा चतुर्थपाद को दोनों से आबद्ध बतलाया है। इस एक ही कारिका में गौडपाद ने आत्मा के चारों पादों का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है।[१६] इसी प्रकार प्राज्ञ तथा तुरीय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए गौडपाद ने द्वैताग्रहणरूप समानता के दोनों में होते हुए भी प्राज्ञ को बीजरूप अज्ञान से युक्त तथा तुरीय को उससे निर्मुक्त बतलाते हुए दोनों का भेद स्पष्ट किया है।[१७]

आचार्य गौडपाद जगत् के सभी पदार्थों को स्वप्नवत् मिथ्या मानते हैं। स्वप्न के पदार्थों के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने संवृतत्व, उचित देश व काल का अभाव आदि जो हेतु दिए हैं[१८], इन्हीं हेतुओं का उपन्यास आगे चलकर शंकराचार्य ने "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।३) सूत्रभाष्य में स्वप्न पदार्थों के मिथ्यात्व की सिद्धि में किया है। जगत् के सभी पदार्थों के मिथ्या-सिद्ध हो जाने से[१९] एक अद्वैत तत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है, अतः लौकिक तथा वैदिक व्यवहार अविद्याकल्पित है, वास्तविक नहीं। जीवकल्पना का हेतु अज्ञान है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार अंधकार में रज्जु के वास्तविक स्वरूप का ग्रहण न होने के कारण उसमें सर्प-कल्पना हो जाती है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ग्रहण न होकर उसमें विभिन्न कल्पनाएँ हो रही हैं। रज्जु के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर (सर्प का) विकल्प निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के अद्वैत का निश्चय होता है। इस विकल्प का कारण माया ही है।[२०] वस्तुतः न यहाँ कोई प्रलय है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है, इस प्रकार का ज्ञान ही पारमार्थिक ज्ञान है।[२१]

आकाश के दृष्टान्त से आत्मा को सूक्ष्म, व्यापक, असंग तथा निरवयव सिद्ध करते हुए आचार्य गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश आदि की उत्पत्ति और विनाश घट उपाधि के कारण होता है और वस्तुतः आकाश के उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, न घटाकाश धूलि, धूम आदि से संस्पृष्ट ही होता है, उसी प्रकार आत्मा के उत्पत्ति-विनाश भी अन्तःकरण आदि उपाधियों के कारण ही प्रतीत होते हैं, वस्तुतः नहीं और उन उपाधिगत धर्मों का आत्मा में लेशतः सम्पर्क नहीं होता।[२२] आत्मा वस्तुतः सब प्रकार के वाग्व्यापार से रहित, सब प्रकार के अन्तःकरणव्यापार से रहित, अत्यन्त शान्त, नित्यप्रकाशरूप, अचल तथा निर्भय है।[२३] इसमें किसी प्रकार का ग्रहण और त्याग सम्भव नहीं है। आत्मज्ञान हो जाने पर प्राणी जन्मराहित्य एवं समता को प्राप्त हो जाता है।[२४] आत्मा में किसी प्रकार के धर्म का सम्बन्ध नहीं है, इसी ज्ञान का नाम अस्पर्शयोग है, किन्तु द्वैती इससे निरन्तर भयभीत रहते हैं क्योंकि वे वहाँ तक नहीं पहुँच सकते।[२५] इस अस्पर्शयोग की प्राप्ति मनोनिग्रह के अधीन है। दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षय्यशान्ति का भी यही कारण है, अतः सभी उपायों के द्वारा मनोनिग्रह करना चाहिए।[२६]

अजातवाद (दृष्टिसृष्टिवाद) की स्थापना करते हुए गौडपाद ने कहा है कि कुछ लोग कहते हैं कि सत् वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और कुछ कहते हैं कि असत् वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, वस्तुतः परस्पर विवाद करते हुए वे लोग अजाति की ही स्थापना करते हैं।[२७] समस्त जीवात्मा स्वभावतः जरा-मरण से रहित हैं।[२८] जो कुछ भी प्रपंच जाति के समान भासने वाला, चल के समान भासने वाला तथा वस्तु के समान भासने वाला है, वह वस्तुतः अज, अचल, अवस्तुरूप शान्त एवं अद्वयविज्ञान है।[२९] जिस प्रकार उल्का का स्फुरण ही ऋजु-वक्र आदि रूपों में भासित होता है उसी प्रकार विज्ञान का स्पन्दन ही ग्रहण-ग्राहक रूपों में भासित हो रहा है[३०] तथा जिस प्रकार स्पन्दनरहित होने पर वही उल्का (अलात) आभासरहित व अज है, उसी प्रकार स्पन्दनरहित वह

विज्ञान भी आभासरहित एवं अज है।[31] अजातवाद के इस अमूल्य सिद्धान्त पर कहीं बौद्धों का अधिकार न हो जाए, इस आशंका से, अन्त में, आचार्य गौडपाद कहते हैं कि अजाति का सिद्धान्त बुद्धदेव का नहीं है।[32]

गौडपाद के शिष्य तथा शंकर के गुरु[33] गोविन्दभगवत्पाद ने अद्वैतवेदान्त पर किस ग्रन्थ की रचना की थी, यह ज्ञात नहीं है। कुछ लोगों ने 'अद्वैतानुभूति' को इनकी कृति माना है[34] किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार यह शंकराचार्य की कृति है।[35] शंकराचार्य के प्रकरणग्रन्थों के अन्तर्गत ही यह प्रकाशित भी हो चुकी है।[36] श्री गोविन्दभगवत्पाद के नाम से 'रसहृदय' नामक ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध होता है, किन्तु यह ग्रन्थ रसायनशास्त्र से सम्बन्धित है।

इसके पश्चात् अद्वैतवेदान्त के क्षितिज पर एक ऐसे नक्षत्र का उदय होता है जिसकी प्रखर आभा के सामने समस्त प्रकाशपुंज टिमटिमाते दिये के समान प्रतीत होते हैं। यह देदीप्यमान नक्षत्र है—शंकर। इनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु आजकल विद्वानों का झुकाव इन्हें ७८८ व ८२० ई० के मध्यवर्ती मानने की ओर है।[37] इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु इस संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि शंकराचार्य के स्थान पर जो भी उत्तराधिकारी हैं, वे सभी शंकराचार्य ही कहलाते हैं। अतः शंकराचार्य के नाम से प्रचलित विपुलग्रन्थराशि में से कौन-से आदि शंकराचार्य के हैं तथा कौन-से परवर्ती शंकराचार्यों के, यह साधिकार कहना कठिप है, केवल एकादशोपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्रों के भाष्यों तथा कुछ प्रकरणग्रन्थों को छोड़कर जो कि विद्वानों की दृष्टि में असंदिग्ध रूप से आदि शंकराचार्य के द्वारा प्रणीत हैं।

इन्होंने गौडपाद द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा मायावाद की प्रबल प्रमाणों और तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठा की। शंकर केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं तथा ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के विरोधी हैं।[38] उनके अनुसार मुक्ति के लिए कर्मत्याग आवश्यक है।[39] भेदाभेद सिद्धान्त का भी इन्होंने मार्मिक युक्तियों से निराकरण किया है। ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान व निमित्त कारण है, इसकी स्थापना कर सांख्य, न्याय, वैशेषिक, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों का तथा पांचरात्र आदि विरोधी मतों का इन्होंने निराकरण किया है। इनके अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है, उसमें प्रतीयमान जगत् केवल अज्ञानकल्पित है, पारमार्थिक नहीं।[40] जीव और ब्रह्म भिन्न तत्त्व नहीं अपितु एक ही हैं। जीव ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं। वेदान्तवाक्य विशुद्ध सिद्ध ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादन करते हैं, वे कर्मविधि, उपासनाविधि या ज्ञानविधि—किसी भी विधि के अंग बनकर ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करते।[41] ब्रह्म में आप्य, विकार्य, उत्पाद्य और संस्कार्य—किसी भी प्रकार की कर्मता नहीं बनती।[42] ब्रह्म कूटस्थ नित्य है।[43] मोक्ष ब्रह्मरूप होने से नित्य व अनुत्पाद्य है[44], इत्यादि सिद्धान्त शंकर के श्रुतियों तथा प्रबल युक्तियों के आधार प्रतिपादित किए गए हैं।

ब्रह्मसूत्रकार और आचार्य शंकर के मध्य में वेदान्त के कुछ आचार्य हुए थे जिनका उल्लेख शंकर ने अपनी कृतियों में किया है। विद्वानों के अनुसार शंकर ने अपने

शारीरकभाष्य में "ननु अनेकात्मकं ब्रह्म, यथाऽनेकशाखो वृक्षः……" इत्यादि पंक्तियों के द्वारा जिस मत का उपन्यास किया है, वह मत भर्तृप्रपंच का है। भर्तृप्रपंच भेदाभेद-वादी थे। इनके मत के अनुसार परम तत्त्व एक भी है और नाना भी है, ब्रह्मरूप में एक है तथा जगद्रूप में नाना। जैसे वृक्ष वृक्षत्वेन एक है और शाखात्वेन नाना है। भर्तृप्रपंच के अनुसार जीव नाना तथा परमात्मा के अंश हैं। विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्म संस्कार जीव में विद्यमान रहते हैं। अविद्या परमात्मा से अभिव्यक्त होकर जीव में विकार उत्पन्न करती है तथा अनात्मरूप अन्तःकरण में रहती है। उनके मतानुसार जीव परममोक्ष का लाभ करने से पूर्व हिरण्यगर्भरूप बनते हैं। हिरण्यगर्भरूप अवस्था मोक्ष की पूर्वकालिक अवस्था है। इस अवस्था में परमात्मा का आभिमुख्य जीव के लिए सदा वर्तमान रहता है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्रतरंग के समान द्वैताद्वैत है, जैसे तरंग जलरूप से समुद्र से अभिन्न है किन्तु तरंगरूप से भिन्न।[४४] आचार्य शंकर ने भर्तृप्रपंच के इस मत का निरास करके अद्वैतमत की स्थापना की है।[४६]

आचार्य शंकर ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में 'औपनिषदंमन्याः' कहकर जिस मत का उल्लेख व खण्डन किया है[४७] वह भर्तृप्रपंच का ही मत है, ऐसा आनन्दगिरि का कथन है।[४८]

शंकर ने उपवर्ष नाम के आचार्य का भी सम्मानसहित उल्लेख किया है— "'वर्णा एव तु शब्द' इति भगवानुपवर्षः।"[४९] इसी प्रकार देहादि से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए भगवान् शंकर ने "अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः।"[५०] इस प्रकार इनके मत को प्रस्तुत किया है। भास्कराचार्य ने उपवर्ष का उल्लेख किया है—"अत एवोपवर्षा-चार्येणोक्तं प्रथमपादे आत्मवादं तु शारीरके वक्ष्याम इति।"[५१] शंकराचार्य तथा भास्करा-चार्य के इन कथनों से प्रतीत होता है कि उपवर्ष ने मीमांसा-सूत्रों पर किसी भाष्य, वृत्ति या व्याख्या का निर्माण किया था तथा ब्रह्मसूत्रों पर लिखने का उनका विचार था। भास्कर ने शब्दविचार के समय भी इनके मत का उल्लेख किया है।[५२] श्रीभाष्य पर तत्त्वटीकाकार का कथन है कि उपवर्ष व बोधायन अभिन्न थे।[५३]

ब्रह्मदत्त भी वेदान्त के प्रतिष्ठित आचार्य प्रतीत होते हैं। आचार्य शंकर ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में "अपरे वर्णयन्ति उपासनेनात्मविषयं विशिष्टं विज्ञानान्तरं भावयेत्, तेनात्मा ज्ञायते, अविद्यानिवर्तकं च तदेव, नात्मविषयं वेदवाक्यजनितं विज्ञान-मिति।।"[५४]—इस प्रकार जिस मत का उल्लेख किया है, उसी मत का उल्लेख सुरेश्वरा-चार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य के सम्बन्धवार्तिक में इस प्रकार किया है—

> नियोगपक्षमाश्रित्य विध्यर्थासम्भवो यथा।
> ऐकात्म्यसिद्धौ यत्नेन तथाऽत्र प्रतिपाद्यते।।[५५]

जिसकी टीका में आनन्दगिरि ने इसे ब्रह्मदत्त का मत बतलाते हुए कहा है कि— "इह तु ब्रह्मदत्ताभिमतेन ज्ञानाभ्यासे विधिमाशङ्क्य निरस्यते—।"[५६] सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में भी इस मत का उपन्यास किया है—"केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भा-

दाहु:—यदेतत् वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि। अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो भावनोपचयान्निश्शेषमज्ञानमपगच्छति 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुते:।''[५७] तथा इसकी व्याख्या विद्यासुरभि में लिखा है कि यहाँ 'केचित्' शब्द ब्रह्मदत्त आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है— 'केचिद् ब्रह्मदत्तादय:।'

इस प्रकार ब्रह्मदत्त के अनुसार वेदान्तवाक्यों में जो 'अहं ब्रह्म' ज्ञान उत्पन्न होता है वह अपनी उत्पत्तिमात्र से ही अज्ञान को नष्ट नहीं कर देता अपितु दीर्घ समय तक निरन्तर उसकी उपासना करते रहने पर भावनोपचय से सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट होता है, अत: तभी आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, वेदान्तवाक्यों से साक्षात् नहीं। अत: ब्रह्मदत्त के अनुसार, औपनिषद ज्ञान की प्राप्ति तथा वास्तविक मुक्ति में कालान्तराल रहता है। इस अन्तराल में, जब तक कि जिज्ञासु (उपासक) संसारावस्था में है, उसे सभी वैधकर्मों का सम्पादन करना चाहिए।[५८] इन कर्मों के न करने से पाप होता है, जो कि जिज्ञासु को जन्म-मरण-शृङ्खला में बांध देता है। इसलिए एकाकी ज्ञान ही, जब तक कर्म से समुच्चित न हो, मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है।

सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्य का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने वेदान्त के किसी प्राचीन भाष्य अथवा वृत्ति पर कारिकाओं में एक वार्त्तिक की रचना की थी।[५९] शंकराचार्य ने समन्वयाधिकरण की अन्तिम भाष्य-पंक्तियों में तीन श्लोक उद्धृत किये हैं—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मन:।
अन्विष्ट: स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जित:॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पित:।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥[६०]

पंचपादिका के व्याख्याकार आत्मस्वरूप के कथनानुसार ये तीनों श्लोक सुन्दरपाण्ड्य के हैं—''श्लोकत्रयं सुन्दरपाण्ड्यप्रणीतंप्र माणयतीत्याह···।''[६१]

आचार्य अमलानन्द सरस्वती ने भी सुन्दरपाण्ड्य के नाम से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं—'आह चात्र निदर्शनमाचार्यसुन्दरपाण्ड्य:'

नि:श्रेण्यारोहणप्राप्यं प्राप्तिमात्रोपपादि च।
एकमेव फलं प्राप्तुमुभावारोहतो यथा॥
एकसोपानवर्त्येको भूमिष्ठश्चापरस्तयो:।
उभयोश्च भवेत्तुल्य: प्रतिबन्धश्च नान्तरा॥
विरोधिनोस्तवेको हि तत्फलं प्राप्नुयात्तयो:।
प्रथमेन गृहीतेऽस्मिन्नद्वितीयोऽवतरेन्मुधा॥ इति।[६२]

कुमारिल भट्ट ने भी तंत्रवार्तिक में 'आह च' कहकर पाँच श्लोक उद्धृत किए हैं

जिनमें तीन श्लोक उपर्युक्त हैं तथा दो इस प्रकार हैं—

तेन यद्यपि सामर्थ्यं प्रत्येकं सिद्धमन्यदा।
तथापि युगपद् भावे जघन्यस्य निराक्रिया॥
अन्यथैव हि शून्येषु दुर्बलैरपि चर्यते।
अन्यथा बलवद्ग्रस्तैः सर्वशक्तिक्षये सति॥[६३]

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कुमारिल के द्वारा 'आह च' कहकर उद्धृत उपर्युक्त ५ श्लोक आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के ही हैं। कुमारिल ने अन्यत्र भी 'आह च' कहकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

'आह च—"स्यंशवेवप्रमाणत्वादुद्भिदादि ततोऽधिकम्।
धर्मायानुपयुक्तं सदानर्थक्यं प्रपद्यते॥"[६४]
'आह च—"साध्यसाधनसम्बन्धः सर्वदा भावनाश्रयः।
तेन तस्य न सिद्धिः स्याद् भावनाप्रत्ययादृते॥"[६५]

ये दोनों श्लोक भी आचार्य सुन्दरपाण्ड्य के हैं—ऐसा विद्वानों का मत है।[६६]

इन सभी उद्धरणों से जहाँ इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि वेदान्त व मीमांसा —दोनों के आचार्यगण सुन्दरपाण्ड्य को सम्मानपूर्ण स्थान देते रहे हैं, वहाँ उक्त आचार्य के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश पड़ता है।

समन्वयाधिकरण में उद्धृत के श्लोकों के अनुसार आचार्य सुन्दरपाण्ड्य की मान्यता है कि आत्माभिमान दो प्रकार का होता है—गौण आत्माभिमान तथा मिथ्या आत्माभिमान। पुत्रादि में आत्माभिमान गौण है, जैसे पुत्र के दुःखी होने पर व्यक्ति स्वयं को दुःखी समझता है। यह एकत्व का अभिमान नहीं है, क्योंकि पुत्र में और स्वयं में भेद व्यवहारसिद्ध है। इसीलिए इसे गौण आत्माभिमान कहा गया है। देहादि में आत्माभिमान मिथ्या आत्माभिमान है, इसमें अभेद का अनुभव होता है। दो प्रकार का आत्माभिमान लोक-व्यवहार का कारण है तथा इस आत्माभिमान के अभाव में लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जाता है। 'मैं सद्ब्रह्म आत्मा हूँ'—यह बोध होने पर सब कार्यों की निवृत्ति हो जाती है। अन्वेष्टव्य आत्मा के ज्ञान से पूर्व ही आत्मा में प्रमातृत्व है। पाप-दोषादि से रहित वह प्रमाता ही अन्विष्ट हुआ शुद्धात्मा है। जिस प्रकार देहादि में आत्माभिमान कल्पित होता हुआ भी लोक-व्यवहार में प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त प्रमाण माने जाते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि द्रविड़ नामक आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य की रचना की थी।[६७] शंकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य में 'आगमवित्' कहकर इनका उल्लेख किया है। आत्मा में असुखित्वादि का कथन सुखित्व आदि की निवृत्ति के लिए ही है, इसमें प्रमाण रूप से उपन्यास करते हुए 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात् इति आगमविदां सूत्रम्'—इस भाष्य में 'आगमवित्' शब्द के द्वारा द्रविड़ाचार्य का ही उल्लेख किया गया है।[६८]

इन आचार्यों के अतिरिक्त ब्रह्मनन्दी, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी आदि के नाम

भी इस परम्परा में लिए जाते हैं किन्तु इनके दार्शनिक सिद्धान्त क्या थे, स्पष्ट नहीं है।

आचार्य शंकर ने तर्कपाद में सूत्रनिर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन करते हुए विभिन्न मतवादों की आलोचना कर अद्वैतसिद्धान्त को द्रढिमा प्रदान की है किन्तु सबसे भयंकर प्रहार उन्होंने बौद्धों पर ही किए हैं।

शंकर के ही समय में अद्वैतवेदान्त में एक और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है—आचार्य मण्डन मिश्र का। इनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है।[२९] ये पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा—दोनों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक, स्फोटसिद्धि तथा ब्रह्मसिद्धि इनके अनुपम रत्नग्रन्थ हैं। यद्यपि मण्डन मिश्र भी शंकर के समान अद्वैत वेदान्त के अनुयायी हैं तथापि कतिपय विचार बिन्दुओं पर उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्टतः झलक उठता है। आचार्य मण्डन ब्रह्म की शब्दात्मकता स्वीकार करते हैं।[३०] वे स्फोटवाद को मानते हैं जिसके प्रतिपादन के लिए उन्होंने 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जबकि शंकर ने स्फोटवाद का खण्डन किया है।[३१] मण्डन के अनुसार वेदान्तवाक्यों से परोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए उपासनादि की आवश्यकता है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि शब्द-प्रमाण के द्वारा तत्त्व का निश्चय हो जाने पर मिथ्याज्ञान की निवृत्ति भी हो जाती है और कभी-कभी कारण-विशेष से मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति भी होती रहती है, जैसे आप्तवचन के द्वारा एकचन्द्रनिश्चय हो जाने पर भी द्विचन्द्र आदि मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति कितने ही व्यक्तियों को होती ही रहती है। अतः उस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिए लोकसिद्ध तत्त्वदर्शनाभ्यास की आवश्यकता है। तत्त्वदर्शन का अभ्यास तत्त्वदर्शनजन्यसंस्कार को दृढ़ बनाता हुआ अविद्यारूप पूर्वसंस्कारों की निवृत्ति करके अपने कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार शब्दप्रमाण द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी अनादि मिथ्याज्ञान के अभ्यास से निष्पन्न दृढ संस्कारों की निवृत्ति के लिए तत्त्वदर्शन के अभ्यास की आवश्यकता है, इसीलिए "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—इस श्रुति में श्रवण के बाद भी मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है और इसीलिए शम, दम, ब्रह्मचर्य, यज्ञ आदि साधनों का भी विधान है, अन्यथा उनका उपदेश निरर्थक होता।[३२] शंकर के अनुसार तत्त्वमस्यादि वाक्य ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण हैं, ध्यान की आवश्यकता नहीं। ध्यान केवल साक्षात्कार के प्रतिबिम्ब की निवृत्ति के लिए उपादेय हो सकता है, न कि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण।[३३] शंकर ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान से अशेष कर्मों का क्षय नहीं मानते किन्तु 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे, अथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१४।२)—इस श्रुति के अनुरोध से जिनका कार्य आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे संचित कर्मों का ही ज्ञान से नाश मानते हैं। आरब्ध कर्मों का ज्ञान से नाश नहीं मानते। इसलिए ज्ञान होने के बाद भी जब तक प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं हो जाता तब तक शरीर रहता है और यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[३४] गीता में जो स्थितप्रज्ञ का स्वरूप बतलाया गया है[३५], वह जीवन्मुक्त का ही है। किन्तु मण्डन स्थितप्रज्ञ को ज्ञानी न मानकर साधक मानते हैं और ब्रह्मज्ञान के बाद, उनके अनुसार, सभी कर्मों का नाश हो जाता है। 'तस्य तावदेव चिरं'

इस श्रुति की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं, कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों का नाश होने से—देहपात होगा किन्तु वह देहपात ज्ञान के अनन्तर ही होगा, अतः तत्त्वज्ञान के पश्चात् देहपात की प्रतीक्षा करनी होगी, इसलिए केवल 'चिरं' न कहकर 'तावदेव चिरं…' कहा गया है। किसी को ज्ञान होते ही तत्काल मुक्ति प्राप्त हो जाती है और किसी को कुछ काल तक संस्कारवश विलम्ब होता है; जैसे रज्जुज्ञान हो जाने पर किसी को तत्काल भयकम्पादि की निवृत्ति हो जाती है और किसी में, रज्जु ज्ञान होने पर भी, भयकम्पादि अनुवर्तमान रहते हैं। इसलिए ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सर्वकर्मों का नाश होने पर भी भुज्यमान कर्म के संस्कार के कारण शरीर की स्थिति रहती है।[७६] अविद्या के आश्रय के सम्बन्ध में भी आचार्य मण्डन मिश्र का अपना विशिष्ट मत है। उनके अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है।[७७]

इस प्रकार शंकर के समय में ही अद्वैत-वेदान्त की शांकर व माण्डन—दो धाराएँ स्पष्टतः प्रवाहित हो रही थीं।

इसी प्रसंग में भास्कराचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। ये भेदाभेदवादी और ज्ञानकर्मसमुच्चवादी थे। ये शंकर के परवर्ती थे तथा ब्रह्मसूत्रों पर किये गए शांकरभाष्य का प्रत्याख्यान करने के लिए इन्होंने भी ब्रह्मसूत्रों पर एक भाष्य की रचना की थी।[७८] इनके सिद्धान्तों पर 'आलोचनभंगिमा' नामक उन्मेष में प्रकाश डालने का प्रयास किया जाएगा।

शंकराचार्य के साक्षात् शिष्यों में सुरेश्वर[७९] का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनका समय विद्वानों ने अष्टम शताब्दी माना है।[८०] इनकी कीर्ति के स्तम्भ दो ग्रन्थ हैं—बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक और नैष्कर्म्यसिद्धि। नैष्कर्म्यसिद्धि में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उन्होंने मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मसाधनता की अनुपयोगिता प्रतिपादित की है। इस प्रसंग में उन्होंने भर्तृप्रपंच, ब्रह्मदत्त और मण्डन के ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया है।[८१] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक में भी सुरेश्वराचार्य ने इस मत का खण्डन किया है।[८२] इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि जो अद्वैतवादी कर्म की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करते हैं, वह मोक्षप्राप्ति के प्रति उसमें कारणता के परिहार के लिए है। सुरेश्वर कहते हैं कि वेदान्तवाक्य-श्रवण से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, प्रसंख्यानादि की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदान्तवाक्य-श्रवण के अनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए प्रसंख्यान की आवश्यकता को स्वीकार करने का अर्थ है कि वेदान्तवाक्य निरर्थक हैं, जिस ब्रह्मसाक्षात्कार को सम्पन्न कराने में वेदान्तवाक्य असफल हैं, वहाँ प्रसंख्यान सफल है और प्रमाण है। इस प्रकार की मान्यता, सर्वथा निराधार है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चक्षु से रसनेन्द्रिय का विषय ग्रहण करने की कल्पना।[८३] सुरेश्वराचार्य ने भेदाभेदवाद का भी खण्डन किया है।[८४] सौगत सिद्धान्त भी इनके तीक्ष्ण प्रहारों का शिकार होने से बच न सका।[८५] यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सुरेश्वर ने शंकर की निदर्शन-पंक्ति से बाहर चरण-विन्यास करने का प्रयास नहीं किया है। शंकराचार्य तथा अन्य अद्वैतवेदान्ताचार्यों, विशेषकर शंकर और मण्डन में,

जहाँ पारस्परिक मतभेद है, वहाँ उन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ शंकर का ही अनुगमन किया है।

आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्यों में पद्मपादाचार्य[८६] का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इनका स्थितिकाल ८२० ई० के आस-पास माना जाता है।[८७] इनकी प्रसिद्धि का आधारग्रन्थ है शंकर के शारीरिक भाष्य पर लिखित 'पंचपादिका' नामक व्याख्या। यह व्याख्या चतुःसूत्रीपर्यन्त ही उपलब्ध है। इसी व्याख्या-बीज से आगे चलकर विवरण-प्रस्थानवृक्ष अंकुरित हुआ।

आचार्य पद्मपाद अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तमस्, कारण, लय, महासुप्ति, निद्रा, आकाश को पर्यायवाची मानते हैं।[८८] यह अविद्या या माया ही चैतन्य ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर लेती है जो इस अविद्या की कर्मपूर्णप्रज्ञासंस्कारचित्रभित्ति जीवत्वापादिका है। यह अविद्या परमेश्वराधिष्ठित होने पर विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रयरूप परिणामविशेष को प्राप्त करती है तथा सभी प्रकार के कर्तृत्वभोक्तृत्व का आधार बनती है। कूटस्थ चैतन्य ब्रह्म के संवलन से प्रकाश को प्राप्त कर यह अविद्या अहंकार कहलाती है। इसी अहंकार के कारण शुद्धात्मा को भोक्ता समझ लिया जाता है।[८९]

अविद्या के आश्रय और विषय के सम्बन्ध में आचार्य पद्मपाद का क्या दृष्टिकोण था, यह अत्यन्त स्पष्ट नहीं है, यद्यपि आगे चलकर उनके व्याख्याकार प्रकाशात्म ने ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय व विषय सिद्ध किया है।[९०] पद्मपाद ने अविद्या की जडात्मिका शक्ति को जगत् का उपादान कारण माना है।[९१]

प्रपंच और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हुए पद्मपादाचार्य ने प्रतिबिम्बवाद का सहारा लिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बिम्ब से प्रतिबिम्ब वस्त्वन्तर नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह प्रपंच (अनिदमंश) भिन्न नहीं है, वस्त्वन्तर नहीं है, वह वही है—अभिन्न है।[९२] 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से प्रतिबिम्बस्थानीयजीव में बिम्बस्थानीयब्रह्मरूपता का बोधन किया जाता है।[९३] शास्त्रीय व्यवहार भी प्रतिबिम्ब में पारमार्थिक बिम्बरूपता का समर्थन करता है[९४]—

"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥"*

आगे भी इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जीव प्रतिबिम्बकल्प ही है, हम सबका प्रत्यक्षचिद्रूप है, उसमें अन्तःकरण की जड़ता नहीं होता। वह अपना स्वरूप कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त मानता है, बिम्बकल्पब्रह्मैकरूपता को नहीं मानता। इसलिए जब बिम्बरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।[९५]

इसी प्रकार श्रवणादि में विधि मानना,[९६] स्वाध्यायाध्ययनविधि का फल अक्षरग्रहण मानना[९७] आदि कुछ पद्मपादाचार्य के अभिमत हैं, जिनको प्रकृत शोध प्रबन्ध के 'आलोचनभंगिमा' नामक उन्मेष में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आचार्य पद्मपाद ने यथावसर बौद्धमत का भी खण्डन किया है।[९८]

इसके पश्चात् अद्वैतवेदान्त की पवित्र वैदिक भूमि पर आचार्य वाचस्पति मिश्र का पदार्पण होता है।

२. अद्वैतवेदान्त की सामयिक माँग और 'भामती' का जन्म

भारत के नितान्त प्रोन्नत उज्ज्वल मस्तिष्कहिमगिरि से विविध दर्शनसरिताएँ[२६] वैदिकविचारपूरित हो विश्व के विशाल आध्यात्मिक क्षेत्रों को पवित्रता और शान्ति प्रदान करती हुई अनादिकाल से प्रवाहित हैं। समय के दुष्प्रभाव से उन पुण्यतोया तटिनियों में विक्षोभ, उत्क्रान्ति और विरोधी मतवाद के आप्लावन भयंकर रूप में आने लगे जिससे न केवल उनका प्रवाह ही अवरुद्ध व दूषित हुआ अपितु किसी-किसी के तट-बन्ध भी विध्वस्त होने लग गए; जैसे सांख्य-दर्शन का किसी समय का महानद एक पतली-सी धारा के रूप में अवशिष्ट रह गया था और वह धारा भी बौद्धों तथा जैनों की धाराओं की विपरीतोत्क्रान्ति से अवरुद्ध-सी हो चली थी। मीमांसकगण भी उस झंझावात में अपने टूटे बेड़ों को बाँधने एवं आक्रमण का सामना करने के लिए भयंकर संघर्ष में लगे थे। न्यायवैशेषिकगण अपनी विचारधाराओं के संरक्षण में भी जी-जान से जुटे थे। योग की कैवल्यप्राग्भारा चित्तनदी भी विरोधी काट-छाँट से अछूती न बची थी। आचार्यगण उसकी मर्यादा और पवित्रता बनाए रखने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे। वेद-वेदान्त के पवित्रजाह्नव-प्रवाह की सुरक्षा में केरल से कश्मीर, द्रविड़ से मिथिला तक की प्रबुद्ध चेतना बद्धपरिकर हो गई थी। कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र, आचार्य शंकर, महर्षि पतंजलि, पक्षिल स्वामी और भारद्वाज उद्योतकर जैसे विद्वद्वृषभ बौद्धों की अकल्पित विद्रोहाग्निज्वालाओं को शान्त करने में अद्भुत कौशल का परिचय दे रहे थे, फिर भी विरोधिमतवाद-झंझावात के प्राबल्य ने वैदिक सरित्सेनाओं की सुरक्षा-पंक्तियों को जर्जरित-सा कर दिया था।

किन्तु सबसे गम्भीर संकट अद्वैतवेदान्त पर आया था क्योंकि वह न केवल बौद्धों जैसे अवैदिक मतवादों की मार का शिकार हुआ था अपितु अपने सहोदर सम्प्रदायों की दृष्टि में भी उसका व्यक्तित्व संदिग्ध हो चला था और उस पर प्रच्छन्नबौद्धता का आरोप लगाया जाने लगा था—"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।" वेदान्त का ढोल पीटने वाले कुछ आचार्यगण ही उसे बौद्धमतावलम्बी कहने लगे थे।[२७] इसके अतिरिक्त एक दूसरा संकट भी था जो कि अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर एवं आन्तरिक था। शंकर और मण्डन का कुछ बिन्दुओं पर आधारित पारस्परिक मतभेद अभी दो भिन्न धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा था। किसी भी विद्वान् ने इन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य-स्थापन का प्रयास नहीं किया। यदा-कदा केवल शांकरधारा के प्रवाह को ही प्राबल्य प्रदान किया गया। यह संयोग की ही बात थी कि इस बीच मण्डन के पक्ष को उजागर करने के लिए किसी भी (उग्रपन्थी) महारथी ने लेखनी न उठाई और शांकरपक्ष आक्षेपों से बचा रहा। ऐसी स्थिति में दो ही सम्भावनाएँ थीं; प्रथम कि ब्रह्मसिद्धिकार का पक्ष उपेक्षा का शिकार होकर विलीन हो जाता और अद्वैतवेदान्त, इस प्रकार, एक अमूल्यनिधि से वंचित हो जाता; द्वितीय कि कोई विद्वान् आचार्य उसकी रक्षा व पुष्टि के

लिए लेखनी उठाता, शांकरपक्ष की अपेक्षा उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करता और इस प्रकार सहज ही अद्वैतशिविर में कभी भी समाप्त न होने वाला गृहयुद्ध छिड़ जाता जिससे केवल विरोधी मतवाद ही लाभान्वित होते और सम्भवत: आज वैदिक विचारधाराओं में अद्वैतवेदान्त की जो प्रतिष्ठा है उसका रूप कुछ और ही होता।

यह एक संक्षिप्त-सी झांकी थी आचार्य वाचस्पति मिश्र के समक्ष बीते समय की। ऐसे संक्रमणकाल में आचार्य वाचस्पति मिश्र जैसे गम्भीर चिन्तकों के दायित्वपूर्ण ओजस्वी वर्चस्व का तमतमा जाना स्वाभाविक था। अपनी समस्त दार्शनिक पद्धतियों के मूलस्रोत मीमांसा के अभिरक्षण में सर्वप्रथम आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देना आरम्भ कर दिया। मण्डन मिश्र के ग्रन्थ 'विधिविवेक' पर 'न्यायकणिका' नाम की व्याख्या लिखकर बौद्ध-जगत् की विपुलकाय अन्यायकुशकाशराशि में न्यायाग्नि की एक कणिका फेंक दी। 'न्यायकणिका' में शबरस्वामी और कुमारिल भट्ट का स्मरण सम्मानपूर्वक[१०१] करते हुए यह स्पष्ट ध्वनित कर दिया गया है कि उनके पक्ष की दृढ़ता और सुस्थिरता के लिए पूर्ण प्रयास किया जा रहा है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील तक के जिन बौद्ध विद्वानों ने मीमांसा का घोर खण्डन किया था, अवसर निकाल-निकाल प्रबल एवं अकाट्य युक्तियों से उनका प्रतिविधान वाचस्पति मिश्र ने किया है।[१०२]

भाट्ट-सम्मत शाब्दबोध प्रणाली जो प्रतिपक्ष-ज्वालाओं से दग्ध-सी हो गई थी, उसे अनुप्राणित और संजीवित करने के लिए 'तत्त्वबिन्दु' का निर्माण हुआ। इतने पर भी विरोधी मतवादों की शक्ति का समूलोन्मूलन होते न देख उद्योतकर के जर्जरित न्याय-वार्तिक का उद्धार करने के बहाने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका का निर्माण किया। उस समय न्याय के आस्तिक प्रांगण में बौद्धसंघर्ष केन्द्रित-सा हो गया था। न्यायसूत्रों के समालोचक वसुबन्धु और न्यायभाष्य के समीक्षक दिङ्नाग का वार्त्तिककार उद्योतकर ने अत्यन्त प्रौढ़ युक्तियों से खण्डन कर दिया था, किन्तु धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और उनके अनुयायी बौद्ध विद्वानों ने उनसे जमकर लोहा लिया था। न्यायवार्त्तिक का पूर्ण शरीर उनके प्रहारों से क्षतविक्षत हो गया था। वाचस्पति मिश्र ने भयंकर संघर्ष की धधकती ज्वाला में कूदकर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की घनघोर घटाओं से विरोधी योद्धाओं पर भयंकर उपलवृष्टि की और न्याय के दग्ध कलेवर को शीतल वर्षा से अभिषिक्त कर उसे हरा-भरा किया। तात्पर्यटीका के विजयध्वज की फड़फड़ाहट से समस्त सौगत-सिद्धान्त का हृदय धड़क उठा और सम्भवत: उसकी यह धड़कन अन्तिम थी। इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र ने न्यायदर्शन का 'न्यायसूचीनिबन्ध' की रेखाओं से सीमांकन इस प्रकार कर दिया कि भविष्य में उसमें किसी प्रकार की विप्लुति उत्पन्न न की जा सके। सांख्य-सप्तति के रूप में बचा-खुचा सांख्य-हृदय शान्तरक्षित के विकराल हाथों में पड़कर दिन गिन रहा था। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की पीयूष-वर्षा ने उसमें नवजीवन का संचार किया। योगभाष्य की यशोधवलिमा धूमिल हो चली थी। 'तत्त्ववैशारदी' ने उसे फिर से अपनी सहजशुक्लिमा प्रदान की। बाह्यमतवाद की छाया योगदर्शन के विमलदर्पण में आरोपित करने वाले व्यक्तियों का वाचस्पति मिश्र ने भ्रम-परिहार किया और वृषकेतु के शुभ्र-

मस्तिष्क से योगजाह्नवी का प्रादुर्भाव उद्घोषित कर वैदिक योगियों की परम्परा का परिपोषण किया। 'तत्त्ववैशारदी' ने योग के रहस्यों को ही अभिव्यक्त नहीं किया, सांख्य-सिद्धान्तों को गरिमा एवं निखार भी प्रदान किया।

आचार्य वाचस्पति मिश्र जैसे कुशल व सूक्ष्म परीक्षक से अद्वैत वेदान्त की विपन्नावस्था भी छिपी न रह सकी। जैसाकि संकेत किया जा चुका है, उस समय अद्वैत वेदान्त की दो प्रधान आवश्यकताएँ थीं—प्रथमत: उसे बौद्धावलम्बितारूप अवैदिकता के कलंक से बचाना तथा द्वितीयत: शंकर व मण्डन की भिन्न धाराओं में सामंजस्य-स्थापन। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इन दोनों आवश्यकताओं को पूर्ण किया। पहले उन्होंने 'ब्रह्म-सिद्धि' के तत्त्व-रत्नों को उपेक्षा के अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में लाने का प्रयास किया, तत्त्व-समीक्षा टीका के रूप में, जिससे कि उस अमूल्य निधि के अस्तित्व व महत्त्व का भान स्वपर सभी मतावलम्बियों को हो जाए। तत्पश्चात् बौद्धों के प्रभावक्षेत्र से अद्वैत वेदान्त को बचाने, उसकी वैदिक निष्ठा को सिद्ध करने के लिए तथा शंकर व मण्डन की विचारधाराओं में समंजसता स्थापित करने के लिए दूसरा प्रयास शंकर के शारीरक भाष्य की विवृति के रूप में किया और इस प्रकार अद्वैतवेदान्त की तात्कालिक मांग के रूप में 'भामती' का जन्म हुआ।

३. प्राक्तन अद्वैतीय मान्यता-प्रवाह

(१) अज्ञान के आश्रय और विषय की एकता का प्रवाह

अज्ञान की आश्रयता और विषयता का निरूपण करते हुए प्राचीन आचार्यों ने माना था कि अज्ञान का आश्रय और विषय एकमात्र शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही होता है, जैसाकि सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि अविद्या स्वाश्रय नहीं हो सकती। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—आत्मा और अनात्मा। अनात्मा अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता। अविद्या अनात्मा का स्वरूप ही है। इसलिए एक ऐसे अधिष्ठान में जो कि अविद्यास्वरूप वाला ही है, द्वितीय अविद्या नहीं रह सकती। यदि यह सम्भव भी होता तो फिर यह द्वितीय अविद्या उस मौलिक अविद्या में कौन-सी नवीन विशेषता उत्पन्न करेगी? अनात्मा की ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि अनात्मा स्वयं ही अविद्याजन्य है। अत: अविद्या, जो कि अनात्मा से पहले ही विद्यमान है, उस पर आश्रित नहीं हो सकती जिसकी कि वह जनक है। अविद्या के अतिरिक्त अनात्मा का अपना कोई स्वतन्त्र स्वरूप ही नहीं है। ये सभी तर्क अनात्मा को विषय मानने के विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं। इस प्रकार अनात्मा न तो अविद्या का आश्रय है और न विषय। परिशेषत: शुद्ध चैतन्य आत्मा (ब्रह्म) ही अविद्या का आश्रय और विषय है।[१०३] संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्म मुनि ने भी कहा है—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नापिगोचर:॥"[१०४]

जैसे लोकप्रसिद्ध अन्धकार जिस स्थान पर होता है उसे ही आवृत किया करता है, अन्य-

स्थलीय अन्धकार अन्यदेशीय वस्तुओं का आवरण नहीं किया करता, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक की परिपाटी यह स्थिर कर देती है कि अन्धकार का आश्रय और विषय एक ही होता है, ठीक उसी प्रकार माया, अविद्या या अज्ञान का आश्रय और विषय एक ही तत्त्व होना चाहिए। अज्ञान के विरोधी ज्ञान का स्वभाव भी ठीक वैसा ही होता है जैसा कि प्रकाश का। प्रकाश सदैव अपनी आश्रित वस्तु को प्रकाशित किया करता है। इस प्रकार प्रकाश का आश्रय और विषय एक ही होता है। इसी तरह ज्ञान का आश्रय और विषय एक ही माना जाता है। यद्यपि प्रकाश का उत्पादक-आश्रय प्रदीप होता है परन्तु व्याप्ति का आश्रय विषय ही माना जाता है, उसी प्रकार वृत्तिरूपज्ञान का उत्पादक-आश्रय अन्तःकरण देश होता है परन्तु व्याप्ति का आश्रय विषयावच्छिन्न चैतन्य माना जाता है और वही वृत्ति का विषय भी माना जाता है। प्रकाश और अन्धकार का परस्पर विरोध होने पर भी आश्रय और विषय की एकता का स्वभाव एक-जैसा ही माना जाता है। विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान का अवच्छेदकता सम्बन्ध से जो आश्रय होता है वही उसका विषय माना जाता है। फलतः ज्ञान के समान ही अज्ञान के आश्रय और विषय का एक होना ही तर्कसंगत माना जाता है। अज्ञान का आश्रय शुद्ध चैतन्य को न मानकर यदि विशिष्ट चैतन्य को माना जाए, तब विशेषण रूप अज्ञान या अज्ञान के कार्य का आश्रय भी शुद्ध चैतन्य न होकर विशिष्ट चैतन्य ही होगा। उस विशिष्ट के विशेषण-भाग का आश्रय भी विशिष्ट होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष हो जाने के कारण शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय मानना अत्यन्त उचित और न्यायसंगत है।

अज्ञान के इस आश्रय और विषय की एकता का सिद्धान्त वाचस्पति के पूर्वतन वेदान्तिगण मानते थे। इस मान्यता को भी वाचस्पति मिश्र ने नवीन दिशा प्रदान की। उनका मत था कि कोई भी युक्ति या तर्क अनुभव को अन्यथा नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है—'अहं घटं न जानामि' अर्थात् मैं घट को नहीं जानता; घटविषयक अज्ञान का आश्रय मैं हूँ।' वहाँ अज्ञान का विषय घट और आश्रय प्रमाता चेतन या जीव प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति को यह अनुभव नहीं होता कि मैं अपने को नहीं जानता। इस प्रकार अज्ञान का आश्रय और विषय, दोनों भिन्न ही अनुभवपथ में आते हैं। अन्धकारस्थल का निरीक्षण यदि ध्यानपूर्वक किया जाए तब वहाँ भी आश्रय और विषय का भेद ही परिलक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति यह कहता है कि मेघपटल की छाया के कारण मैं सूर्य को नहीं देख पा रहा हूँ। यहाँ छायारूप अन्धकार का आश्रय दर्शक के नेत्र और उसका आच्छाद्यविषय सूर्य होता है। प्रकाशस्थल पर भी प्रकाश और प्रकाश्य एक नहीं हो सकते। सूर्य जगत् का प्रकाशक है, जगद्विषयक प्रकाश का आश्रय माना जाता है, प्रकाश का आश्रय सूर्य और विषय जगत् भिन्न देखे जाते हैं—'देवदत्तो घटं जानाति'—यहाँ पर ज्ञानरूप क्रिया का आश्रय देवदत्त और विषय घट, दोनों एक नहीं हो सकते। क्रिया का कर्म सदैव उसके कर्ता से भिन्न होता है, अतएव नैयायिकों ने कर्मता के लक्षण में कर्तृबोधभेदक 'पर' शब्द का प्रवेश किया है—'परसमवेतक्रियाजन्य-फलशालित्वं कर्मत्वम्'—इस प्रकार की कर्मता या क्रिया की विषयता सदैव आश्रय से भिन्न होती है। 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति', 'देवदत्तो वृक्षम् आरोहति', 'देवदत्त ओदनं

पचति' आदि प्रयोगों के समान 'देवदत्तः स्वं गच्छति, आरोहति, पचति' जैसे अवांछनीय प्रयोग लोक में नहीं किए जाते। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान के समकक्ष अज्ञान का भी आश्रय और विषय भिन्न होता है। 'जीव ब्रह्म को नहीं जानता'—इस प्रकार का अनुभव यह सिद्ध करता है कि अज्ञान का विषय ब्रह्म और आश्रय जीव है। ज्ञान और अज्ञान के विरोध में भी समानविषयता और समानाश्रयता की अपेक्षा होती है। भिन्नविषयक ज्ञान और अज्ञान एक आश्रय में और भिन्न आश्रयों में रहने वाले ज्ञान-अज्ञान का विषय एक देखा जाता है। आश्रय और विषय की एकता मानने पर घटविषयक ज्ञान और घट-विषयक अज्ञान का समावेश एकत्र नहीं हो सकेगा। किन्तु अनुभव ऐसा नहीं होता। ब्रह्मविषयक अज्ञान का आश्रय जीव है, वाचस्पति के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे के पृष्ठों पर किया जाएगा।

(२) अविद्या की एकता का प्रवाह

वेदान्त-परम्परा के ब्रह्माश्रित अज्ञानवादी पूर्वाचार्य एक ब्रह्म के आश्रित एक अज्ञान के ही पक्षपाती थे। एक ब्रह्म के आश्रित अनेक अज्ञानों की कल्पना असंगत-सी प्रतीत होती थी। अतः "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वे० ४।५) आदि श्रुतियों में प्रतिपादित माया या अज्ञान की एकता को प्रश्रय दिया गया। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" आदि अज्ञानबहुत्वप्रतिपादक श्रुतियों की यह कहकर व्यवस्था की गई कि अज्ञान की अनेक शक्तियों को सूचित करने के लिए श्रुति में बहुवचन का निर्देश किया है। वस्तुतः अज्ञान या माया तत्त्व एक ही है, उसकी एकता के बोधक प्रमाणों को प्रमुखता प्रदान की गई। आचार्य शंकर कहते हैं—

"तदेवैकं त्रिधा ज्ञेयं मायाबीजं पुनः क्रमात्।
मायाख्यात्माऽविकारोऽपि बहुधैको जलार्कवत्॥"[११५]

अर्थात् एक ही मायाबीज अनेक रूपों में अंकुरित हो जाया करता है। सर्वज्ञात्म मुनि एक ही अज्ञान को समस्तभेदभिन्नप्रपंच का साधक स्वीकार करते हैं—

"भेदं च भेदं च भिनत्ति भेदो
यथैवभेदान्तरमन्तरेण।
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोह-
स्तथैव मोहान्तरमन्तरेण॥"[११६]

अर्थात् जैसे भेद स्वपरभेद का निर्वाहक होता है उसी प्रकार एक ही अज्ञान स्वपरकल्पना का निर्वाहक होता है, अज्ञानान्तर मानने की आवश्यकता नहीं। जैसे एक ज्ञान अनन्त उपाधियों के द्वारा भिन्न हो जाया करता है, उसकी एक ही अज्ञान विविध अन्तःकरण आदि उपाधियों के द्वारा भिन्न हो जाया करता है, उस भिन्न अज्ञान के आधार पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था बन जाती है। एकाज्ञान पक्ष के समर्थक आचार्य गौडपाद अजातिवाद इसीलिए ही करते पाए जाते हैं कि एक अज्ञान से अवच्छिन्न चैतन्य मुख्य एक ही जीव होता है। अभी तक के पुराणादिप्रसिद्ध मुक्त पुरुषों की चर्चा वैसी ही है जैसे

कोई व्यक्ति अपनी स्वप्नावस्था में अनन्त बद्ध पुरुषों को मुक्त होते हुए देखता है, वस्तु-दृष्टि से कुछ भी सत्य नहीं है। उनका कहना है—

"न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"[१०७]

अर्थात् विश्व में प्रतिदिन देखा जाता है कि कोई जीव उत्पन्न होता है, कोई मरता है, कोई बन्धन में जकड़ा जाता है तथा कोई बन्धन से मुक्त होता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सब काल्पनिक दृश्यमात्र है, वस्तुतः कुछ भी नहीं होता।

एकाज्ञानवाद का यह प्रवाह भले ही वेदान्त में उन्नत सिद्धान्त माना जाता रहा किन्तु इसकी दुरुहता, दुर्गमता अत्यन्त प्रसिद्ध है। अतः वाचस्पति मिश्र ने सोचा कि कोई भी कल्पना किसी अनिर्वचनीय अतर्कित जटिल ग्रन्थि को सुलझाने के लिए ही यदि की जाती है तब वह कल्पना सरल, सुगम, स्वच्छ होनी चाहिए कि जिससे पुरुष उस कल्पना की जटिलता में उलझ न जाए। बन्धमोक्ष-व्यवस्था की विस्पष्ट व्याख्या करने के लिए एकाज्ञानवाद व्याख्येय वस्तु का सुस्पष्ट आकार प्रस्तुत नहीं करता अपितु उसे और उलझा देता है। लौकिक व्यवहार का सुचारु निर्वाह करने के लिए शरीर के भेद से जीवों का भेद एवं जीवों के भेद से जीवाश्रित अज्ञानों का भेद मानना आवश्यक और न्यायसंगत है। जिस जीव को तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है उससे उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह जीव मुक्त हो जाता है। 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद् भवति' आदि श्रुतिपदों की गुंफनभंगिमा स्पष्ट कह रही है कि अज्ञान अनेक होते हैं। इस पर विशेष प्रकाश आगे डाला जाएगा।

(२) पंचीकरणप्रवाह

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच भूतों की उत्पत्ति का उपनिषद्-ग्रन्थ प्रतिपादन करते हैं। किन्तु तेज, जल और पृथ्वी—इन तीन भूतों की एक विशेष मिश्रण-प्रणाली त्रिवृत्करण नाम की मानी जाती है, जिस मिश्रण-प्रणाली के आधार पर प्रत्येक भूत त्रिकात्मक हो जाता है। वेदान्तसम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य त्रिवृत्करण प्रतिपादक श्रुति को उक्त पाँच भूतों की पंचीकरणप्रक्रिया का उपलक्षक मानते थे। प्रत्येक भूत पंचात्मक हो जाता है। पंचीकृत भूतबीजों से महाभूतों की सृष्टि मानी जाती है। शंकराचार्य ने कहा है—"यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं तथा पंचीकरणेऽपि समानो न्यायः।"[१०८]

अन्य दार्शनिक पंचीकरण या त्रिवृत्करण कुछ भी नहीं मानते। उनका कहना है कि पाँचों भूत अपने में विशुद्ध रूप से स्थित हैं और उनसे उत्पन्न क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियों में केवल एक-एक गुण रहता है। यही कारण है कि श्रोत्र केवल शब्द का, त्वक् केवल स्पर्श का, चक्षु केवल रूप का, रसन केवल रस का और घ्राण इन्द्रिय केवल गन्ध का ग्राहक होता है। यदि इन्द्रियों के उत्पादक भूतों में किसी प्रकार का सम्मिश्रण माना जाए तब उससे जनित इन्द्रियों में भी सभी गुणों की ग्राहकता

और कार्यवर्ग में किसी प्रकार का
होनी चाहिए किन्तु होती नहीं। अतः भूतों के कारण आदि का ग्रहण जैसे औपाधिक माना जाता है
सम्मिश्रण नहीं होता, जल आदि में उष्मा रूप से प्रतीत होते हैं। किन्तु
इसी तरह से किसी भूत में अन्य भूत के गुण औपाधिक रस और गन्ध—पाँचों गुण
वेदान्त के आचार्यगण पार्थिव कार्यवर्ग में शब्द, स्पर्श, रूप, घ्राणेन्द्रिय में केवल गन्ध-ग्रहण की
उसके अपने ही गुण मानते हैं। परन्तु पृथ्वी से उत्पन्न भूतबीज, जिन्हें तन्मात्रा कहा
ही जो योग्यता होती है इसका कारण यह है कि अपचीकृत से इन्द्रियों की उत्पत्ति
जाता है, केवल एक-एक गुण के आश्रय होते हैं। उन तन्मात्राओं नियन्त्रित होती है। किन्तु
होने के कारण केवल एक-एक गुण की आश्रयता और ग्राहकता गुणों के आश्रय होते
अन्य पार्थिवादिपिण्ड पंचीकृत भूतों से उत्पन्न होने के कारण पाँचों यह सन्देह होता है कि यदि
हैं। परन्तु पचीकरण प्रक्रिया से समुद्भूत भूतों के विषय में पाँच गुणों की उपलब्धि होती है
पृथ्वी में पचभूतों का सम्मिश्रण होने के कारण शब्दादि उपलब्धि होनी चाहिए
तब जल, तेज, वायु और आकाश में भी शब्दादि पाँच गुणों की अधिक-से-अधिक शब्द
किन्तु आकाश में केवल शब्द की ही उपलब्धि होती है। वायु में स्पर्श, रूप और रस, इन
और स्पर्श; तेज में शब्द, स्पर्श और रूप की एवं जल में शब्द, अत्यन्त असगत
चार गुणों की उपलब्धि होती देखी जाती है। अतः पंचीकरणप्रक्रिया उनका कहना था
और अनुपादेय है। श्री वाचस्पति मिश्र इस आपत्ति से सुपरिचित थे। स्वीकार की जा सकती है जब
कि किसी अदृश्य अननुभूत अप्रत्यक्ष वस्तु की सत्ता तभी प्रत्यक्ष श्रुति उपलब्ध नहीं
कि उसमें प्रबल आगम प्रमाण हो। पंचीकरणप्रक्रिया में कोई इन तीनों में ही मानी जा
होती। अतः भूतसम्मिश्रणपद्धति केवल तेज, जल और पृथ्वी— तेज, जल और पृथ्वी—
सकती है, जैसाकि त्रिवृत्करणश्रुति[१०९] से प्रमाणित होता है। अर्द्धभाग के दो भाग
तीनों पहले दो समान भागों में विभक्त होते हैं, उनमें से एक-एक मिश्रीकरण माना जाता है।
किए जाते हैं, उन दो भागों का दूसरे भूतों के अर्द्धभाग में जल में गन्ध, और
इस प्रकार इन तीनों भूतों में प्रत्येक त्रिकात्मक हो जाता है। फलतः मूल कथित श्रुति-
तेज में गन्ध तथा रस की भी कल्पना की जाती है। इस कल्पना का पचीकरण प्रवाह में किसी
वाक्य माना जा सकता है किन्तु पूर्वाचार्यों से प्रतिपादित यही कारण है कि
प्रकार का श्रुतिप्रमाण न होने के कारण संग्राह्य प्रतीत नहीं होता। अपनी रुचि प्रदर्शित
आचार्य वाचस्पति ने, जैसाकि आगे हम देखेंगे, त्रिवृत्करण के प्रति
प्रदर्शित की है।

(४) अनवच्छेदवाद-प्रवाह

> "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
> एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"[११०]

इस प्रकार के उपनिषद्वाक्यों के आधार पर जीवों को एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब-मात्र माना जाता था। एक अनेक रूप कैसे होते हैं, इस प्रश्न का सरल उत्तर प्रतिबिम्ब की ओर संकेत करना समझा गया था। जिस प्रकार एक ही चन्द्र अनन्त जलाशयों में

प्रतिबिम्बित होकर अनेक हो जाया करता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनन्त अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होकर अनन्त रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार समस्त जीव एक ही ब्रह्म के अनन्त प्रतिबिम्ब हैं।

पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त बहुत समय तक प्रवाहित रहा। प्रतिबिम्ब के आधार-द्रव्य के धर्मों का आरोहण करके जीवों को गतिशीलता एवं व्यवहारप्रवर्तन की क्षमता प्रदान की जाती थी। जलगत चन्द्रप्रतिबिम्ब में प्रतीयमान कम्पन जल का धर्म होता है, प्रतिबिम्ब का नहीं। प्रतिबिम्ब के साथ आध्यासिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सत्त्व आदि गुणों के कर्तृत्वादि धर्म जीव पर आरोपित होकर जीव को कर्ता और भोक्ता बना देते हैं। वस्तु दृष्टि से जीव अकर्ता, अभोक्ता, असंग, चैतन्य है। ब्रह्म-सूत्रकार ने भी कहा है—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) इस सूत्र में वर्णित दृष्टान्त का सामंजस्य करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता न होकर विवक्षितांश में ही होती है। सर्वांश में सारूप्य मानने पर दोनों के एक हो जाने से दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव का ही उच्छेद हो जाएगा। यहाँ जलसूर्यादि दृष्टान्त में तथा देहादि उपाध्यन्तर्गत चैतन्य में इसी अंश में साम्य विवक्षित है कि जिस प्रकार जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि, ह्रास, चलन आदि धर्मों का अनुगमन प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः सूर्य उन धर्मों वाला नहीं है, उसी प्रकार परमार्थतः अविकारी तथा एकरूप सद्ब्रह्म देहादि उपाधियों के कारण उपाधि-धर्म वृद्धिह्रासादि से युक्त प्रतीत होता है किन्तु परमार्थतः उन धर्मों वाला नहीं है।[111] इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सामंजस्य की उपपत्ति हो जाती है और किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

वेदान्तसिद्धान्त की इस अकल्पित पहेली का मुखाभास बौद्धों के उस वक्तव्य की छायामात्र प्रतीत होती है जिसमें चन्द्रकीर्ति ने कहा है—

> "फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
> मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः।
> मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥"[112]

जिस प्रकार माध्यमिकों ने आदित्यबन्धु की दुहाई देते हुए सर्वास्तित्ववाद के पंचस्कन्धसिद्धान्त को आकाशकुसुम-सा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार जीवप्रतिबिम्बवादी आचार्यों ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बताकर प्रतिबिम्ब की कल्पना को मिथ्याभिनिवेशमात्र बताते हुए बिम्ब से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की व्यावहारिक सत्ता भी नहीं मानी है। प्रतिबिम्ब की पृथक् सत्ता मान लेने पर भी उसमें अर्थक्रिया-कारिता का सामंजस्य सुकर प्रतीत नहीं होता। सूर्य का प्रखर तेज जो कार्य कर सकता है, उस तेज का प्रतिबिम्ब वह कार्य नहीं कर सकता। दर्पणविशेष में केन्द्रित सूर्यरश्मियाँ ही दाहक होती हैं, रश्मियों का प्रतिबिम्ब नहीं। अतः वाचस्पति मिश्र ने जीवप्रतिबिम्ब-वाद जैसे अव्यावहारिक प्रवाहों को अवच्छेदवाद की ओर मोड़ दिया था। दर्पण में केन्द्रित दाहक सूर्य-रश्मियों का अवच्छेदक जैसे दर्पण होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में केन्द्रित या अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव मानकर जीव की व्यावहारिकता

और कार्यक्षमता सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयत्न वाचस्पति मिश्र ने किया है जिसकी विशेष चर्चा आगे की जाएगी।

(५) शब्दप्रत्यक्षता-प्रवाह

वेदान्त के पूर्वाचार्यों को अपने सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में वैदिक परम्परा पर आधृत आर्षप्रणाली से प्रकाश तो प्राप्त हुआ ही है, बहुत से सिद्धान्तों की रूपरेखा चार्वाक बौद्ध, जैन जैसे अवैदिक पूर्व पक्ष[११३] एवं सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक[११४] मतावलम्बी द्वैतियों के पूर्व पक्षों को दृष्टिकोण में रखते हुए संघटित हुई प्रतीत होती है। ये सभी पूर्वपक्षी प्रत्यक्षप्रमाणवादी हैं और चार्वाक को छोड़कर शेष सभी अनुमान का ही प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुँच के बाहर[११५] मीमांसाचार्यों ने अपने धर्म की कक्षा का ध्रुवीकरण किया है जहाँ पर प्रत्यक्ष और अनुवादिगणों का क्षोदक्षेम न हो सके। उसी मीमांसा की ब्रह्म-निदर्शनी[११६] विधा में भी ब्रह्म तक पहुँचने का एकमात्र शब्दप्रमाण को द्वार माना गया है जैसाकि आचार्य शंकर कहते हैं—"तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ०३।६।२६) इत्येवमादिश्रुतिभिः।" इससे पूर्व 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में भी कहा है—"यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः"[११७] अर्थात् केवल वेदान्तवाक्यों के आधार पर ब्रह्म की अवगति हो सकती है, अभिधाशक्ति के द्वारा शब्द शुद्धब्रह्मतत्त्व को नहीं कह सकता, किसी आध्यासिक धर्म का अवलम्बन करके ही अविशुद्ध ब्रह्म वाच्य कक्षा में प्रविष्ट माना जाता है। स्वयं आचार्य शंकर ने स्पष्टीकरण किया है—"नापि शास्त्रप्रमाणवेद्यः प्रमाणजन्यातिशयाभावात्। यद्येवं शास्त्रयोनित्वं कथमुच्यते प्रमाणादिसाक्षित्वेन प्रकाशस्वरूपस्य प्रमाणाविषयत्वे अध्यस्तातद्रूपत्वेन शास्त्रप्रमाणत्वमित्यप्रमेयः।"[११८] अर्थात् 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुतिपदों में 'वाचः' इस प्रकार का बहुवचन ध्वनित करता है कि शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि समस्त वृत्तियों के द्वारा विशुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने की क्षमता नहीं रखता अपितु उसके औपाधिक आकार को इंगित मात्र कर सकता है, वह भी केवल वेदान्त शब्द। इस सिद्धान्त के अनुसार 'दशमस्त्वमसि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य जिस ब्रह्म का प्रत्यक्ष बोध कराते हैं, उसे भी विशिष्टात्मक ही माना जाता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। फिर भी वाक्यपदीयकार के शब्दानुगम सर्वप्रत्ययवाद सिद्धान्त की छाप प्रायः सभी वैदिकमतावलम्बी दार्शनिकों पर इस प्रकार व्याप्त थी कि वे शब्द की एक अक्षयक्षमता स्वीकार करते थे और उसकी समता का सामर्थ्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों में कदापि नहीं माना जाता था। इतना अवश्य अन्तर रहा कि जहाँ अन्य शाब्दिक शब्दतत्त्व को लोकोत्तर स्फोट या शब्दब्रह्म की कक्षा प्रदान करते थे, वहाँ अन्य दार्शनिक उपवर्ष और शबर का मतवाद अपना कर केवल वर्णों को ही शब्द मानते थे।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि 'दशमस्त्वमसि' के समान वाक्यावलि प्रतिपाद्यपदार्थ की संनिधि होने पर प्रत्यक्षात्मक बोध उत्पन्न करती है—यह वाचस्पति के पूर्व

वेदान्ताचार्यों की धारणा थी। विषय की संनिधानावस्था में विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाणचैतन्य से अभेद हो जाना स्वाभाविक है, इस प्रकार का बोध उत्पन्न करने का सामर्थ्यचित्त की समाहित वृत्ति या समाधि में भी नहीं माना जाता। श्रवण और मनन के समान निदिध्यासन अवस्था को आवरणनिवृत्ति या विपरीत भावना के निराकरण में उपयुक्त माना जाता था, जैसाकि शंकराचार्य ने कहा है—

> "तावत्कालं प्रयत्नेन कर्त्तव्यं श्रवणं सदा।
> प्रमाणसंशयो यावत् स्वबुद्धेर्न निवर्तते ॥ ८१५ ॥
> प्रमेयसंशयो यावत् तावत्तु श्रुतियुक्तिभिः।
> आत्मयाथार्थ्यनिश्चत्यै कर्त्तव्यं मननं मुहुः ॥ ८१६ ॥
> × × ×
> समाधिसुप्त्योर्ज्ञानं चाज्ञानं सुप्त्यान्न नेष्यते।
> सविकल्पो निर्विकल्पः समाधि द्वाविमौ हृदि ॥ ८२७ ॥
> मुमुक्षो र्यत्नतः कार्यौ विपरीतनिवृत्तये।
> कृतेऽस्मिन् विपरीताया भावनाया निवर्तनम् ॥ ८२८ ॥"[११६]

अर्थात् प्रमाणगत संशय की निवृत्ति के लिए श्रवण, प्रमेयगत संशय को मिटाने के लिए मनन एवं विपरीत भावना का निरास करने के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। सविकल्प और निर्विकल्प समाधि का ग्रहण निदिध्यासनपद से ही किया जाता है। प्रमेयगत संशय का निर्देश कहीं-कहीं प्रमेयगत असम्भावना पद से किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत या असंस्कृत मन में उस सामर्थ्य का प्राकट्य नहीं माना जाता जो विशुद्ध ब्रह्म के विशदावह्रास प्रत्यक्ष को जन्म दे सके।

सांख्य और योगदर्शन का ब्रह्मसूत्रों में निराकरण हो जाने के कारण योगदर्शन-प्रदर्शित ऋतम्भरा प्रज्ञा जैसी सबल मानसवृत्तियों पर से वेदान्त का विश्वास उठ गया था। कुमारिल भट्ट के द्वारा बौद्धमार्गप्रथित सर्वज्ञता का पूर्णतया निराकरण हो जा चुका था, अतः सर्वज्ञतावाद वेदान्त में पहले आदर नहीं पा सका था। कुमारिल भट्ट ने भी ब्रह्मतत्त्वज्ञान का साधन वेदान्त को ही बताया है। बौद्ध बावदूकों को किसी प्रकार का अवसर वैदिक दार्शनिकों के द्वारा नहीं दिया जाना चाहिए[११०], इस प्रकार का कुमारिल भट्ट का अनुरोध अवश्य वैदिक दार्शनिकों के मस्तिष्क में रहा होगा, इसलिए भी यौगिक चित्तवृत्तियों को आवरण या प्रतिबन्धक की ही निवृत्ति में सीमित किया गया था। न्याय-वैशेषिक जैसे दर्शनों की अत्यन्त अनपेक्षा के कारण इनके शब्दपरोक्षवाद का प्रभाव नगण्य-सा रहा। अतः तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाया करता है, यह पुरातन वेदान्त-सम्मत-सिद्धान्त वाचस्पति के पूर्व तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होता चला आया था। श्री पद्मपादाचार्य प्रत्यक्षदर्शन का अर्थ करते हुए कहते हैं "दर्शनं ततो वाक्यार्थ स्थैर्यान्निरस्तसमस्तप्रपंचावभासविज्ञानघनैकतानुभवः।"[१११] अर्थात् यह अनुभव विस्मृतचामीकर का या विस्मृत दशम पुरुष का दर्शन अनुकूल वाक्यों के द्वारा ही होता देखा जाता है। जहाँ पर आचार्य पद्मपाद ने कहा है—"समारोपितनिवर्तनमुखेन

नित्यसिद्धचैतन्यस्य ब्रह्मस्वरूपतासमर्पणाद् वाक्यविषयतोपपत्तेः''[१२१] यहाँ पर 'शास्त्रं मोहनिवर्तनम्' के बौद्ध-सिद्धान्त की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है और महावाक्यों से भिन्न समस्तवेदान्तवाक्यों के लिए इस वक्तव्य का उपयोग माना जाता है।

शब्दप्रत्यक्षवाद के इस प्रबलप्रवाह को मोड़ते हुए वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म का मानसप्रत्यक्ष माना है। उचिततम भी यही प्रतीत होता है क्योंकि सत्य वस्तु का यथार्थ-दर्शन अनेक प्रकार का नहीं हुआ करता, उसके निरूपण की पद्धतियाँ अवश्य ही वक्ता के उच्चावच योग्यतास्तर के अनुसार विविध हो जाया करती हैं। अतः जैसे ताप, छेद और निकर्ष के द्वारा सुवर्ण शुद्ध हो जाया करता है, भले ही शोधक व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक, उसमें अन्तर नहीं आया करता, इसी प्रकार व्रत, शील और आचारों के द्वारा परिशीलित संस्कृत योगियों का मानसचक्षु अवश्य वह एक दिव्य तेज प्राप्त कर लिया करता है जिससे सत्य प्रकाशित होकर ही रहता है, भले ही वह योगी[१२२] किसी सम्प्रदाय का हो। श्रवण, मनन और निदिध्यासन की शोधक भूमियों पर प्रवाहित चित्तनदी नितांत उज्ज्वल और स्वच्छ हो जाया करती है, उसमें से अधिष्ठानतत्त्व के वास्तविक रूप का दर्शन कोई भी कर सकता है। समस्त दर्शनों के परिशीलन से प्रोद्भूत वाचस्पति की प्रज्ञा एकान्ततः सत्यपक्ष का ही प्रकाश करती है। इस पर प्रकाश आगे डाला जाएगा।

इसी प्रकार कुछ अन्य मान्यताओं का प्रवाह जो पुरातन काल से चला आता था, उसका भी दिशापरिवर्तन या उपसंहार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने किया है जिनका दिग्-दर्शन उनकी विशेषताओं में किया जाएगा।

सन्दर्भ

१. ब्र० सू० १।२।२८
२. "स एषोऽग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद।" —शतपथ० १०।६।१।११
३. ब्र० सू०, १।२।२९
४. वही, १।२।३०
५. वही, १।२।३१
६. वही, १।४।२०
७. वही, १।४।२१
८. वही, १।४।२२
९. वही, ४।४।५
१०. वही, ४।४।६
११. वही, ४।४।७
१२. अपनी कृति में अपने ही नाम से किसी सिद्धान्त विशेष का उल्लेख आचार्य कर दिया करते हैं, यथा शाण्डिल्य ने अपने धर्मसूत्रों में अपना नाम दिया है—"उभय-परां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्।" —सूत्र ३१

१३. "आत्मैकत्वपरां बादरायणः" —शाण्डिल्य० ३०

१४. इनके व्यक्तित्व व कृतित्व के सम्बन्ध में विद्वानों में गम्भीर मतभेद है। कुछ लोग गौडपाद को व्यक्तिविशेष का नाम न मानकर सम्प्रदायविशेष का नाम मानते हैं। इसी प्रकार इनकी रचना के सम्बन्ध में भी मतभेद है कि इन कारिकाओं में कितनी इनकी हैं, आदि। —द्र० अच्युत, पृ० २१-२२

१५. S. Radha Krishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 452

१६. माण्डूक्यो०, १।११

१७. वही, १।१३

१८. वही, २।१-२

१९. वही, २।३

२०. वही, २।१७-१९, सम्भवतः शंकर को अध्यास का विचार यहीं से प्राप्त हुआ है।

२१. वही, २।३२

२२. वही, ३।३-५

२३. वही, ३।३७

२४. वही, ३।३८

२५. वही, ३।३९

२६. वही, ३।४०-४१

२७. वही, ४।४

२८. वही, ४।१०

२९. वही, ४।४५

३०. वही, ४।४७

३१. वही, ४।४८

३२. वही, ४।९९

३३. गोपी० : अच्युत, पृ० १९

३४. प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' : सर्वदर्शनसंग्रह (हिन्दी अनुवाद), पृ० ६३१, चौखम्बा विद्या भवन, १९६४

३५. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 81

३६. प्रकरणग्रन्थाः, पूना ओरियण्टल सीरिज नं० ८, द्वितीय संस्करण, १९५२

३७. गोपी० : अच्युत, पृ० २५-२६

३८. "तस्मात् केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः" —शां० भा०, गीता ३।१

३९. (अ) गीताभाष्य, पृ० २, मोतीलाल बनारसीदास, १९६४ (भारतीयाधिशासन के संरक्षण में प्रकाशित)

(ब) शारीरक भाष्य, ३।४।२७-२८

४०. शारीरकभाष्य, २।१।२७

४१. वही, १।१।४, पृ० १२३-२४

४२. वही, पृ० १२५-२६
४३. वही, पृ० ११६-१७
४४. वही, २।१।१४, पृ० ४६२
४५. ब्र० सू०, २।१।१४
४६. वही
४७. "औपनिषदंमन्या अपि केचित् प्रक्रियां रचयन्ति......" —बृह० भाष्य, २।३।६
४८. आचार्य आनन्दगिरि ने शंकर के उपर्युक्त भाष्य पर रचित—

"अप्यौपनिषदंमन्याः केचिदत्यन्तनैपुणात् ।
प्रक्रियां रचयित्वाऽऽहु र्वेदान्तार्थविपश्चितः ॥"

इस वार्तिक की व्याख्या में कहा—

"......स्वमतमुक्त्वा भर्तृ प्रपंचप्रक्रियामवतारयति । अपीत्यादिना"

—बृह० भाष्यवार्तिकव्याख्या, २।३।९०

४९. शारीरकभाष्य, १।३।२८
५०. वही, ३।३।५३
५१. भास्करभाष्य, १।१।१
५२. वही, १।३।२८
५३. "अत्र शाबरम्, गौरित्यत्र कश्शब्दः गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष इति । वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति स्यान्नाम ।"

—तत्त्वटीका, पृ० १८७, ग्रन्थमाला आफीस, कांजीवरम्, १९४१

५४. बृह० भाष्य, १।४।७
५५. बृह० भाष्यवार्तिक (सम्बन्ध) श्लोक ७९७
५६. बृह० भाष्यवार्तिक टीका—सम्बन्ध श्लोक ७९७
५७. नैष्कर्म्यसिद्ध, १।६७, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज, १९२५
५८. "वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैवाज्ञानस्य निवृत्ते र्ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तेः ।"

—चन्द्रिका व्याख्या (ज्ञानोत्तम मिश्र कृत) १।६७, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरिज, १९२५

५९. गोपी० : अच्युत, पृ० १७
६०. ब्र० सू० शां० भा०, १।१।४
६१. प्रबोधपरिशोधिनी, १।१।४
६२. कल्पतरु, ३।३।२५
६३. तन्त्रवार्तिक, ३।३।१४, पृ० ८५२-५३
६४. वही, १।४।१, पृ० २८०-८१
६५. वही, २।१।१, पृ० ३५७
६६. गोपी० : अच्युत, पृ० १९

६७. वही, पृ० १६
६८. माण्डूक्यो० २।३२ छान्दो० भाष्य (३।१०।४) में भी शंकर ने 'अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः'—इस प्रकार उल्लेख किया है, जिसे स्पष्ट करते हुए आनन्दगिरि ने कहा है—"यद्यपि श्रुतिविरोधे स्मृतिप्रमाणं तथापि यथाकथंचिद् विरोधपरिहारं द्रविडाचार्योक्तमुपपादयति······।"

—आनन्दगिरिकृतव्याख्या ३।१०।४

६९. (अ) A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 87
(ब) श्री एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री : आभोगभूमिका, पृ० १०
७०. "अक्षरमिति शब्दात्मतामाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात्, अपरिणामित्वं वा,···। कथं तावच्छब्दात्मता ? "परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः" इत्यादिश्रुतिभ्यः।"

—ब्रह्मसिद्धि, पृ० १६-१७

७१. शारीरकभाष्य, १।३।२८
७२. ब्रह्मसिद्धि, पृ० ३५
७३. शारीरकभाष्य, ४।१।२
७४. वही, ४।१।१५
७५. गीता, २।५५-७२
७६. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०-३१
७७. वही, पृ० १०-११
७८. "सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥"

—भास्करभाष्य, प्रारम्भिक श्लोक

७९. कुछ लोगों के अनुसार मण्डन ही संन्यासश्रम में सुरेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इस विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने ब्रह्मसिद्धि (मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स सीरीज, १९३७) की भूमिका में इस विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला है तथा तर्कों के आधर पर दोनों को भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है। इसी प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि विश्वरूप और सुरेश्वर अभिन्न थे (द्र० गोपीनाथ कविराज की भूमिका 'अच्युत' पृ० ३९, दासगुप्त : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग-२, पृ० ८२—८७)।
८०. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 98
८१. नैष्कर्म्यसिद्धि, १।५४—७९, ३।८८—९३, ३।१२३—१२६
८२. बृह० भाष्यवार्त्तिक, ४।४।७८६—८१०
८३. नैष्कर्म्यसिद्धि, ३।११७
८४. वही, १।७८
८५. बृह० भाष्यवार्त्तिक, २।३।८७-८८, ४।३।४७३—७०८
८६. पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार इनका यथार्थ नाम सनन्दन था तथा वे काश्यप-

श्रोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। यह निष्कर्ष विद्वान् लेखक ने मठाम्नाय की निम्नांकित पंक्तियों के आधार पर निकाला है—

"गोवर्द्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥
श्री पद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत।" —अच्युत, पृ० ४५

८७. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 102

८८. पंच०, पृ० ६८, मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल सीरीज, १६५८

८९. वही, पृ० ६८-६६

९०. पंच० विव०, पृ० २१०, संस्करण उपर्युक्त।

९१. पंच० पृ० २६, संस्करण उपर्युक्त।

९२. वही, पृ० १०४

९३. वही, पृ० १०८

९४. वही

* मनु० ४।२७

९५. वही, पृ० १११

९६. वही, पृ० ३५२-५३

९७. वही, पृ० २२२-२३

९८. वही, पृ० ११८—३३, २८२

९९. अप्पयदीक्षित के मनोरम शब्दों में इस भाव की अभिव्यंजना इस प्रकार की गई है—

"अधिगतभिदा पूर्वाचार्यानुपेत्य सहस्रधा।
सरिदिव महीभेदान् सम्प्राप्य शौरिपदोद्‌गता॥"

—सिद्धान्त० पृ० २, चौखम्बा

सिद्धसेन दिवाकर ने भी कहा है—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥"

—द्वात्रिंशिका ४।१५

१००. "ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनः······"

—भास्कराचार्य, शारीरकभाष्य २।२।२६

१०१. शबर स्वामी के लिए कहा गया है—"यथाह आचार्यः" (पृ० २६१)
कुमारिल भट्ट का 'वार्तिककारमिश्राः' (पृ० १०६) कहकर उल्लेख किया गया है।

१०२. यथा क्षणभंगवादनिराकरण पृ० १३३, अर्थक्रियाकारितारूपसत्ता का निराकरण पृ० १६४, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष का खण्डन पृ० १६२, ज्ञान की निरालम्बनता का निराकरण, पृ० २५३—६८ पर किया गया है।

१०३. नैष्कर्म्यसिद्धि, गद्यांश ३।१, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९५५
१०४. संक्षेपशारीरक, १।३१६, काशिका यन्त्रालय, संवत्, १९४४
१०५. उपदेशसाहस्री १७।२७, पूना संस्करण, १९२५
१०६. संक्षेपशारीरक, १।५५
१०७. गौडपादकारिका, २।३२, माण्डूक्यो०
१०८. शां० भा० छान्दो० ६।४।२, आनन्दाश्रम मुद्रणालय संस्करण, सन् १८९०
१०९. "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" —छान्दो० ६।३।३
११०. उद्धृत शांकरभाष्य, ३।२।१८, पृ० ७१०
१११. ब्र० सू० शां० भा०, ३।२।२०
११२. नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र की प्रसन्नपदा व्याख्या, १।३, पृ० १३, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा संस्करण, सन् १९६०
११३. किसी समय सामान्य शास्त्रचर्चा में बौद्ध, जैन और चार्वाक के मतवाद पूर्वपक्ष में ही रखे जाते थे, जैसाकि आचार्य राजशेखर (लगभग १०वीं शताब्दी) ने कहा है— "अर्हद्भदन्तदर्शने' लोकायतं च पूर्वः पक्षः" (काव्यमीमांसा, द्वितीयोऽध्याय, पृ० १०, चौ० सं० १९६४)
११४. सांख्यादि आचार्यगण वैदिक होने पर भी अपने कपिलादि आचार्यों के द्वारा प्रणीत सूत्रग्रन्थों पर गाढ़ श्रद्धा रखने के कारण कपिलादि महर्षियों के द्वारा संस्थापित द्वैतवाद एवं उसके अनुरूप वैदिक व्याख्यानों का प्रतिपादन करने के कारण अद्वैत वेदान्त के पूर्वपक्ष की कक्षा में रखे जाते हैं, जैसाकि आचार्य शंकर ने कहा है— "परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्वलम्बेरन्, तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युः।"

—शां० भा० ब्र० सू० २।१।१, पृ० ४३३

११५. मीमांसाचार्य महर्षि जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२) सूत्र में धर्म को वैदिक पदों के द्वारा अभिलक्षित बताया है और उनके व्याख्याकारों ने धर्म की वेदैकसमधिगम्यता पर प्रकाश डाला है।

—शाबरभाष्य, १।१।२, कुमारिल भट्ट का वार्तिक

११६. शारीरकभाष्य, २।१।३, पृ० ४३९
११७. वही, १।१।३
११८. विष्णुसहस्रनामभाष्य, श्लोक संख्या १९, पूना संस्करण, १९२५
११९. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः (प्रकरण ग्रन्थाः)
१२०. प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे॥
क्वचिद् दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम्॥

—तन्त्रवार्तिक, १।३।२

१२१. पंचपादिका, पृ० ९३-९४, लाजरस संस्करण, सन् १८९१

१२२. वही, पृ० ९९

१२३. आचार्य गौडपाद ने उस तुरीयावस्था समाधि की दुरूहता दिखाते हुए भी योगी के लिए किसी सम्प्रदायविशेष का होना आवश्यक नहीं समझा—

"अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥

—गौडपादकारिका, ३।३९, माण्डूक्यो०

३
भामती की आभा

(१) भामती की विशेषताएं

आचार्य वाचस्पति के समय तक ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की केवल एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या 'पंचपादिका' उपलब्ध थी। आचार्य के साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य के द्वारा प्रणीत 'पंचपादिका' शांकर भाष्य के कुछ अंश मात्र—चतुःसूत्री भागमात्र की व्याख्या है। इतिहासवेत्ता मनीषियों का कहना है कि ८०० ई०[1] के लगभग इसका निर्माण हुआ था। आचार्य वाचस्पति का समय सन् ८४१ ई० के लगभग माना जाता है अर्थात् लगभग अर्द्ध शताब्दी तक पंचपादिका ने शांकरभाष्य के भावों का प्रतिनिधित्व किया। उसकी कोई व्याख्या भी उस समय की अवधि में अस्तित्व में नहीं आई थी क्योंकि प्रकाशात्म यति का 'विवरण' उसकी प्रथम व्याख्या है जिसका निर्माण १००० ई० के आसपास माना जाता है जो कि वाचस्पति मिश्र से लगभग १५० वर्ष पश्चात् का है। वाचस्पति मिश्र के हृदय में अवश्य कुछ ऐसी विशेषताएं जागरूक हुई होंगी जिनके कारण उन्होंने भाष्यार्थ को अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया, ऐसी कुछ विशिष्ट विचार-लहरियां करवटें ले रही होंगी जिनके कारण उन्होंने भाष्य को एक नूतन विवृति प्रदान करने के लिए लेखनी उठायी होगी। गवेषक विद्वानों की दृष्टि में इस प्रकार की विशेषताएँ अनेक हो सकती हैं किन्तु उनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को प्रस्तुत उन्मेष की प्रथम दृष्टि के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

१. व्याख्या-शैली

वक्ता 'क्या कहता है?' इसके साथ-साथ 'कैसे कहता है?' इस बात का भी अपना महत्त्व होता है क्योंकि समीचीन एवं मनोवैज्ञानिक कथन-पद्धति के अभाव में अच्छी-से-अच्छी तथा तथ्यपूर्ण सामग्री भी निरुपयोगी बनकर रह जाती है, और कई बार तो अनेक भयंकर भ्रान्तियों को भी जन्म दे डालती है, जैसाकि दैनिक व्यवहार में भी देखने को मिलता है। इसलिए कोई भी सजग साहित्यकार कथ्य सामग्री पर ध्यान रखने के साथ ही कथन-शैली का भी चयन बड़ी सावधानी के साथ करता है। सौभाग्य से भारतीय साहित्य-विशारद इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक यत्नशील रहे हैं। अपनी कथन-पद्धति को अधिक प्रभावशाली एवं रुचिकार बनाने के लिए ही उन्होंने अभिधा से

आगे बढ़कर लक्षणा व व्यंजना का सहारा लिया, इसी कथन-पद्धति को लाटी, गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी आदि रीतियों में विभक्त किया, छन्द और अलंकार भी इस कथन-पद्धति को सजाने-सँवारने के लिए ही अपनाये गए। अतः प्राचीन काल से ही कथन-शैली पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र जैसा सर्वशास्त्रपारंगत एवं लेखनी का धनी विचारक अपनी अभिव्यक्ति-पद्धति की उपेक्षा भला कैसे कर सकता था। वेदान्त की विचारपरिधि में प्रवेश करते-करते उनकी लेखनी न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा आदि विभिन्न शास्त्रों के संघर्षण से मंज चुकी थी। यही कारण है कि शांकरभाष्य के भावों के प्रस्फुटीकरण में जैसी सफलता इसे मिली वैसी किसी अन्य लेखनी को नहीं।

भाष्य के कथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सभी सम्भव पद्धतियों का आश्रयण किया है। भाष्यगत पारिभाषिक शब्दों को खोलकर उनका साम्प्रदायिक अर्थ समझाने की पद्धति उन्होंने अपनायी है, यथा—(१) 'स्मृते रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः, असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वम्'[२] (२) 'अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा। एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।'[३] (३) 'प्रत्यगात्मा अशक्यनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयमंचति जानातीति प्रत्यङ्, स एव चात्मेति प्रत्यगात्मा'।[४] (४) 'मान्तत्वं निपात्य' 'माङ् माने' 'मानपूजायाम्' इत्यस्माद्वा धातोः 'मान्बधा' इत्यादिनाऽनिच्छार्थे सनि व्युत्पादितस्य मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवचनत्वात्।'[५] (५) '(विषयाः) एते हि चिदात्मानं विषिण्वन्ति अवबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्।'[६] (६) 'तच्च त्रिगुणं प्रधानं प्रधीयते क्रियतेऽनेन जगदिति, प्रधीयते निधीयतेऽस्मिन्प्रलय-समये जगदिति वा प्रधानम्'।[७] इत्यादि शब्दों का व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण कर उन्हें सर्वग्राह्य बनाने का प्रयास मिश्र जी ने किया है।

कहीं-कहीं आचार्य मिश्र एक कोशकार की भाँति शब्दों का संक्षेपतः अभिप्रेत अर्थ रखते चले गए हैं, जैसे—(१) 'परत्र=शुक्तिकादौ परमार्थसति'[८] (२) 'अन्यधर्मस्य =ज्ञानधर्मस्य रजतस्य'[९] (३) 'अन्यत्र=बाह्ये'[१०] (४) 'विषयधर्माणां=देहेन्द्रियादि-धर्माणाम्'[११] (५) 'देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य=तादात्म्यतद्धर्माध्यासहीनस्य'।[१२] (६) 'प्रतिपत्तिः=प्राप्तिः'[१३] (७) 'आत्मैकत्वं=अविगलितनिखिलप्रपंचत्वम्'[१४] (८) 'भूतं=सत्यम्'[१५] (९) 'विजीयते=वशीक्रियते।'[१६] (१०) 'संपत्=प्रकर्षः'।[१७] इत्यादि।

संस्कृत के विवेचनात्मक साहित्य की यह विशेषता है कि पहले पूर्वपक्ष के रूप में किसी विरोधी मत को प्रस्तुत किया जाता है, तदनन्तर उसका खण्डन करके उत्तरपक्ष के रूप में अपने मत की प्रतिष्ठा की जाती है।[१८] वाचस्पति मिश्र ने इस परम्परा का पालन किया है। किन्तु उनकी विशेषता इस विषय में यह है कि वे पूर्वपक्ष को पूर्ण प्रमाण और तर्कों के साथ प्रस्तुत करते हैं और उसके पारिभाषिक शब्दों के साम्प्रदायिक अर्थ को स्पष्ट करते हैं, जैसाकि बौद्धमत विवेचन[१९] एवं जैनमत विवेचन[२०] के अवसर पर उन्होंने किया है।

प्रत्येक भाषा में कुछ लोकोक्तियां व मुहावरे प्रचलित होते हैं। सामान्य वाक्य की अपेक्षा इनमें कुछ विशेषताएं होती हैं, यथा—(१) इनमें शब्द सीमित किन्तु अर्थ अपेक्षाकृत विस्तृत होता है, (२) लोक में इनका अर्थ स्पष्ट एवं प्रसिद्ध होता है, और (३) किसी कथन की पुष्टि के लिए इन्हें प्रमाण के समान प्रस्तुत व स्वीकृत किया जाता है। इसलिए एक कुशल लेखक आवश्यकतानुसार लोकोक्तियों व मुहावरों का प्रयोग किया करता है। भामतीकार ने भी अपने कथनों की पुष्टि के लिए अपने समय में प्रचलित लोकोक्तियों व मुहावरों का अवलम्बन किया है। इससे उनकी व्याख्या-शैली अपेक्षाकृत अधिक चुस्त, सजीव, स्पष्ट एवं प्रभावशाली बन पड़ी है। यथा—(१) काल्पनिक सृष्टि का सहायक भी मायामय है, इसकी पुष्टि करते हुए करते हैं—'सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता'।[२१] (२) प्रभाकर मीमांसक आत्मा और अर्थ, दोनों को जड़ मानते हैं तथा उन दोनों का मान अर्थप्रकाश के द्वारा मानते हैं। इसका खण्डन लोकप्रचलित आभाणक के द्वारा करते हैं—"(अर्थप्रकाशः) जडश्चेद् विषयात्मानावपि जडाविति कस्मिन्किं प्रकाशेताविशेषात्, इति प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः। तथा चाभाणकः—'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे'"[२२] (३) सांख्यसम्मत मोक्ष की असम्भावना का प्रतिपादन भी मुहावरे के माध्यम से करते हैं—'बतेयमपवर्गकथा तपस्विनी दत्तजलांजलिः प्रसज्येत।'[२३] (४) ईश्वर यदि करुणापराधीन और वीतराग है तो प्राणियों को निकृष्ट कर्म में प्रवृत्त नहीं करेगा, इससे दुःख उत्पन्न ही नहीं होगा और ईश्वराधीन प्राणी अपनी इच्छा से निकृष्ट कर्म नहीं कर सकते। यदि प्राणी कर्म कर भी लें तो वह कर्म ईश्वरानधिष्ठित होने से फल-प्रदान करने में असमर्थ होगा। इसलिए स्वतन्त्र ईश्वर को भी कर्मों में कारण मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अवश्यम्भावी है। इस भाव को लौकिक मुहावरे के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं—**"तथा चायमपरो गण्डस्योपरि स्फोट इतरेतराश्रयाह्वयः प्रसज्येत, कर्मणेश्वरः प्रवर्तनीय ईश्वरेण च कर्मेति।"[२४]**

(५) थोड़े से दुःख की आशंका से सुख को नहीं छोड़ा जाता, इस भाव को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय विनिवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति, स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते, तस्माद् दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयमैहिकं वाऽऽमुष्मिकं वा सुखं परित्यक्तुमुचितम्। न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते, भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।"[२५] इत्यादि।

भाष्य की व्याख्या करते समय वाचस्पति मिश्र का मुख्य प्रयास केवल शब्दार्थ तक सीमित न रहकर भाष्य के भाव को स्पष्ट करने का अधिक रहा है। यही कारण है कि 'भामती' में भाष्य का अभिप्रायः प्रायः एक प्रघट्टक के रूप में जितना अधिक उपलब्ध होता है उतना छितरे हुए अंशों के रूप में नहीं। इसके उदाहरण भामती में अनेकत्र बिखरे पड़े हैं।[२६]

आचार्य वाचस्पति मिश्र की व्याख्या-शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि

जब वे अनुभव करते हैं कि भाष्य का सीधा अनुगमन करने से भाष्यकार का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पा रहा है अथवा भाष्यकार के कथन को स्पष्टता प्रदान करने के लिए अपनी ओर से कुछ कहना अथवा उसे प्रकारान्तर से प्रस्तुत करना आवश्यक है, वहाँ वे 'अयमभिसन्धि:'[२५] 'एतदुक्तं भवति'[२८] 'इदमत्राकूतम्,'[२६] 'अयमभिप्राय:'[३०] 'अत्रेदमाकूतम्'[३१] 'अयमर्थ:'[३२] आदि के माध्यम से आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं। प्राय: इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत वाचस्पति मिश्र की अपनी दार्शनिक मान्यताएँ प्रस्फुटित हुई हैं।

'भामती' व्याख्या की एक अन्यतम विशेषता है, इसकी पातनिका शैली। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१)—इस मौलिक सिद्धान्त के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने अपनी स्थविर अवस्था के अद्वैतचिन्तन की, बाल्यावस्था के चिन्तन के साथ एकवाक्यता दिखाने के लिए अपनी बालरचना 'न्यायकणिका' की प्रस्तावक पंक्तियों से ही 'भामती' का उपक्रम किया है। यह देखने के लिए दोनों की उपक्रम-पदावलियों का अवलोकन आवश्यक है। 'न्यायकणिका' के आरम्भ में लिखा है—'यदप्रयोजनविषयं न तत् प्रेक्षावत्प्रवृत्तिगोचर:। यथा काकदन्तपरीक्षा। तथा चैतत् प्रकरणमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धि:।''[३३] 'भामती' के आरम्भ में कहा है—''यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत् प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचर:, यथा समनस्केन्द्रियसंनिकृष्ट: स्फीतालोकमध्यवर्ती घट:, करटदन्ता वा, तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापकविरुद्धोपलब्धि:।''[३४]

सम्भवत: वाचस्पति ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट, अर्चटभट्ट की पातनिका शैली अपनायी थी। शबरस्वामी ने मीमांसा-भाष्य के आरम्भ में धर्म-जिज्ञासा के उपक्रम में लिखा है—''धर्म: प्रसिद्धोऽप्रसिद्धो वा। प्रसिद्धश्चेत् न जिज्ञासितव्य:, अप्रसिद्धश्चेत् नतराम्।''[३५] कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्त्तिक' के आरम्भ में लिखा है—

> ''सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
> यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यताम्।।[३६]

अर्चटभट्ट ने 'हेतुबिन्दुटीका' के आरम्भ में लिखा है—''यत् प्रयोजनरहितं वाक्यम्, तदर्थो वा, न तत् प्रेक्षावताऽऽरभ्यते कर्तुं प्रतिपादयितुं वा। तद्यथा दशदाडिमादिवाक्यं काकदन्तपरीक्षा च। निष्प्रयोजनं चेदं प्रकरणं तदर्थो वा इति व्यापकानुपलब्धि:......''[३७]

शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में इसी शाबर शैली का अनुसरण किया है—'तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति।''[३८]

इस प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी प्रौढ रचना 'भामती' में विषयानुकूल, मनोवैज्ञानिक, सुस्पष्ट एवं शास्त्रीय व्याख्या-पद्धति का अनुगमन कर उसे शांकर भाष्य की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया है।

२. सूत्र और भाष्य में सामंजस्य-स्थापन

सभी अधिकरणग्रन्थों[३९] में एक सन्दिग्ध वाक्य को विषयवाक्य चुना जाता है। वह विषयवाक्य पूर्वमीमांसा-दर्शन में वेद के पूर्वकाण्ड, संहिता या ब्राह्मणग्रन्थों में से लिया जाता है और उत्तरमीमांसा में आचार्य ने 'तमेतमात्मान विजिज्ञासीत' जैसे विषय-वाक्य को मन में रखकर अधिकरण-रचना आरम्भ कर दी है किन्तु उन्होंने उसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। विषयवाक्य एवं सूत्रकारसम्मत संशय का स्वरूप आचार्य शंकर के शब्दों में साक्षात् उपनिबद्ध न होने के कारण शांकरभाष्य के प्रथम आलोचक भास्करा-चार्य ने अपनी आलोचना की पूर्वपीठिका बना ली—

> "सूत्राभिप्रायसंवृत्त्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
> व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥"[४०]

अर्थात् जिस भाष्यकार ने सूत्रकार के अभिप्राय का संवरण करते हुए अपने अभिप्राय को आरोपित करने का प्रयत्न किया है, उसके निराकरणार्थ हमारी यह भास्कर-व्याख्या प्रकाश में आ रही है।

इस प्रकार की आलोचनाओं का समुचित समाधान करने के लिए, जैसाकि आगे चलकर देखेंगे, वाचस्पति मिश्र को कुछ अधिक श्रम करना पड़ा। 'आत्मा विचारणीय है'—इस प्रकार के विषय-निर्देश के पश्चात् 'आत्मा विचारणीय है अथवा नहीं'—इस प्रकार का संशय न्यायत: प्राप्त होता है किन्तु भाष्योपक्रम के आधार पर 'अध्यास सम्भव है या नहीं'—इस प्रकार का सन्देह प्रकट किया गया है जो कि, भास्कर की दृष्टि से सूत्रकारासम्मत होने के साथ-साथ प्रथम संशय का उपोद्बलक द्वितीय संशय है। अर्थात् अध्यास के संदिग्ध होने पर आत्मा का विचार भी सन्देहास्पद हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने उसी मौलिक संशय को उपस्थित करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में लोकप्रसिद्ध आत्मा के स्वरूप का विशद वर्णन करते हुए उसे ही उपनिषच्चर्चित ब्रह्म का निर्णीत आकार बताया है।

यहाँ भास्कर की दृष्टि यह है कि ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्म-विचारणा का प्रस्ताव रखा है, अध्यास-विचारणा या भ्रम-विचार का प्रस्ताव नहीं। आत्मा के विषय में नकारात्मक पक्ष के पोषक नैरात्म्यवादी बौद्ध भी भ्रम को मानते हैं।[४१] उसमें उनका कोई विवाद नहीं है। विवाद मुख्यत: आत्मा के विषय में है। अत: आत्मविचार को प्राथमिकता देते हुए वाचस्पति मिश्र ने सूत्रकार की परम्परा का समन्वय शंकराचार्य के साथ कर दिखाया है।

प्रस्तुत समस्या को समझने के लिए थोड़ी और स्पष्टता की अपेक्षा है। बात यह है कि—

> "सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यै: सूत्रानुसारिभि:।
> स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु:॥"

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार सूत्रस्थ पदानुसारी व्याख्या ही भाष्य-पदवाच्य है। इसलिए

जैमिनि-सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्मविचार का ही आरम्भ किया है, किसी अन्य विचार का नहीं। कुमारिल भट्ट ने भी उसी का समर्थन किया है। किन्तु भगवान् शंकर ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—इन सूत्राक्षरों से परे हटकर अध्यास-निरूपण से अपने भाष्य का प्रारम्भ किया है। ऐसी स्थिति में इसे भाष्य कैसे कहा जा सकता है? यह तो प्रथम ग्रास में ही मक्षिकापात हो गया।

इस प्रकार एक सुदीर्घ प्रश्नचिह्न भगवान् भाष्यकार की प्रतिष्ठा के आगे लग गया था। यद्यपि इस शंका का समाधान भाष्यकार के स्वयं के शब्दों में ढूंढ़ा जा सकता था किन्तु छिद्रान्वेषी प्रतिपक्षी ऐसा क्यों करने लगे?[४१] अतः यहाँ शंकर के एक व्याख्याकार के रूप में आचार्य वाचस्पति मिश्र पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा था—सूत्र और भाष्य की दूरी को पाटकर शांकरभाष्य के भाष्यत्व की रक्षा करने का।

अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए प्रतिपक्षियों द्वारा आरोपित भाष्य की असमानान्तरवाहिता दूर करते हुए सूत्र और भाष्य की दूरी को समाप्त करने का श्लाघनीय प्रयास आचार्य मिश्र ने किया है। यह आत्मा विचारणीय है क्योंकि सन्दिग्ध है। सन्दिग्ध क्यों है? अध्यस्त वस्तु को लोक में आत्मा समझ लिया गया है, औपनिषद पुरुष को नहीं। इस प्रकार उन्होंने अध्यासनिरूपण की उपादेयता का प्रतिपादन करते हुए उसके औचित्य को अत्यन्त सुदृढ़ भित्ति पर आधारित करके अध्यास-भाष्य का सम्बन्ध पूर्णरूप से सूत्राक्षरों के साथ कर दिखाया है।

३. अध्यास

भारतीय दर्शनों में मिथ्याज्ञान या अध्यास की खोज ऐसी है जैसे किसी रोगी की जांच करने वाला वैद्य रोग के मूल कारण निदान की खोज कर रहा हो। मूल कारण का पता लग जाने पर उसकी निवृत्ति का उपाय सहज में ही जाना जा सकता है। यद्यपि व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र में कई रूपों में अध्यास पाया जाता है, जैसे कि योग के आचार्यों ने कहा है—अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म वस्तुओं में नित्यता, शुचिता, सुखरूपता और आत्मरूपता का भान अविद्या है,[४३] तथापि अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धि जिसे कि मिथ्याज्ञान, अनादि अविद्या, अध्यास आदि शब्दों से कहा करते हैं, बन्धन का कारण है और इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष कहा जाता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।[४४] उसके नष्ट हो जाने से रागद्वेष समाप्त हो जाते हैं, रागद्वेष के समाप्त हो जाने पर संचित शुभाशुभ कर्मों का विनाश[४५] तथा आगामी शुभाशुभ कर्मों का असम्बन्ध[४६] हो जाता है; सूत्रकार ने भी 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (४।१।१३)—इस सूत्र के द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि की है।

इस प्रकार, संचित कर्मों के विनाश तथा आगामी कर्मों के असम्बन्ध से जन्म-जन्मान्तर की दौड़ समाप्त हो जाती है। जन्म, जरा, मरण से छुटकारा मिल जाने पर समग्र दुःखराशि सदैव के लिए भस्मसात् हो जाती है, जीवात्मा मुक्त हो जाता है (क्योंकि

जन्म-मरण ही दुःखरूप है, बन्धनरूप है) और उसे स्वतःशान्त कल्याण-पद महानिर्वाण का लाभ हो जाता है।

इसीलिए इस अध्यास, मिथ्याज्ञान या अविद्या को ही समस्त लौकिक व्यवहार एवं प्रपंच का उद्भावक कहा गया है।[४७] अतः यहाँ अध्यास के स्वरूप एवं तैर्थिक विवाद-प्रक्रिया का संक्षिप्त दिग्दर्शन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

अध्यास का लक्षण

आचार्य शंकर ने अध्यास का लक्षण किया है—"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"[४८] अर्थात् स्मृति के सदृश तथा पूर्वकाल में अनुभूत या ज्ञात वस्तु की अन्यत्र प्रतीति को अध्यास कहते हैं। आचार्य वाचस्पति ने इस लक्षण को लोकप्रसिद्ध लक्षण बताया है। उनका आशय यह है कि भले ही सूत्र-पदों से ऐसा लक्षण अध्यास का नहीं निकाला जा सकता अपितु लोकप्रसिद्धि का सहारा लेकर यह लक्षण प्रस्तुत किया गया है। लोक-प्रसिद्धि दार्शनिकों में एक प्रकार की नहीं। अतः मतमतान्तरों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वमतसमन्वित लक्षण किया गया है। लोक में अध्यास का संक्षिप्त लक्षण असमीचीन बोध, मिथ्याज्ञान आरोपित ज्ञान है अर्थात् जिस ज्ञान की सामग्री दोषपूर्ण हो अथवा जिस ज्ञान का उत्तरकाल में बाध हो जाता हो, उसे मिथ्याज्ञान या असमीचीन ज्ञान कहा जाता है।[४९] अध्यास का यह संक्षिप्त लक्षण केवल 'अवभासः' पद से भी सूचित होता है। क्योंकि अवभास का अर्थ[५०] होता है अवसन्न (बाधित) अथवा अवमत (तिरस्कृत) भास=ज्ञान (प्रतीति)। प्रत्ययान्तर (परभावी यथार्थ ज्ञान) से पूर्वज्ञान का बाध हो जाना ही उसकी अवसन्नता या अवमानना कही जाती है अर्थात् मिथ्याज्ञान को अध्यास कहा जाता है। इस संक्षिप्त लक्षण का विशदीकरण लक्षणवाक्य का शेष भाग कर रहा है, 'पूर्वदृष्ट' पद से आरोपणीय अनृत वस्तु की उपस्थापना की गई है। 'दृष्ट' पद के प्रभाव से यह माना जाता है कि आरोपणीय वस्तु का दर्शन=ज्ञान-मात्र अध्यास में उपयोगी है, उसका पूर्वसत् होना आवश्यक नहीं। 'पूर्व' पद वर्तमान दर्शन को अनुपयोगी ठहराता हुआ पूर्वदर्शन की उपयोगिता सिद्ध कर रहा है। आरोप का विषय (आधार) सत्य होना चाहिए, यह दिखाने के लिए परत्र कहा गया है। 'पर' शब्द भिन्नार्थक है। आरोपणीय मिथ्यावस्तु की अपेक्षा भिन्न सत्य (लौकिक सत्य अथवा तात्त्विक सत्य) का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार भाष्यकार के सत्यानृतमिथुनीकरण के कथन से अध्यास में सत्यमिथ्या पदार्थों का विनिमय सिद्ध हो जाता है, यद्यपि प्रथम देश में देखे गए देवदत्त का दर्शन=भान अन्य देश में होने पर 'यह वही देवदत्त है'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, इसे भी 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' कहा जा सकता है तथापि यह बोधमिथ्या नहीं सत्य होता है। अतः इस अतिप्रसंग को दूर करने के लिए भाष्यकार ने अध्यास के लक्षण में एक कड़ी और जोड़ दी है—'स्मृतिरूपः'—अर्थात् जिस तरह स्मृतिज्ञान असन्निहितविषयक होता है उसी तरह अध्यास भी असन्निहितविषयक होता है। किन्तु 'सोऽयं देवदत्तः' यह ज्ञान सन्निहितविषयक होता है क्योंकि देवदत्त का इन्द्रिय के साथ सन्निधान या संनिकर्ष यहाँ वस्तुतः होता है। स्वप्नावस्था में पूर्वानुभूत गज आदि

पदार्थों में सन्निहित देशकालता की विद्यमानता का आरोप होकर 'घटोऽस्ति' 'घटोऽस्ति', 'अहं कर्त्ता, भोक्ता, दुःखी, संसारी'—इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीतियाँ सम्पन्न हो जाती हैं। अध्यास दो प्रकार का होता है—ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास। भाष्य के दूसरे व्याख्याता आचार्यों[५१] ने भाष्य के लक्षणवाक्य से साक्षात् अर्थाध्यास और परम्परा या ज्ञानाध्यास का बोध कराया है किन्तु आचार्य वाचस्पति का पक्ष 'स्मृतिरूपः' 'अवभासः' इन दो पदों के द्वारा पुष्ट किया जाता है। 'स्मृतिरूपः' पद का स्मर्यमाण अर्थ करना उतना संगत प्रतीत नहीं होता जितना स्मृति के समान असन्निहितविषयक अवभास, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अध्यास का लक्षण अतिप्रसक्त न हो, इसलिए 'स्मृतिरूपः' पद का उपयोग असन्निहितविषयता के प्रतिपादन से ही हो सकता है। अर्थ की स्पर्यमाणता तो प्रत्यभिज्ञा में भी विद्यमान है। इस अध्यास के लिए मिथ्याज्ञान आदि पदों का व्यवहार अन्यान्य दार्शनिकों में देखा जाता है। ख्यातिशब्दप्रयोग और उसके भेदों का वर्णन भ्रम-ज्ञान के लिए ही संगत प्रतीत होता है। अतः इसे ज्ञानाध्यास का लक्षण मानना ही उचित है, न कि प्रधानतया अर्थाध्यास का।

अध्यास के भेद

अध्यास अर्थात् भ्रमज्ञान के विषय में दार्शनिकों में प्रधानतया पाँच ख्यातियाँ प्रसिद्ध हैं—असत्ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीय-ख्याति। इनके अतिरिक्त भी सदसत्ख्याति आदि कुछ ख्यातियाँ हैं किन्तु उनका विवेचन वाचस्पति ने अप्रसिद्ध होने के कारण नहीं किया है। इन्हीं ५ ख्यातियों का विवेचन, जैसाकि आचार्य मिश्र ने किया है, यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) असत्ख्याति

शून्यवादी बौद्धों के मत में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय सभी पदार्थ असत् हैं। यथार्थज्ञान में भी असत् शुक्त्यादि का ही भान होता है और शुक्ति-रजतादि-भ्रमस्थल में भी असत् का ही। अन्तर केवल इतना है कि शुक्ति आदि असदधिष्ठान में असत् रजतादि का भान होता है। किन्तु प्रश्न यह है, वाचस्पति मिश्र कहते हैं, कि असत् की ख्याति—प्रतीति कैसे सम्भव है क्योंकि वहाँ समस्त सामर्थ्य का अभाव है। यदि यह कहा जाए कि विषय के असत् होने से उसमें किसी प्रकार की सामर्थ्य नहीं है, फिर विज्ञान का यह स्वभाव है कि वह असत् का भी प्रकाशन करता है और यह सामर्थ्य उसे समानान्तर पूर्वप्रत्यय से प्राप्त होती है। और असत्प्रकाशनशक्ति को ही अविद्या कहते हैं, अतः अविद्या से असत्प्रकाशन होता है[५२]—इस सिद्धान्त का भी भंग नहीं होता।

इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति कहते हैं कि बौद्धों ने विज्ञान में असत्प्रकाशन-शक्तिरूप जो स्वभावविशेष माना है, उसका ज्ञाप्य उन्हें असत् ही मानना होगा और ऐसी स्थिति में उस असद्रूप ज्ञाप्य को बौद्ध क्या संज्ञा देंगे? उसे कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि असत् कभी कार्य नहीं बन सकता। उसे ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञान-जन्य ज्ञान का विषय ज्ञाप्य कहलाता है, अतः विज्ञान से दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति माननी

होगी जिसका कि विषय बनकर असत् ज्ञाप्य कहलाएगा, जबकि बौद्ध असत्प्रकाशनशक्त्या-श्रय ज्ञान से भिन्न ज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करता, यदि स्वीकार कर लेता है तो उस ज्ञान को ज्ञापक मानने पर पुनः उससे भी भिन्न ज्ञान की स्थिति स्वीकार करनी होगी, क्योंकि बिना दूसरा ज्ञान माने उसमें ज्ञापकत्व सिद्ध नहीं होगा, और इस प्रकार अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी।

विज्ञान का स्वरूप ही असत् का प्रकाश है—यह मानने पर सद्रूपविज्ञान और असत् का सम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा। वह सम्बन्ध क्या है ? असदधीननिरूपणत्व अर्थात् विज्ञान का निरूपण असत् के अधीन है—यही सत् ज्ञान का असत् के साथ सम्बन्ध है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि असत् होने के कारण विज्ञानजन्य किसी अतिशय का आधार न होने से उसका निरूपण असत् के अधीन नहीं हो सकता। विज्ञान का ही यह स्वभाव है कि असत् के बिना उसकी प्रतीति नहीं हो सकती—इस प्रकार का सदसत् सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता क्योंकि विज्ञान न तो असत् से उत्पन्न होता है और न असद्रूप है फिर भी उसकी प्रतीति बिना असत् के नहीं हो सकती, यह कैसे माना जा सकता है। अतः किसी भी प्रकार से सद्रूपविज्ञान का असत् से सम्बन्ध न होने के कारण विज्ञान का यह स्वभावविशेष भी नहीं माना जा सकता कि विज्ञान में असत्प्रकाशन-सामर्थ्य है। अतः किसी भी प्रकार असत् की प्रतीति न होने से असत्ख्याति सर्वथा अनुप-पन्न है।

(२) आत्मख्याति

यद्यपि आचार्य शंकर ने आत्मख्याति पद का प्रयोग नहीं किया तथापि आचार्य मण्डन मिश्र[४३] ने सर्वप्रथम आत्मख्याति का निर्देश किया है और कल्पतरुकार ने धर्मपद के प्रभाव से ज्ञानधर्मता ध्वनित कर आचार्य वाचस्पति के आत्मख्यातिपरक व्याख्यान का समर्थन किया है। उक्त भाष्यवाक्य से तार्किकसम्मत अन्यथाख्याति की सूचना पंच-पादिकाचार्य ने दी है किन्तु आचार्य वाचस्पति उस वाक्य को एकान्ततः आत्मख्याति पक्ष में जोड़ते हैं। बौद्धों में बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी वैभाषिक हैं, बाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक हैं और बाह्यार्थ को अविद्याविलास मानने वाले योगाचारवादी हैं। ज्ञान की सत्ता तीनों समभाव से सत्य मानते हैं। बाह्य अधिष्ठान का निर्देश 'अन्यत्र' शब्द से किया गया है। 'अन्यधर्म' शब्द ज्ञानधर्म का सूचक है। ज्ञानगताकार अनादिवासनाप्रसूत समनन्तर-प्रत्ययाहित वास्तविक है। उसका आरोप बाह्य पदार्थ पर किया जाता है। अर्थात् सौत्रान्तिकमत में अनुमेय बाह्य पदार्थ की वास्तविक सत्ता है[४४], अधिष्ठानभूत उस बाह्य पदार्थ शुक्ति में आन्तर ज्ञानाकारता का आरोप होता है। योगाचार ज्ञानमात्र की सत्ता मानता है, बाह्य पदार्थ की नहीं।[४५] वह बाह्य पदार्थों को अनादि-अविद्या-वासना से ज्ञान में आरोपित, अतएव अलीक मानता है। बाह्य शुक्त्यादि पदार्थ में आन्तर ज्ञानाकार रजतादि का आरोप होता है। इस प्रकार योगाचार मत में भी बाह्य शुक्त्यादि में आन्तर ज्ञानाकार रजतादि का आरोप होता है। यहाँ बाह्य शुक्त्यादि अधिष्ठान में आन्तर ज्ञानाकार रजत का आरोप होता है, इसका तात्पर्य यही है कि आन्तर रजत में बाह्यता

की इदन्ता की प्रतीति होती है। इसीलिए 'इदं रजतम्' ऐसा व्यवहार होता है। 'नेदं रजतम्' इस बाध-ज्ञान से ज्ञानाकार रजत में इदन्तारूप बाह्यता का बाध हो जाता है और रजत आन्तरज्ञानाकार में प्रतिष्ठित हो जाती है, उसका बाध नहीं होता। इसीलिए आत्मख्याति में इदन्ताधर्म का ही बाध होता है, यह वाचस्पति का कथन उपपन्न हो जाता है।[56] आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में कहा है कि जीव, जड़ आदि के आकार सब ज्ञान के आकार हैं।[57] जैसे ग्रीवास्थ मुख में दर्पणस्थत्व का आरोप होता है उसी प्रकार आन्तरिक ज्ञानाकार में इदन्ता या बाह्यरूपता का अभ्यास होता है। बाधक ज्ञान से उसी आरोपित इदन्ता मात्र का बाध होता है। योगाचार मत की इस प्रक्रिया का स्वरूप दिखाने में आचार्य वाचस्पति ने उपेक्षा-सी दिखाई है। जबकि अधिष्ठान ज्ञानाकार सुलभ है, तब उसे बाहर टटोलने की क्या आवश्यकता थी एवं योगाचारसम्मत प्रक्रिया को सौत्रान्तिक और वैभाषिक पर बलपूर्वक लादने का प्रयत्न क्यों किया, यह समझ में नहीं आता। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ने भी आत्मख्यातिपक्ष का प्रदर्शन करते हुए कहा है[58]—रजतादि पदार्थ ज्ञान के आकार हैं, उनमें बहिरवस्थानता का आरोप होता है। आचार्य मण्डन मिश्र ने भी बुद्धि के आकार को सत्याधिष्ठान माना है।[59] यहाँ विचारणीय यह है कि यदि भाष्यकार टीकाकार आचार्य वाचस्पति मिश्र चर्चित आत्मख्याति का प्रदर्शन करना चाहते तो उन्हें 'अन्य धर्म' के स्थान पर 'आत्मधर्म' का प्रयोग करना चाहिए था। योगाचार एकमात्र आन्तरविज्ञान की सत्ता मानता है, अतः उसके अन्यत्र अन्य धर्म का प्रतिपादन बहुत सगत प्रतीत नहीं होता। अतः कुछ लोगों का कहना है कि उक्त भाष्यपंक्ति अन्यथाख्यातिपक्ष का ही प्रदर्शन करती है, आत्मख्यातिपक्ष का नहीं और आचार्य वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र द्वारा निर्दिष्ट क्रमदीक्षा से दीक्षित होकर वैसी व्याख्या की है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' में अन्यथाख्यातिपक्ष का समर्थन किया है, अतः बहुत सम्भव है कि उसे दूसरी कक्षा अर्थात् निराकरणीय कक्षा से बचाने के लिए उक्त भाष्यवाक्य से अन्यथाख्याति से भिन्न आत्मख्याति सूचित की हो।

(३) अख्याति

आत्मख्यातिपक्ष को अख्यातिवादी प्रभाकर के द्वारा आचार्य वाचस्पति ने दूषित सिद्ध कराया है। 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' में अख्यातिवादी ने जिस शस्त्र से अन्यथाख्यातिवाद पर प्रहार किया था[60], उसी शस्त्र से यहाँ भी प्रहार करते हुए कहा है[61] कि रजत की विज्ञानाकारता न तो रजतानुभव से सिद्ध हो सकती है और न बाधक ज्ञान से ही। रजतानुभव से रजत की विज्ञानाकारता इसलिए सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्याकारक रजतानुभव रजत की इदङ्कारास्पदता सिद्ध कर रहा है न कि ज्ञानाकारता। ज्ञानाकारता होने पर तो 'अहं रजतम्' ऐसा अनुभव का आकार होता। 'नेदं रजतम्' यह बाधक ज्ञान रजत में ज्ञानकारता इसलिए सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि 'नेदं रजतम्' यह बाधक ज्ञान पुरोवर्ती वस्तु को रजत से भिन्न सिद्ध कर रहा है न कि उसकी ज्ञानकारता सिद्ध कर रहा है। इस प्रहार से आत्मख्यातिवादी वैनाशिक विनष्ट

होकर रह जाता है और उसके स्थान पर अख्यातिवादी अपना मन्तव्य उपस्थित करता है।

अख्यातिवादी प्रभाकर के अनुसार कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं है। ज्ञान के मिथ्या मानने पर सभी ज्ञानों पर मानव को अनास्था हो जाएगी। दोषवशात् भी शुक्तिज्ञान में रजत की प्रतीति अनुपपन्न है क्योंकि इन्द्रियाँ समीचीन ज्ञान उत्पन्न करती हैं। दोष-सहित इन्द्रियाँ भी मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर देंगी, यह मानना भी संगत नहीं क्योंकि दोष इन्द्रियों की सामर्थ्य का विघात करता है न कि पूर्वापेक्षया भी अधिक सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अतः किसी भी ज्ञान के मिथ्या न होने से 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थल में मिथ्याज्ञान न मानकर अख्यातिवादी भिन्न-भिन्न दो समीचीन ज्ञान मानते हैं—(१) इदमाकारक अनुभवज्ञान और (२) रजतमित्याकारक स्मृतिज्ञान। इदमाकारक अनुभवज्ञान सम्मुख-निहित शुक्ति से चक्षुःसम्बन्ध होने पर होता है किन्तु दोष के कारण उस शुक्ति का शुक्तित्वेन ज्ञान न होकर सामान्य रूप से इदंतया ज्ञान होता है। शुक्ति में तथा रजत में चाकचिक्य आदि धर्मों के समान होने से शुक्ति के देखते ही सादृश्यज्ञान से रजत के संस्कार उद्बुद्ध होकर रजत की स्मृति करा देते हैं। इस प्रकार रजत का स्मृतिरूप ज्ञान है, किन्तु यहाँ भी दोषवश तत्तांश का स्मरण न होकर केवल रजत का स्मरण होता है। इस प्रकार 'इदं' तथा 'रजत' ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं, एक अनुभवात्मक ज्ञान है और दूसरा स्मरणात्मक ज्ञान। प्रथम का विषय इदंतया ज्ञात शुक्ति है और द्वितीय का विषय तत्तांश रहित रजत। किन्तु पुरोवर्ती शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के समान ही ये उपर्युक्त दोनों ज्ञान हैं। इसलिए सारूप्य के कारण ये दोनों ज्ञान अभेद-व्यवहार तथा सामानाधिकरण्य-व्यपदेश को उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् स्वरूपतः और विषयतः भिन्न-भिन्न इन ज्ञानों में वर्तमान भेद का ग्रहण न होने से इनमें अभेद-व्यवहार बन जाता है। इस अभेद-व्यवहार में ही भ्रमव्यवहार होता है। 'नेदं रजतम्' यह बाधक ज्ञान भी इस अभेद-व्यवहार का ही बाध करता है, न कि अन्य किसी वस्तु का।[६२] इसी को शंकर ने 'यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः'—इन शब्दों से कहा है।[६३]

(४) अन्यथाख्याति

प्रभाकर का अख्यातिवाद भी भ्रमज्ञान का समाधान न कर सका[६४] क्योंकि चेतन की प्रवृत्ति अज्ञानपूर्वक नहीं होती अपितु ज्ञानपूर्वक होती है व प्रभाकर दोनों ज्ञानों के भेदाग्रह को रजतार्थी की प्रवृत्ति में कारण मानता है। अतः यह मानना होगा कि पूर्ववर्ती शुक्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति रजत के आरोपित ज्ञान के बिना अनुपपन्न है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति इदंकारास्पदाभिमुखी है और इदंकारास्पद वस्तु रजत नहीं है। अतः जब तक उसमें आरोपित रजतज्ञान न हो जाए तब तक रजतार्थी की प्रवृत्ति नहीं बन सकती। इस समस्या का समाधान करने के लिए नैयायिकों ने भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति को प्रस्तुत किया है।

इनके अनुसार पुरोवर्ती शुक्ति वस्तु में इन्द्रियसंनिकर्ष होने पर दोषवशात् शुक्तित्व धर्म का ज्ञान न होकर रजतत्व धर्म का भान होता है और इस प्रकार शुक्ति की शुक्तिस्वरूप

से प्रतीति न होकर शुक्ति-भिन्न रजतत्व धर्मपूर्वक प्रतीति होती है, यह अन्यथाख्याति है। अन्यथाख्याति शब्द का अर्थ किसी वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति है। अन्यरूप शब्द में रूप शब्द का अर्थ धर्म है, अतः अन्यरूप से अर्थात् अन्य के धर्म से प्रतीति होती है। इसी को नैयायिकों ने 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा'—इस रूप से कहा है अर्थात् रजतत्व के अभाव वाली शुक्ति में रजतत्व-प्रकारक-ज्ञान अप्रमा अर्थात् भ्रम है। ऐसा मानने पर पूर्ववर्ती वस्तु में रजतत्व का ज्ञान होने से रजतार्थी की प्रवृत्ति भी बन जाती है और रजतत्व-धर्म का आरोप होने से धर्मी का आरोप नहीं मानना पड़ता, यह लाघव भी है। 'नेदं रजतम्' यह बाधक ज्ञान भी पुरोवर्ती में रजतत्व धर्म का ही बाध करता है न कि रजत का क्योंकि वहाँ रजत है ही नहीं।[६५]

'भामती' में अन्यथाख्यातिमत की आलोचना विशेष रूप से नहीं की गई किन्तु असत्ख्याति का निराकरण करते हुए अनिर्वचनीयख्याति की स्थापना की जा चुकी थी। अतः अन्यथाख्याति की आलोचना अनावश्यक समझकर छोड़ दी गई। किन्तु कुछ लोगों को अवश्य सन्देह हो गया था कि वाचस्पति मिश्र को अन्यथाख्यातिवाद अभीष्ट है, जैसा कि कल्पतरुकार अमलानन्द ने कहा है—

स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टाऽस्येत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥[६६]

(५) अनिर्वचनीयख्याति

वाचस्पति मिश्र के अन्त में अध्यास विकल्प की योजना अनिर्वचनीयख्याति में की है।[६७] कुछ व्याख्याताओं ने अन्यथाख्याति में ही 'भामती' व्याख्या का तात्पर्य बताया है।[६८] आशय यह है कि शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है और कुछ समय के पश्चात् बाध भी। असत् की प्रतीति नहीं होती, अतः प्रतीति का निर्वाह करने के लिए रजत को असत् से विलक्षण कहना होगा और सत् का बाध नहीं होता, अतः उसे सत् से विलक्षण कहना होगा। इस प्रकार सदसत् उभयरूप से विलक्षण रजत को मानना होगा। इसी का नाम अनिर्वचनीय रजत की ख्याति कहा जाता है। शून्यवादी भी शून्यतत्त्व को अनिर्वचनीय मानते हैं किन्तु उनकी अनिर्वचनीयता किसी भी रूप में किसी भी शब्द से निर्वचन की अयोग्यता है। किन्तु वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीयता का अर्थ सत् या असत् रूप से जिसका निर्वचन न किया जा सके उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। समस्त जगत् के परिणामी उपादान कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय माना जाता है।[६९] अतः वेदान्तमत-सम्मतख्याति को अनिर्वचनीयख्याति कहा करते हैं।

४. वाचस्पत्य मत में अविद्या का आधार और विषय

अध्यास = मिथ्याज्ञान[७०] = अविद्या[७१] के आधार और विषय के सम्बन्ध में पुष्कल विवाद पाया जाता है। इस विषय में आचार्य वाचस्पति मिश्र का अपना विशेष मत प्रचलित है। अविद्या (अध्यास) की समानता लोकप्रसिद्ध आवरक द्रव्य से की जाती

है। वह आवरक द्रव्य दो प्रकार का है—(१) विषयावरक और (२) दृष्ट्यावरक। इसे दूसरे दार्शनिक विषयावरण और बौद्धावरण (बुद्ध्यावरण) कहा करते हैं। जैसे किसी पर्यंक पर पड़ी हुई चादर का आधार वही पर्यंक है और विषय भी वही पर्यंक है। दूसरा आवरण नेत्रपटल पर मोतिया जैसे रोग के कारण आया हुआ आवरण है। यह आवरण यद्यपि दृष्टि को ढकता है तथापि सूर्यादि वस्तु को ढकता हुआ-सा प्रतीत होता है, अतः इस आवरण का आधार दृष्टि और विषय सूर्यादि भिन्न होते हैं। आचार्य वाचस्पति ने इस दूसरे उदाहरण को अपनाकर अध्यास या अज्ञान का आधार जीव[७२] को और विषय ब्रह्म को कहा है। उनकी इस मान्यता के औचित्य की चर्चा अनावश्यक न होगी।

लोक में यह देखा जाता है कि अन्धकार जिस क्षेत्र के आश्रित होता है, उसी क्षेत्र को विषय भी बनाता है, आश्रय और विषय दोनों भिन्न-भिन्न नहीं देखे जाते, इसी प्रकार अज्ञान भी अन्धकार के समान ही भावात्मक आवरक पदार्थ माना जाता है, तब उसका आश्रय और विषय भिन्न-भिन्न कैसे माना जा सकता है ? इस आक्षेप को दृष्टि में रखकर कहा गया है कि लौकिक दृष्टान्त की अपेक्षा अज्ञान के आश्रय और विषय का व्यवहार कुछ विलक्षण-सा है। अन्धकारस्थल पर 'किमाश्रितं किंविषयं तमः ?'—इन प्रश्नों के उत्तर में एक ही वाक्य उपलब्ध होता है 'स्वाश्रितं स्वविषयं क्षेत्रम्'। किन्तु अज्ञान के विषय में ऐसे भी प्रश्न उठते हैं जो अन्धकार के विषय में नहीं उठते। जैसे 'कस्य अन्धकारः ?'—यह न किसी को जिज्ञासा होती है और न उसके समाधान का प्रयत्न। किन्तु अज्ञान के विषय में 'कस्याज्ञानम् ? कस्मिन्नज्ञानम् ?' अर्थात् अज्ञान का आश्रय क्या है ? अज्ञान का विषय क्या है ?—ये दो प्रश्न हैं, इनके उत्तर भी दो होते हैं—'देवदत्तः शुक्तिं न जानीते'—अज्ञान का आश्रय देवदत्त है तथा विषय शुक्ति है। सभी सविषयक पदार्थों का प्रायः एक ही स्वभाव होता है कि उनका आश्रय और विषय भिन्न हुआ करता है। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, कृति और अज्ञान सविषयक पदार्थ माने जाते हैं। ज्ञान का आश्रय देवदत्त आदि और विषय घटादि हैं। उसी प्रकार अज्ञान का आश्रय जीव माना जाता है क्योंकि उसी में 'अहम् अज्ञः' इत्याकारक अज्ञानाश्रयता अनुभूत होती है और 'शुक्तिरज्ञाता' आदि व्यवहारों के अनुरोध से अज्ञान का विषय शुक्ति आदि को माना जाता है। भाष्य और श्रुतियों का रहस्य भली प्रकार अवलोकित करके वाचस्पति मिश्र ने यह स्थिर किया है कि जीव अज्ञान का आश्रय और ब्रह्म उसका विषय है। इस महती विशेषता की ओर कल्पतरुकार ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है—

> जीवस्याया अविद्याया विषयं ब्रह्म शुक्तिवत्।
> ऊचे वाचस्पतिर्भाष्यश्रुत्योर्हृदयवेदिता॥[७३]

भाष्य और श्रुतियों के विविध वाक्यों का रहस्यावधारण सब नहीं कर सकते। विशिष्ट विद्वानों का सामर्थ्य सब में नहीं होता। वाचस्पति मिश्र दूरदर्शी, मेधावी, बहुश्रुत, श्रुतिभाष्य-हृदयवेदिता थे। दीर्घ साधना के पश्चात् उनके द्वारा उद्भावित सिद्धान्तों पर दोष निकालना तो दूर उसका हृदयंगम ही एक कठिन समस्या है। अतः कल्पतरुकार जैसे विशिष्ट वेदान्ताचार्यों ने स्थान-स्थान पर सावधान किया है कि वाचस्पति का विश्लेषण,

विवेचन जैसा मार्मिक, मौलिक और तथ्याश्रित होता है वैसा अन्य विद्वानों का नहीं हो सकता। अत. अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म, यही मानना होगा। संक्षेप-शारीरककार ने जो यह कहा है—"पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः"[७४]—जीव पश्चिम है, पश्चाद्भावी है, अज्ञानाध्यास के पश्चात् उसका स्वरूप स्थिर हुआ करता है, अतः अज्ञानाध्यास का आश्रय वही नहीं हो सकता। वहाँ जिज्ञासा उठती है कि यदि जीव पश्चाद्भावी है, पूर्वसिद्ध अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता तब कौन होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेपशारीरककार कहा करते हैं—"आश्रयत्वविषय-त्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।"[७५] अर्थात् शुद्ध ब्रह्म अज्ञान का आश्रय और विषय है, किन्तु ध्यान देने पर यह सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाता क्योंकि अज्ञान की आश्रयता और विषयता के साधक अनुभव आदि प्रमाण विपरीत दिशा की ओर संकेत करते पाए जाते हैं। 'अहमज्ञः' जीव अपने में अज्ञानाश्रयता का अनुभव करता है, 'ईश्वरोऽनभिज्ञः', 'ब्रह्मानभिज्ञम्'—इस प्रकार का अनुभव किसी को भी नहीं होता। अनुभव के अनुसार किसी वस्तु को न मानना और विपरीत मानना कभी उचित नहीं ठहराया जा सकता। 'इदं रजतम्' जैसे बाधित अनुभव के आधार पर भी रजत की सत्ता माननी पड़ती है, भले ही वह प्रातिभासिक हो। तब 'अहमज्ञः' आदि अबाधित अनुभवों के साक्ष्य पर भी धर्म नहीं रह सकता। केवल आविद्यिक कल्पना के द्वारा वैसा माना जाता है। इसी प्रकार अविद्या पश्चाद्भावी जीव को आश्रय बनाने में अक्षम क्यों होगी ? जीव, ईश्वर, अविद्या आदि को अनादि मानने वालों के मत में उपर्युक्त पौर्वापर्य-भाव भी नहीं माना जा सकता। बीज वृक्ष के समान ही अध्यास और जीवादि का प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव माना जाता है जो कि वेदान्त का सर्वोत्तम सिद्धान्त है। इस पर किसी को आपत्ति नहीं, इस दृष्टि से भी जीव अविद्या का आश्रय सिद्ध होता है। संक्षेपशारीरककार ने ऐन्द्रजालिक को दृष्टान्त बनाकर यह माना है कि दर्शकों में अज्ञान है, उस अज्ञान का विषय जादूगर (ऐन्द्रजालिक) ही होता है। विषयता सम्बन्ध से ईश्वर पर अज्ञान रहने के कारण ही उसे मायावी कहा गया है। तब वाचस्पति मिश्र के पक्ष का पोषण उस दिशा से भी होता है।

वाचस्पति मिश्र के पक्ष में एक महत्वपूर्ण तर्क और है। किसी क्रिया का कर्त्ता और कर्म भिन्न होते हैं, क्रिया के आश्रय को कर्त्ता कहते हैं और क्रिया के विषय को कर्म कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप जानना क्रिया है, वैसे न जानना भी एक क्रिया है। वेदान्तसिद्धान्त में अज्ञान भावात्मक होता है, अतः अज्ञान का आश्रय और अज्ञान का कर्म दोनों भिन्न-भिन्न होंगे, एक नहीं हो सकते। जीव और ब्रह्म दोनों में एक को विषय और दूसरे को आश्रय मानना होगा। ब्रह्म नित्य प्रकाशस्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल तत्त्व है। उसमें अज्ञान की आश्रयता न सम्भव हो सकती है और न अनुभूत होती है। अतः जीव अज्ञान का आश्रय होता है, यह स्थिर सिद्धान्त है। अतः इससे भिन्न ब्रह्म को ही अज्ञान का विषय कहना होगा। अज्ञानविषयता का उसी में अनुभव हो रहा है।

वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी मुमुक्षु जीव माना गया है। अज्ञानी की ही जिज्ञासा और मुमुक्षा हो सकती है। इस प्रकार भी अधिकारी जीव

अज्ञान का आश्रय सिद्ध होता है और ब्रह्म को जानने की इच्छा या जिज्ञासा तभी बन सकती है जबकि ब्रह्म अज्ञात हो। अतः अज्ञान का विषय ब्रह्म और आश्रय जीव है।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर को जगत् का उपादान कारण कहा है,[७६] अतः ईश्वर अपने विवर्त (रूपकार्य) का आश्रय हुआ जैसे कि रजत-विवर्त का आश्रय शुक्ति होती है। इस प्रकार अविद्या का आश्रय जीव तथा उससे निर्मित (उद्भासित) जगत् का आश्रय (अधिष्ठान) ईश्वर यह वैयधिकरण्य क्यों ? इस आशंका का समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है – "यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादानः, एवं प्रपंचविभ्रम ईश्वरोपादानः, तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया चेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते, न त्वाधारतया, विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेरिति"[७७] अर्थात् प्रपंच जीवाश्रित अविद्या के विषयीभूत ईश्वर का विवर्त माना जाता है। साधारण रूप से प्रपंच को अविद्या का परिणाम माना जाता है परन्तु वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या जीवाश्रित है। जीवाश्रित अविद्या का परिणाम उसी जीव के द्वारा अनुभूत या ग्राह्य हो सकेगा, सर्वसाधारण द्वारा नहीं, जैसे शुक्ति-रजत आदि भ्रम जिस जीव की अविद्या से उत्पन्न होता है, उसी जीव के द्वारा ही गृहीत होता है—अन्य के द्वारा नहीं। इसी प्रकार जीव-अविद्या-निर्मित प्रपंच भी सर्वसाधारण नहीं होना चाहिए। इस आक्षेप का समाधान करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि प्रपंच ईश्वर की सृष्टि है, ईश्वर की रचना है, जीव की नहीं। अतः वह सर्वसाधारण को उपलब्ध होता है। अर्थात् अविद्या जिस प्रकार अपने आश्रय को प्रभावित करती है उसी प्रकार अपने विषय को भी। आश्रय पर आवरण और विषय पर विक्षेप उत्पन्न कर दिया करती है। जीव उसका आश्रय है, इसीलिए वह अज्ञ है, अनभिज्ञ है, अल्पज्ञ है। जगत् की रचना करने में उसकी क्षमता कभी नहीं है, किन्तु अविद्या अपने विषयभूत ईश्वर में वह पूर्ण सामर्थ्य निहित करती है कि जिससे जगद्-रचना करने का सामर्थ्य उसमें आ जाता है। अविद्या में इस प्रकार का सामर्थ्य कहाँ से आया ? इस प्रकार के आक्षेप नहीं किए जा सकते क्योंकि अविद्या अघटनघटनापटीयसी है।[७८]

इस प्रकार सभी तर्क-पद्धतियों से विचार करने पर वाचस्पति मिश्र का जीवाश्रित-अविद्यावाद एक निर्दोष एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में शांकर वेदान्त के पृष्ठों पर उभरता है। वाचस्पति का यह वैशिष्ट्य उनके टीकाकार अमलानन्द सरस्वती की दृष्टि को आकृष्ट किए बिना न रह सका—

> अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत् ।
> जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ।।[७९]

५. अविद्यानानात्व

आचार्य शंकर ने सांख्यसम्मत प्रधान तत्त्व से वेदान्तसम्मत अविद्या का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि सांख्य का प्रधान स्वतन्त्र तत्त्व है किन्तु वेदान्त की अविद्या परमेश्वरपरतन्त्र है।[८०]

किन्तु आचार्य वाचस्पति का अभिमत कुछ भिन्न है। उनका कहना है[८१] कि सांख्य के प्रधान के समान हमारी अविद्या सब जीवों में एक नहीं है, हम तो जीव के भेद मानते हैं। अतः जिस जीव को विद्या का लाभ होता है, उसी की अविद्या समाप्त हो जाती है, दूसरे की नहीं। जहाँ कहीं अविद्या के लिए एकत्व का व्यवहार हुआ है वह अविद्यात्व-धर्म के आधार पर किया गया है।[८२] अविद्या का एक मानना किसी प्रकार सम्भव नहीं। दृष्टि-सृष्टिवाद की यह प्रक्रिया जिसमें कि अविद्या को एक माना गया है अत्यन्त क्लिष्ट और शून्यवाद के समीप ले जाने वाली है। अतः व्यावहारिक पक्षों का सर्वथा समर्थन करते हुए वेदान्तप्रतिपाद्य वस्तु को प्रदर्शित करना वेदान्त प्रतिष्ठापक आचार्यों का विशेष कर्त्तव्य है। यद्यपि ज्ञान के समान ही अज्ञान या अविद्या भी सविषयक भाव पदार्थ है, ज्ञान का स्वतः भेद न मानकर विषय के द्वारा ही भेद माना जाता है, उसी प्रकार अविद्या का भी विषय द्वारा ही औपाधिक भेद माना जा सकता है, स्वाभाविक नहीं तथापि ज्ञान की प्रक्रिया का सर्वथा अनुकरण अज्ञान के लिए नहीं किया जा सकता। ज्ञान को अन्ततोगत्वा सत् चित् आनन्द एक ब्रह्मस्वरूप मानना पड़ता है। उसे भिन्न मानने पर अभीष्टसिद्धि कदापि नहीं हो सकती और अविद्या को भिन्न मान लेने पर किसी प्रकार की क्षति नहीं होती प्रत्युत व्यावहारिक क्षेत्र में सौविध्य और सामंजस्य सूपपन्न हो जाता है। अतः जीव के भेद से अविद्या का भेद मानना वाचस्पति मिश्र का उचित एवं सारवान् सिद्धान्त है।

डॉ० हसूरकर ने वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रितानेकाविद्यावाद को दृष्टिसृष्टि कोटि में रखा है।[८३] डॉ० एस० एन० दास गुप्ता ने भी जीवाश्रितानेकाविद्या को दृष्टि-सृष्टि माना है।[८४] यद्यपि एकजीववाद की तरह वाचस्पति के जीवाश्रितानेकाविद्यावाद पक्ष में भी संसार जीवाश्रित अविद्या का ही परिणाम है, ब्रह्म केवल निमित्त या अधिष्ठानरूप उपादानमात्र ही है। जीवाश्रित अविद्या निमित्तता या विषयता के सम्बन्ध से ईश्वराश्रित है, एतावता ही उसे ईश्वराश्रित माना जाता है, अविद्या का आधार होने से नहीं क्योंकि विद्यास्वभाव ईश्वर में अविद्याधारता अनुपपन्न है।[८५] इस प्रकार यह सिद्ध है कि जगत् जीवाश्रित अविद्या का ही परिणाम है। ऐसी स्थिति में एकजीववाद की तरह इस पक्ष में भी जगत् के जीवाश्रित अविद्या का परिणाम होने से शुक्तिरजत आदि भ्रमज्ञान की तरह प्रातिभासिकता के कारण उसे दृष्टिसृष्टिवाद मानना सम्भावित है तथापि वाचस्पति के पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए अमलानन्द सरस्वती ने कहा कि वाचस्पति मिश्र प्रपंच की अज्ञात सत्ता मानते हैं और इसमें वे प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता को हेतु मानते हैं अर्थात् प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता है, अतः उसकी अज्ञात सत्ता माननी होगी और व्यावहारिक सत्ता पक्ष में दृष्टिसृष्टिवाद नहीं बन सकता, वह तो ज्ञातसत्तापक्ष में ही बन सकता है। अमलानन्द सरस्वती कहते हैं—"ते त्वाहुः ब्रह्मणो जीवभ्रमगोचरस्याधिष्ठानतयोपादानत्वे सोऽकामयत स्वयमकुरुतेति च न स्यात्, प्रति-जीवं च भ्रमासाधारण्याद् जगत्साधारण्यानुभवविरोधः, भ्रमजस्य चाकाशादेरज्ञात-सत्त्वायोगः, तस्मादीश्वरस्य प्रतिबिम्बधारिणी साधारणी माया। तद्व्यष्टयश्च जीवोपाधयोऽविद्या मन्तव्याः इति। तान् प्रति ब्रूमः। अकामयताकुरुतेति च कामकृती

जीवाविद्याविवर्तः। न च ब्रह्मविक्रिया; विवर्तश्च विवर्ते हेतुः सर्प इव विसर्पणस्य। प्रतिमाणवकस्यंविद्याभि वर्णेषु स्वरादिवैशिष्ट्येन क्लृप्तम्। स्वोचाध्यायवकोद्गतवेदस्येव प्रपञ्चसाधारण्यप्रसिद्धिः। अधिष्ठानवर्णसाधारण्यात्तत्साधारण्य प्रस्तुतेऽपि समं सर्वप्रत्ययवत्वाद् ब्रह्मणः। अज्ञातसत्त्वं प्रपंचस्य व्यावहारिकसत्त्वात्। न च जीवाविद्याजत्वे तद्योगः, स्वेन्द्रियादिवदुपपत्तेः।"[८६] अर्थात् प्रपंच को जीवाश्रित अविद्या का परिणाम मानकर ब्रह्म को केवल जीवाश्रित अविद्या का अधिष्ठानरूप उपादान मानने पर 'सोऽकामयत' 'स्वयमकुरुत' इन श्रुतियों से सिद्ध काम और कृति की अनुपपत्ति ब्रह्म में होगी क्योंकि वह शुद्ध है, शुद्ध में काम और कृति बन नहीं सकती तथा प्रपंच को जीवाश्रित अविद्या का परिणाम मानने पर प्रतिजीव भ्रम के असाधारण होने से जगत् साधारण्य की प्रतीति भी अनुपपन्न होगी और आकाशादि के भ्रमजन्य होने से उनमें अज्ञातसत्ता होगी, इसलिए ईश्वर में माया उपाधि माननी चाहिए और वह माया ईश्वराश्रित होने से बंसाधारण है, इससे जगत्-साधारण्य, ईश्वर में काम और कृति तथा जगत् की अज्ञातसत्ता सभी उपपन्न हो जाएँगे।

इसका समाधान करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है कि काम और कृति जीवाविद्या के ही विवर्त हैं अर्थात् जीवाश्रित अविद्या के विषय ईश्वर के विवर्त हैं। ब्रह्म के जीवाश्रित अविद्या का विषय होने से उसमें काम और कृति उपपन्न हैं। प्रपंच के प्रतिजीवाश्रिताविद्याकल्पित होने पर भी भिन्न-भिन्न ब्रह्मचारियों के द्वारा वर्णों में ध्वनिगत उदात्तत्वादि स्वरवैषम्य के होने पर भी अधिष्ठानरूपवर्ण के साधारण होने से तदुच्चारित उदात्तादिध्वनिवैशिष्ट्य से युक्त वर्णराशिरूप वेद में साधारण्यप्रतीति की तरह प्रतिजीवाविद्याकल्पित भिन्न प्रपंच में भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म के एक होने से प्रपंच में साधारण्य की उपपत्ति हो जाती है तथा प्रपंच के प्रतिजीवाविद्याकल्पित होने पर भी व्यावहारिक सत्ता को लेकर उसमें अज्ञातसत्ता भी उपपन्न हो जाती है। व्यावहारिक सत्ता में मायिकता प्रयोजक नहीं है, अपितु आविद्यिकत्व है जैसाकि अविद्याजन्य स्वेन्द्रियादि में भी व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है।

इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता व अज्ञातसत्ता मानते हैं जिसकी उपपत्ति अमलानन्द सरस्वती ने उपर्युक्त रीति से सिद्ध की है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जगत्-प्रपंच के जीवाश्रित अविद्या के द्वारा कल्पित होने से उसकी व्यावहारिक सत्ता नहीं माननी चाहिए अपितु शुक्तिरजत आदि के समान प्रातिभासिक सत्ता ही माननी चाहिए तथापि यह समीचीन प्रतीत नहीं होता कि अविद्याकल्पित होने से ही किसी को प्रातिभासिक माना जाए। ब्रह्माश्रित अविद्या को मानने वालों के पक्ष में भी प्रपंच अविद्या का ही परिणाम है तथापि उस पक्ष में भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक—सभी पदार्थ अविद्या के परिणाम हैं तथापि अविद्या के साथ यदि आगन्तुक दोषान्तर भी विद्यमान है, उसे प्रातिभासिक माना जाता है, जैसे शुक्तिरजत में इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ शुक्तित्वप्रकारक अविद्या के अतिरिक्त काचादि आगन्तुक

दोष भी रजतपरिणाम में कारण पड़ते हैं, अतः उसे प्रातिभासिक माना जाता है और आकाशादि प्रपंच केवल अविद्या का ही परिणाम है, अतः व्यावहारिक माना जाता है। इसीलिए दोषान्तर के हटते ही प्रातिभासिक प्रपंच नष्ट हो जाता है किन्तु व्यावहारिक प्रपंच जीवाविद्या के नष्ट हुए बिना नष्ट नहीं होता, यह व्यावहारिक और प्रातिभासिक में स्पष्ट भेद है। इसी आधार पर वाचस्पति व्यावहारिक जगत् की अज्ञातसत्ता को मानते हैं।

एकजीववाद में सारा प्रपंच जिसमें मतान्तर की रीति से प्रातिभासिक और व्यावहारिक सभी पदार्थ सम्मिलित हैं एकजीवाश्रित अविद्या के परिणाम हैं, अतः उनकी एक ही प्रकार की सत्ता माननी होगी, किन्तु अनेकजीवाश्रितानेकाविद्यावाद पक्ष में व्यावहारिक प्रपंच तथा प्रातिभासिक प्रपंच में भेद है। इस पक्ष में व्यावहारिक प्रपंच आगन्तुक काचादि दोषसहकृत अविद्या का परिणाम है, अतः उनमें भेद मानना ही होगा और वह व्यावहारिक सत्ता अर्थात् अज्ञातसत्ता तथा प्रातिभासिक सत्ता अर्थात् ज्ञातसत्ता को लेकर मानना पड़ता है। प्रातिभासिक व व्यावहारिक प्रपंच के इसी भेद का प्रतिपादन वेदान्तपरिभाषा में श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र ने किया है—"यद्वा घटाद्यध्यासे अविद्यैव दोषत्वेनापि हेतुः। शुक्तिरूप्याध्यासे तु काचादयोऽपि दोषाः। तथाचागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकम्। अतएव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात् प्रातिभासिकत्वम्।"[८७]

तात्पर्य यह है कि दृष्टिसृष्टिवाद में किसी भी अनात्म पदार्थ की अज्ञातसत्ता नहीं होती किन्तु ज्ञातसत्ता ही होती है, इसलिए इस पक्ष में रज्जु में सर्प के समान सभी अनात्मपदार्थ केवल साक्षिभास्य होते हैं। वहाँ उनमें जो इन्द्रियजन्य ज्ञान की विषयता प्रतीत होती है, वह भी अध्यस्त ही होती है। एकजीववाद में असंग नित्यमुक्त तथा चिदानन्दघन ब्रह्म में कल्पित अविद्या आदि का सम्बन्ध चैतन्य से नहीं होता, वे सब अविद्यादि शशशृंग आदि के समान अत्यन्त अलीक हैं किन्तु कल्पित अज्ञान के कल्पित सम्बन्ध से ब्रह्म में अविद्यमान जीवभाव ही प्रतीत होता है। इस पक्ष में उस एक जीव की अविद्या द्वारा कल्पित गुरुशास्त्रोपदेश, ईश्वर आदि सभी स्वप्नकल्पित वस्तु की तरह मिथ्या हैं। स्वप्नद्रष्टा के स्वप्नकल्पित नाना पुरुषों के समान नाना जीवाभास ही इस मत में माने जाते हैं, इस वाद में कोई भी अनात्म वस्तु प्रमाण का विषय नहीं होती, केवल शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्तरूप शब्दप्रमाण का विषय है। यहाँ प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार भी स्वप्न के समान अध्यस्त है।[८८] अतः सभी वस्तुओं के उस एक जीव द्वारा कल्पित होने से और कल्पित वस्तु के साक्षिभास्य होने से ज्ञातसत्तारूप दृष्टिसृष्टिवाद की उपपत्ति सम्भव है, किन्तु अवच्छेदवादी नानाजीवाश्रितनानाऽविद्या मानने वाले वाचस्पति के मत में यद्यपि प्रपंच जीवाश्रिताविद्या का ही परिणाम है, इसलिए प्रतिजीव प्रपंचभेद अवश्य है तथापि इस मत में प्रमाण, प्रमेय आदि की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है और व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान जीवों को इन्द्रियादि प्रमाणों के द्वारा निष्पन्न होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी एकजीववाद के सिद्धान्त को ही स्पष्ट रूप से दृष्टिसृष्टिवाद कहा है। 'सिद्धान्तबिन्दु' में एकजीववाद का निरूपण करते हुए उन्होंने

'इममेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते' इस उक्ति में 'इममेव' में निर्धारणार्थक 'एव' पद के द्वारा एकजीववाद को ही दृष्टिसृष्टिवादपक्ष कहा है[८९] न कि वाचस्पति मिश्र से सम्बन्धित अनेकजीवाश्रितानेकाविद्यावाद पक्ष को। उनके टीकाकार श्री नारायणतीर्थ ने भी इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि एक अज्ञान उपाधि वाले एकजीववाद को ही, दृष्टि अर्थात् ज्ञान ही जगत् की सृष्टि है, न कि पूर्व ईश्वरसृष्ट जगत् का प्रमाणादि द्वारा जीव को ज्ञान होता है, इस रूप से दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं।[९०]

उपर्युक्त विवेचन एवं सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त के प्रतिष्ठित आचार्यों ने भी एकजीववाद को ही दृष्टिसृष्टिवाद माना है, न कि अनेकजीववाद को। ऐसी स्थिति में आचार्य वाचस्पतिमिश्र-सम्मत अनेकजीवाश्रितानेकाविद्यावाद को दृष्टिसृष्टिवाद की कोटि में रखा जाना सम्प्रदाय-विरुद्ध ही प्रतीत होता है।

६. अविद्या की भावरूपता

वाचस्पति मिश्र प्रतिजीव अविद्या का भेद मानते हैं, जिस जीव की अविद्या निवृत्त हो जाती है, उसे मोक्ष-लाभ हो जाता है। किन्तु सभी जीवों को इस प्रकार का मोक्ष-लाभ व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है नहीं, इसलिए सृष्टि का अनादि प्रवाह चला आ रहा है। यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि मोक्षावशिष्ट बन्धनयुक्त जीव अर्थात् यह समस्त प्रपंच महाप्रलयावस्था में कहाँ रहते हैं तथा उनकी पुनरुद्‌भूति (दृश्यावस्था) कैसे होती है?

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि महाप्रलयावस्था में यह समस्त प्रपंच अविद्या में विलीन हो जाता है तथा समय पर पुनरुद्‌बुद्ध होता है। अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि महाप्रलय में अन्तःकरणादि समुदाचरद्‌वृत्ति वाले नहीं होते हैं तथापि स्वकारणभूत अनिर्वचनीय अविद्या में लीन होकर सूक्ष्मशक्ति रूप से कर्मविक्षेपिका अविद्या की वासनाओं के साथ स्थित रहते हैं। जैसाकि स्मृति भी कहती है कि यह समस्त प्रपंच तमोभूत, अज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय तथा सर्वतः प्रसुप्त-सा था।[९१] अन्तःकरणादि वह समस्त प्रपंच अवधि को प्राप्त कर परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर उसी प्रकार माया से प्रादुर्भूत (प्रकट) होता है जिस प्रकार कच्छप के शरीर में संकुचित उसके अवयव समय पर बाहर निकल आते हैं अथवा जिस प्रकार मेंढक के शरीर वर्षा बीतने के पश्चात् जहाँ के तहाँ पृथ्वी में पड़े सूख जाते हैं और फिर वर्षा के होने पर पहले जैसे विकसित रूप में आते हैं, उसी प्रकार अविद्या में निहित प्रपंच अनुकूलता पाकर समय पर व्यक्त, स्फुटित हो जाया करता है।[९२]

वाचस्पति का यह कथन जहाँ उपर्युक्त शंका का समाधान करता है, वहाँ इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है कि अविद्या भावरूप है। उक्त दोनों उदाहरण भावरूप वस्तु के हैं। अतः कूर्म या पृथ्वी के समान ही अविद्या तत्त्व को भावरूप माना गया है। यदि उसे अभावरूप मानते तो सृष्टि की उत्पादन प्रक्रिया किसी अभाव वस्तु से निर्दशित करते। किन्तु कोई भी अभाव वाचस्पति मिश्र के मस्तिष्क में ऐसा अवतीर्ण नहीं होता जिसे कुछ वस्तुओं का उत्पादक माना जाए। अतः अज्ञान या अविद्या को वाचस्पति मिश्र

भावरूप ही मानते थे, अभाव रूप नहीं। साथ ही उन्होंने प्रलयावस्था में ही अविद्या को ही प्रपंच का आधार माना है, भावरूप वस्तु ही किसी का आधार बन सकती है, अभाव रूप नहीं। इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इसीलिए कल्पतरुकार ने भी कहा है कि वाचस्पति भावरूप अविद्या को ही मानते थे—

भ्रमात् संस्कारतश्चान्या मण्डूकमृदुदाहृतेः।
भावरूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह ॥[63]

७. प्रत्यक्ष से श्रुति की प्रबलता

शास्त्रीय अर्थ की प्रतिपत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना कि श्रुति प्रमाण को। अतः प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रुतियों का प्राबल्य मानना होगा। यहाँ सन्देह यह होता है कि यदि प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रुति को बलवत्तर माना जाए तब 'यजमानः प्रस्तरः', 'आदित्यो यूपः' आदि वाक्यों में प्रत्यक्ष विरोध का परिहार करने के लिए प्रस्तरादि अर्थों में यजमानादि शब्दों का प्रयोग गौणी वृत्ति का सहारा लेकर किया गया है उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि प्रत्यक्ष दुर्बल है, बाधित हो सकता है। अतः गौणी वृत्ति की चर्चा अनुपयुक्त और निरर्थक हो जाती है।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[64] कि कहीं पर प्रत्यक्ष श्रुतिप्रमाण से प्रबल होता है और कहीं पर श्रुति प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रबल होती है। प्रत्यक्ष से वही श्रुति प्रबल होती है जिसका कि अपने अर्थ में मुख्य तात्पर्य विवक्षित हो। 'यजमानः प्रस्तरः' जैसी श्रुतियों का स्वार्थप्रतिपादन में तात्पर्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यजमान को प्रस्तर कहने में मुख्य तात्पर्य नहीं है। अतः ऐसे श्रुतिवाक्य प्रत्यक्ष से दुर्बल होते है। प्रत्यक्ष के अनुरोध पर उन श्रुतिवाक्यों का अन्यथा अर्थ-परिकल्पन सर्वथा उचित और न्याय-संगत है। किन्तु 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' आदि स्वार्थ में मुख्य तात्पर्य रखने वाली श्रुतियों का प्राबल्य प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा भी माना जाता है। शबरस्वामी ने कहा है—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—शब्द का मुख्यार्थ वही है जिसमें कि शब्दविशेष का तात्पर्य हो। अर्थवाद वाक्यों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं माना जाता। अतः वे वाक्य मुख्य रूप से स्वार्थ का प्रतिपादन नहीं किया करते अपितु गौण्यादि वृत्तियों से उनका तात्पर्य अन्यार्थ में हुआ करता है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' आदि अर्थवादवाक्यों का तात्पर्य केवल इतना ही माना जाता है कि वायु-देताक-कर्म प्रशस्त है। इतने मात्र से 'वायव्यं श्वेतमालभेत पशुकामः' जैसे विधिवाक्यों को इतना बल मिल जाता है कि प्रमादवश स्वयं अप्रवृत्त मनुष्य भी उस कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसी बात को 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।१) आदि सूत्रवाक्यों में प्रतिपादित किया गया है। यदि कथित अर्थवाद वाक्य का पूर्णतया स्वार्थ में तात्पर्य माना जाता तब उसकी एकवाक्यता विधि-वाक्यों के साथ मानने की कोई आवश्यकता न रहती और न वह सम्भव ही हो पाती क्योंकि समान अर्थ के प्रतिपादक दो वाक्यों की एकवाक्यता मानी जाती है। किन्तु

अर्थवाद वाक्य कुछ और ही क्या कह रहा है जबकि विधिवाक्य कर्म की ओर प्रेरित कर रहा है। अत: अर्थवाद वाक्यों की लक्षणा के द्वारा ही विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता का निर्वाह करना होगा। इसी प्रकार 'दृष्टविरोधात्' आदि सूत्रों में कुछ ऐसे अर्थवाद-वाक्य उदाहृत हुए हैं जो कि प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण स्वार्थ में प्रमाण नहीं माने जाते। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र का यह कहना सर्वथा शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार है कि स्वार्थ में तात्पर्य रखने वाले श्रुतिवाक्य ही प्रत्यक्ष से प्रबल हुआ करते हैं।[६५]

८. श्रवणादि में विधिवाक्यता का अनभ्युपगम

'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः...' (बृ० २।४।५) इत्यादि वाक्य श्रवणादि का विधान करता है अथवा नहीं, इस विवाद में वाचस्पति मिश्र का अपना विशिष्ट मत है। जिस प्रकार मनन और निदिध्यासन ज्ञानरूप होते हैं वैसे श्रवण भी ज्ञानरूप ही है, केवल क्रियामात्र नहीं क्योंकि आगमाचार्योपदेशजन्य ज्ञान को श्रवण कहा जाता है। ज्ञान में किसी प्रकार की विधि सम्भव नहीं, अत: श्रवण, मनन, निदिध्यासन में से किसी भी वस्तु का विधान सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए भाष्यकार ने समन्वयसूत्र में आत्म-ज्ञान में विधि का निराकरण करने के पश्चात् प्रश्न किया है "किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः...' इत्यादीनि वचनानि विधिच्छायानि ?" और उसका उत्तर स्वयं दिया है—'स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः'[६६] अर्थात् 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' आदि वाक्य दर्शन, श्रवण आदि का विधान नहीं कर सकते किन्तु केवल मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विविधधर्मानुष्ठान से विमुख करने के लिए उन वाक्यों का प्रयोग होता है। भाव यह है कि उक्त वाक्यों का, आत्मा का दर्शन या श्रवण करो, इस प्रकार की आज्ञा में तात्पर्य नहीं, अपितु आत्मचिन्तन से भिन्न विविध कर्मानुष्ठान आदि मत करो नहीं तो आत्मचिन्तन कैसे होगा, केवल इस भाव को सूचित करने के लिए 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' आदि वाक्य उपयुक्त होते हैं।

यदि श्रवणादि को ज्ञानस्वरूप न मानकर वेदान्त-तात्पर्य विचाररूप क्रियापरक माना जाए तब भी तात्पर्य-निर्णय के द्वारा वेदान्ततात्पर्यगत भ्रमसंशयरूप प्रतिबन्धक का निराकरण या दूसरे प्रतिबन्धकों का निराकरण अथवा ब्रह्मज्ञान फल माना जा सकता है जिसके साथ श्रवण का साध्य-साधन-भाव लौकिक अन्वयव्यतिरेक के आधार पर ही सिद्ध हो जाता है, उस फल के लिए भी श्रवण का विधान नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि विचार का विधान न मानने पर गुरुनिरपेक्ष विचार भी प्रसक्त हो जाता है, उसे निवृत्त करने के लिए विचारविधि को परिसंख्यात्मक मानना चाहिए, तो यह नहीं कह सकते क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य ने समग्रवेदार्थज्ञान के उद्देश्य से स्वा-ध्याय का विधान किया है। स्वाध्याय गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण मात्र माना जाता है जिसके लिए गुरु की अपेक्षा, गुरु का सान्निध्य अनिवार्य है। धर्ममीमांसा के समान ब्रह्म-मीमांसा से पहले समावर्तन-संस्कार निषिद्ध माना गया है। अत: गुरुनिरपेक्ष विचार की प्राप्ति ही नहीं है जिसे हटाने के लिए किसी प्रकार की विधि की अपेक्षा हो। फलतः

श्रवणवाक्य में किसी प्रकार की विधि न सम्भावित है और न विवक्षित है, यह वाचस्पति मिश्र की अद्वैत वेदान्त में विशेष मान्यता प्रचलित है।[९७]

६. त्रिवृत्करण

सृष्टि के विषय में छान्दोग्य प्रदर्शित त्रिवृत्करण-प्रक्रिया को उपलक्षक मान कर वेदान्ताचार्यों ने पञ्चीकरण प्रक्रिया का समाश्रयण किया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र का रुझान त्रिवृत्करण की ओर है[९८] जैसाकि प्राक्-प्रवाह में संकेत किया जा चुका है। वेदान्तकल्पतरुकार ने वाचस्पति मिश्र की इस विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है—

> "सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितम्।
> तथापि युक्तियुक्तत्वाद् वाचस्पतिमतं शुभम्॥
> पृथिव्यबनलात्मत्वं गगने पवने च चेत्।
> रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं प्रसज्यते॥
> अर्धभूयस्त्वतः क्षित्याद्यविभावनकल्पने।
> व्यवहारपथा प्राप्ता मुधा पञ्चीकृति र्भवेत्॥
> अनपेक्ष्य फलं वेदसिद्धेत्येषेष्यते यदि।
> त्रिवृत्कृतिः श्रुता पञ्चीकृति न क्वचन श्रुता॥"[९९]

अर्थात् वेदान्त-सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों ने पञ्चीकरण का प्रतिपादन किया है तथापि वाचस्पति ने त्रिवृत्करण ही अपनाया है। उनका यह मत अत्यन्त युक्तिसंगत है। पृथ्वी, जल और अनलमयत्व यदि गगन और पवन में भी माना जाए तब रूपवत्त्व और महत्त्व का सम्बन्ध हो जाने से उनमें चाक्षुषत्व की प्राप्ति हो जाएगी। अर्धभाग की अधिकता होने के कारण यदि क्षित्यादि का अभिभव आकाश और वायु में माना जाए तब पञ्चीकरण व्यर्थ हो जाता है तथा जिस प्रकार त्रिवृत्करणप्रतिपादिका श्रुति उपलब्ध होती है[१००] उस प्रकार पञ्चीकरण-प्रतिपादक कोई श्रुतिवाक्य उपलब्ध नहीं होता। अतः श्रुतिमूलक होने के कारण त्रिवृत्करण ही अपनाना चाहिए।

आशय यह है कि पृथ्वी, जल और तेज तीनों में परस्पर के गुणों का, धर्मों का विनिमय पाना जाता है। अतः तीनों में परस्पर का सम्मिश्रण एक विशेष मात्रा में होना चाहिए। जैसे पृथ्वीगतनीलरूपादि गुण जल एवं तेज में उपलब्ध होते हैं, वैसे वायु और आकाश में नहीं होते। पृथ्वी, जल, तेज तीनों चाक्षुष हैं। तीनों में जैसी समानता पाई जाती है वैसी वायु और आकाश में नहीं। वायु और आकाश में वैधर्म्य उपलब्ध होता है। स्पर्शगुण पृथ्वी, जल, तेज, वायु चारों का साधारण गुण है, किसी एक का विशेष रूप से नहीं। इसी प्रकार शब्दगुण भी केवल आकाश का न मानकर पाँचों भूतों का सामान्य गुण ही सिद्ध होता है। अथवा 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी।"[१०१] इस प्रकार के उत्पत्तिक्रम के अनुसार आकाश का शब्दगुण वायु आदि में एवं वायु का स्पर्श अग्नि आदि में उपलब्ध हो

जाता है किन्तु कारण के समान कार्यद्रव्य का कारण में समन्वय नहीं माना जाता तब जल और तेज में नील रूपादि का समन्वय कैसे होगा ? क्योंकि नीलादिरूप विशेषरूप से पृथ्वी के गुण माने गए हैं ? अतः मानना होगा कि पृथ्वी, जल और तेज का परस्पर किसी न किसी रूप में मिश्रण अवश्य हुआ है। श्रुति ने उस मिश्रण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि'[१०२] अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज तीनों के पहले दो-दो भाग किए गए और द्वितीयार्द्ध के फिर दो-दो भाग किए गए और उन्हें अपने प्रथमार्द्ध को छोड़कर दूसरे प्रथमार्द्धों में मिला दिया गया। यही त्रिवृत्करण है। इसी के कारण पृथ्वी जल, जल, तेज तीनों में इतनी समानता उपलब्ध होती है। यही प्रक्रिया उचित प्रतीत होती है।

किन्तु यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि त्रिवृत्करण के औचित्य तथा पञ्चीकरण के अनौचित्य के प्रतिपादन में श्री अमलानन्द सरस्वती ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे अखण्डनीय नहीं हैं। उनके कथनानुसार पञ्चीकरण प्रक्रिया को स्वीकार करने पर वायु तथा आकाश में पृथिव्यादि तीनों भूतों के अंशों का मिश्रण होने से उनमें रूपवत्ता व महत्ता की प्रसक्ति होगी और ऐसी अवस्था में वायु व आकाश चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय होने चाहिएँ। किन्तु त्रिवृत्करण प्रक्रिया भी तो इस दोष से मुक्त नहीं है क्योंकि तीनों भूतों का तीनों भूतों में मिश्रण होने पर जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध व नीलरूपादि का भान होता है, उसी प्रकार जल व तेज में भी होना चाहिए। अतः इस दोष का परिहार करने के लिए उनको यह मानना होगा कि जल व तेज में अपना भाग अधिक है और पृथ्वी का बहुत कम। फलस्वरूप जल व तेज में पृथ्वी के गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसी प्रकार पञ्चीकरण में भी वायु व आकाश में पृथिव्यादि के अल्पमात्रा में होने से रूपवत्ता व महत्ता की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस तरह दोनों पक्षों में दोष व परिहार के समान होने से केवल पञ्चीकरण प्रक्रिया की मान्यता को तार्किक आधार पर चुनौती देना समीचीन प्रतीत नहीं होता, जैसाकि अभियुक्तों ने कहा है—

"यत्रोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥"

संभवतः इसीलिए आचार्य वाचस्पति ने जो कि हृदय से त्रिवृत्करण के समर्थक हैं, पञ्चीकरण की खुलकर आलोचना नहीं की है। हाँ, "यद्यप्याकाशाद्या भूतसृष्टिः, तथापि तेजोबन्नानामेव त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात्तत्र तेजसः प्राथम्यात्तेजः प्रथममुक्तम्।"[१०३]— इन शब्दों से त्रिवृत्करण पर अपनी आस्था व्यक्त कर दी है। उनकी आस्था का मौलिक आधार त्रिवृत्करणश्रुति है। अतएव छान्दोग्योपनिषद् में "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत।"[१०४] इस श्रुति ने तेज से सृष्टि का आरम्भ प्रतिपादित किया है।

१०. सृष्टि में ईश्वर की निष्प्रयोजनता

'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्र० सू० २।१।३३)—इस सूत्र में सूत्रकार ने जगद्-

रचना के मूल में केवल ईश्वर की लीला, क्रीड़ा को कारण बताया है, किन्तु साधारण व्यक्ति की भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं हुआ करती तब इतने बड़े सर्वज्ञ सर्वकर्ता परमेश्वर की प्रवृत्ति निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन कैसे हो सकती है ? इस दोष से ईश्वर को बचाते हुए वाचस्पति मिश्र ने दो मार्गों का अनुसरण किया है—(१) निष्प्रयोजन-प्रवृत्ति का समर्थन (२) ईश्वरीय लीला का विलोप। सूत्र और भाष्य की शैली का अनुमोदन करना टीकाकार का दायित्व होता है। अतः पहले निष्प्रयोजन प्रवृत्तियों का प्रदर्शन वाचस्पति मिश्र ने किया है—"अदृष्टहेतुकौत्पत्तिकी श्वासप्रश्वासलक्षणा प्रेक्षावतां क्रिया प्रयोजनानुसन्धानमन्तरेण दृष्टा"[१०५] अर्थात् प्राणी श्वासप्रश्वास किया करता है, परन्तु इसका उद्देश्य विशेष प्रतीत नहीं होता, श्वास-प्रश्वास क्रिया तो स्वतः ही चलती रहती है स्वाभाविक रूप से। ऐसी ही कुछ क्रियाएँ नैसर्गिक होती हैं। सृष्टिक्रिया भी उसी ढंग की स्वाभाविक क्रिया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने कुछ गम्भीर विचार करने के बाद देखा कि चेतन में स्वतः कोई क्रिया है ही नहीं। वह सप्रयोजन हो या निष्प्रयोजन, चेतन में उसकी सम्भावना ही नहीं। हाँ, मायाशक्ति की रचना विश्व है और वह पारमार्थिक नहीं। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव जलना-जलाना, जल का आर्द्र करना आदि है, उसी प्रकार प्रकृति या माया का एक स्वभाव है कि वह कभी जगत् को बनाने लग जाती है और कभी उसके संहार में प्रवृत्त हो जाती है।[१०६] किसी वस्तु के स्वभाव पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि यह ऐसा क्यों है ? क्योंकि वस्तु का स्वभाव किसी उद्देश्य या प्रयोजन को नहीं देखा करता। अग्नि में किसी वस्त्रादि के गिर जाने पर भी दाहक्रिया का अवरोध नहीं देखा जाता। इसी प्रकार माया को जगद्-रचना के लिए विशेष प्रयोजन की आवश्यकता नहीं। सृष्टिप्रकाशक श्रुतियों का जीव-ब्रह्म-अभेद-विषयक उपदेश यह सिद्ध कर रहा है कि मिथ्या सृष्टि का अपने में कोई विशेष प्रयोजन नहीं, उससे केवल जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने में कुछ सहायता मिल जाती है। 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य'[१०७] इस प्रकार की प्रसुप्त भावना से अनुप्राणित प्राकरणिक प्रतिपाद्यवस्तु प्रतीत होती है। ईश्वर की क्रीडा की कोई आवश्यकता नहीं। उसकी लीला भी अनिवार्य नहीं, केवल अद्भुत मायाशक्ति का स्वभावमात्र है। चेतन का सान्निध्य पाने से माया का संस्कार प्रबुद्ध होकर स्वाभाविक क्रिया में संलग्न हो जाता है। चेतन का सान्निध्य कुछ उपयोगी होने के कारण चेतन को भी जगत् का उपादान कारण मान लिया जाता है। 'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्'[१०८] जैसी सांख्यप्रक्रिया की झलक ऐसे-ऐसे स्थलों पर स्पष्ट हो उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लीलासूत्र की मुख्य लीला तिरोहित-सी होकर माया की स्वाभाविक क्रियाशीलतारूप गौणलीला वाचस्पत्य-व्याख्यान में विवक्षित है। इस प्रकार ईश्वर पर किसी प्रकार का वैषम्य और नैर्घृण्य दोष भी प्रसक्त नहीं होता। इस प्रकार जगद्-रचना के मूल में लीला-कैवल्य का सिद्धान्त उपेक्षित होकर मायास्वभाव का सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र की अपनी उद्भावना प्रतीत होती है। इस विशेषता का अध्ययन अमलानन्द ने किया था—

"जीवभ्रान्त्या परं ब्रह्म जगद्बीजमजूघुषत्।
वाचस्पतिः परेशस्य लीलासूत्रमलूलुपत्॥"[१०९] इत्यादि।

उचित भी यही है। रज्जु में अकस्मात् सर्पभ्रान्ति का उदय हो जाने में क्या प्रयोजन ? अज्ञान अपनी विशेष परिस्थितियों में भ्रम को जन्म दे डालता है, भले ही उसका प्रयोजन हो या नहीं। सर्पभ्रान्ति से भयकम्पादि का होना भी वैसा ही स्वाभाविक है, उससे बचना उसके परिहार का प्रयत्न आदि भी उसी के आधार पर होता देखा जाता है। एक विरक्त पुरुष के समक्ष भी शुक्ति में रजत का अवभास हो जाना असम्भव नहीं। जगत् भी एक तरह का भ्रम, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्या, अध्यासमात्र है। रज्जु-सर्प आदि लौकिक दृष्टान्तों को लोकवत् शब्द से दिखाकर वाचस्पति मिश्र 'लीलाकैवल्यम्' शब्द का माया-स्वभाव अर्थ करते हुए प्रतीत होते हैं। मायास्वभाव के लिए 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' (ब्र०सू० २।१।३५) तथा 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र०सू० २।१।३६) जैसे सूत्रों की योजना भी बहुत सुन्दर हो जाती है। पुरुषलीलाजनित सृष्टि[११०] मानने पर अनादित्व आहत-सा होकर रह जाता है। अतः वाचस्पति मिश्र ने प्रपञ्च को माया का एक अनादिसिद्ध स्वभाव कह दिया जिसके मूल में उनकी गम्भीर गवेषणा-प्रेक्षा परिलक्षित होती है। जगत् की रचना और उसका संहार ब्रह्मतत्त्व की केवल व्याख्या-मात्र है, यह कहा जा चुका है। गौडपादाचार्य के अजुत्पाद अनिरोध की नैसर्गिक भावना[१११] का भी वाचस्पति मिश्र ने अवश्य ध्यान रखा प्रतीत होता है। एक गम्भीर अन्वेषक के उत्तर साधारण भाषा से अवश्य ही कुछ ऊँचे उठे हुए होते हैं किन्तु वह अपनी सामयिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का उपेक्षण न कर पाने के कारण समन्वय के शब्द कह डालता है परन्तु उसके हार्दिक भाव का दर्शन अमलानन्द जैसा सूक्ष्म-दृष्टि का विद्वान् ही कर सकता है।

११. ईश्वर-विवेचन

'शास्त्रयोनित्वात्, (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्र के भाष्य की निपातनिका तथा व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[११२] कि जन्मादि सूत्र में प्रतिपादित ईश्वर में जगत्कर्तृत्व तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उसमें सर्वज्ञता न मानी जाए। वह केवल जगत् का कर्त्ता होने के कारण ही सर्वज्ञ नहीं अपितु सर्वज्ञकल्प ऋग्वेदादि शास्त्रों का प्रणयन करने के कारण भी सर्वज्ञ माना जाता है। कोई भी शास्त्रकार स्व-रचित शास्त्र की अपेक्षा अधिक विज्ञानशाली होता है। जब उसके रचे ऋग्वेदादि शास्त्र ही सर्वज्ञ कल्प अर्थात् सर्वभासक हैं, तब ईश्वर की सर्वज्ञता में सन्देह ही कौन कर सकता है। अतः ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व आदि धर्म निसर्गतः सिद्ध हो जाते हैं।

यद्यपि वाचस्पति मिश्र का व्यक्तित्व सेश्वर दर्शन से लेकर अनीश्वर दर्शन तक व्याप्त है, और एक सच्चे दार्शनिक के लिए प्रकरण और शास्त्रीय संगति के अनुसार उसे वही कहना पड़ता है जिसका जहाँ उपयोग है। सर्वप्रथम रचना 'न्यायकणिका' में वाचस्पति ने ईश्वर की सिद्धि विस्तार से दिखाई है।[११३] उनका कहना है कि मृत्, जल आदि अचेतन तत्त्व चेतन की प्रेरणा के बिना ही यदि कार्य-सम्पादन करते हैं तब कोई भी कार्य कहीं भी पैदा हो सकता है, इससे देश-काल का नियम समाप्त हो जाएगा। देश-काल नियम को न मानने पर पृथ्वी पर बिखरे विविध वनस्पतियों के बीज वर्षाकाल में

ही क्यों, कालान्तर में भी अंकुर, काष्ठ, पत्र आदि को जन्म देने लगेंगे। ऊषर पृथ्वी पर वनस्पतियों का जन्म क्यों नहीं होता? पार्थिवधर्म जलादि में तथा जलादि के धर्म पृथ्वी में उपलब्ध क्यों नहीं होते? अतः देशकाल-वस्तु के अनुसार व्यवस्था माननी पड़ती है। किन्तु यह व्यवस्था बिना किसी चेतन व्यवस्थापक के सम्भव नहीं। अतः ईश्वर को देश-काल से व्यवस्थित जगत् का रचयिता मानना पड़ता है। यदि कहा जाए कि बीज जड़ होने पर भी हेतु प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा से कार्योत्पादक होता है, स्वतः नहीं, अतः क्षितिसलिलसंयोगादि की अपेक्षा से अंकुरादि का जन्म होगा, सर्वत्र सर्वदा नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि चेतन की सहायता के बिना हेतुप्रत्यय का उचित समवाय अपने आप नहीं हो सकता। यह सत्य है कि एक अकेला परमाणु महाभूतों की सृष्टि नहीं कर सकता, उसे समुचित सामग्री समवधान की आवश्यकता होती है किन्तु किस कार्य के लिए किस प्रकार की कितनी सामग्री अपेक्षित है, इस प्रकार का ज्ञान रखने वाले चेतन की सत्ता भी सामग्री-समवधान के नियामकरूप से माननी पड़ेगी ही। इस प्रकार जगत् की रचना सर्वज्ञमूलक ही हो सकती है अन्यथा नहीं। दण्डचक्रचीवर आदि सामग्री के रहने पर भी यदि कुलाल नहीं है तो उस सामग्री से घट का निर्माण नहीं हो सकता। घट का निर्माण तभी हो सकता है जबकि उसके उपादानादि कारणों का यथावत् परिज्ञाता और निमित्त को सव्यापार करने की प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञाता पुरुष यदि कोई हो। इस प्रकार जहाँ-जहाँ कार्योत्पत्ति देखी जाती है वहाँ-वहाँ सर्व साधनों का अभिज्ञ एवं क्रियाकुशल चेतन अधि-ष्ठाता देखा जाता है। उस प्रकार के अधिष्ठाता के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। अतः कार्यत्व और उपादानाद्यभिज्ञ चेतन की सत्ता, इन दोनों धर्मों का व्याप्ति-सम्बन्ध निश्चित होता है। जगत् के उपादान परमाणु आदि का प्रत्यक्षज्ञान ईश्वर को नहीं हो सकता क्योंकि उसका कोई शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं और प्रत्यक्ष उसी ज्ञान को कहा जाता है जो इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष से उत्पन्न हो। इस प्रकार का आक्षेप वैदिक ईश्वर पर नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यत्व, यह लक्षण लौकिक प्रत्यक्ष या जीव के प्रत्यक्ष का माना जाता है, ईश्वरप्रत्यक्ष का लक्षण वह नहीं। इन्द्रियादि के बिना ही उसे वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जैसाकि श्रुति कहती है—"पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"[११४] अर्थात् वह बिना आँख के देखता है, बिना कान के सुनता है। उसका कोई शरीर नहीं। बिना शरीर के ही वह संकल्पमात्र से जगत् का नियामक और रचयिता माना जाता है।

ईश्वरवादियों के द्वारा प्रसाधित ईश्वर का निराकरण मण्डन मिश्र ने किया है—"वार्तमेतत्—न च बुद्धिमात्रं सन्निवेशहेतुर्विन्यासप्रयोजनविचारनिर्णयात्मिका प्रेक्षा। न च सा तत्र संभवति, स्वार्थपरार्थाऽभावादिति। ननु मा भूत् सर्वज्ञो नियोक्ता"[११५] अर्थात् भवन नगरोपवन की रचना से सरित् वन, पर्वतादि की रचना अवश्य विलक्षण है, किन्तु वह भी एक रचना है जिसके आधार पर अधिक-से-अधिक चेतन की सत्ता प्रमाणित होती है। उसका एक एवं सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक जीव अपने प्रयत्न से किसी कार्य का सम्पादन करता है। कहीं पर अनेक मनुष्य मिलकर सामूहिक-कार्य-सम्पादन करते देखे जाते हैं। प्रत्येक प्राणी के अदृष्टों के अनुसार व्यष्टिकार्य होता है और समष्टि-अदृष्टों की प्रेरणा से सामूहिक भूतभौतिक सृष्टि का निर्माण हुआ करता है। किसी एक

सर्वज्ञ सर्वकर्ता की कोई आवश्यकता नहीं। कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। उससे जन्य अदृष्ट कर्त्ता में निहित होकर समय पर कार्य-सम्पादन किया करते हैं। कार्य-सम्पादन की प्रेरणा, एक प्रकार की अभिज्ञता, वेद से प्राप्त हो जाती है, उसके लिए भी ईश्वर को कोई आवश्यकता नहीं। अतः जिस ईश्वर की सत्ता आवश्यक बताई जाती है उसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

वाचस्पति मिश्र द्वारा तात्पर्यटीका एवं भामती में प्रसाधित ईश्वर का निराकरण बौद्ध एवं जैन आचार्यों ने भी किया है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति ने ईश्वरसाधन पर विशेष दोष दिखाए हैं। उनका प्रबल दोष साध्य-साधन की व्याप्ति की असिद्धि ही है। जैसाकि कहा है—"तथापि प्रतिबन्धासिद्धेः कार्यमपि स्यात्, न च बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकमित्याशंका बाधवैधुर्यात् कार्यं बुद्धिमति साध्ये सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेत्वाभासः"[११६] अर्थात् द्वयणुक, त्रसरेणु, नदी, वन, पर्वत आदि कार्य अवश्य देखे जाते हैं किन्तु इनके मूल में किसी सर्वज्ञ कर्त्ता को उपलब्धि नहीं होती। घटादि का जन्म ऐसे कुलाल से होता है जो सर्वज्ञ नहीं, केवल कुछ वस्तुओं का उसे ज्ञान होता है। मेघ जैसे कार्यों के बनने-बिगड़ने में कोई भी चेतन कर्त्ता उपलब्ध नहीं होता। अतः जो जो कार्य होता है वह तदुपादानाभिज्ञ-कर्तृपूर्वक होता है, यह व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। बिना व्याप्ति के ईश्वर का अनुमान सम्भव नहीं हो सकता। ईश्वर में सर्वज्ञतासिद्धि के पहले सर्वकर्तृत्व सिद्ध करना होगा किन्तु घटादि कार्यों की कर्तृता उसमें उपलब्ध न होने के कारण ईश्वर में सर्वकर्तृत्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता। कुलालादि कर्त्ता शरीरी देखे जाते हैं। अतः शरीरी ईश्वर ही जगत् का निर्माण कर सकता है किन्तु उसके शरीर का निर्माण किसने किया? यदि दूसरे ईश्वर ने, तो दूसरे ईश्वर के शरीर का निर्माण तीसरे ईश्वर ने, इस प्रकार अनवस्था दोष प्रसक्त होता है।

वाचस्पति मिश्र ने 'शास्त्रयोनित्वात्' के आधार पर जो यह कहा था कि सर्वज्ञ-कल्प-वेद-प्रणेता होने के कारण ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाए, इस वक्तव्य का भी निराकरण करते हुए विपक्षियों ने वेद का एवं उसकी प्रामाणिकता का निराकरण करके ईश्वर की सर्वज्ञता का निराकरण किया है। उनका कहना है कि वेद में विरुद्धार्थ-प्रतिपादन एवं असंगतियों को देखकर किसी भी विवेकशील को उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह हो जाता है, सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने के कारण यदि उसे प्रमाण माना जाए, तब अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है।

इस प्रकार बौद्धों के द्वारा दूषित ईश्वर की सिद्धि करने के लिए वाचस्पति मिश्र के व्याख्याकार उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया और आचार्य वाचस्पति के स्थापना पक्षों पर प्रतिपक्षियों द्वारा किए गए आक्षेपों का प्रतिक्षेप सुदृढ़ शब्दों में किया है एवं अकाट्य-तर्क-प्रणाली के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की है। उदयनाचार्य ने वाचस्पति द्वारा निर्दिष्ट 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।४) सूत्र में सूचित ईश्वरगत जगत्कर्तृत्व को प्राथमिकता देते हुए ईश्वर के साधन में कहा है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥"[११७]

अर्थात् जगद्रूपी कार्य सिद्ध कर रहा है कि इसका कोई स्रष्टा असाधारण पुरुष होना चाहिए जिसमें समग्र जगद्रचना की पूर्ण क्षमता विद्यमान हो। ईश्वर को छोड़कर अन्य कोई ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं का आयोजन अर्थात् कार्यों के अनुरूप उचित मात्रा में संयोजन एकमात्र चेतनाशक्ति का काम है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि की अपनी-अपनी कक्षा में धृति, स्थिरता से भी यही प्रमाणित होता है कि कोई इनका नियन्ता अवश्य होना चाहिए। शब्द अर्थ का ज्ञान कैसे कराता है, इस प्रक्रिया पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कोई आचार्य जब किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ संगति-ग्रहण बालक को करा देता है और यह स्पष्ट बता देता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, तब शब्द की शक्ति का ज्ञान होता है और उसके आधार पर प्रयोग-परम्परा प्रचलित हो जाती है। यद्यपि शब्दशक्ति-ग्रहण के और भी बहुत से उपाय मनुष्यों ने निर्धारित किए हैं,[११८] किन्तु सृष्टि के आरम्भ में एकमात्र उपदेश को छोड़कर और कोई मार्ग सम्भव नहीं। उस समय प्रथम उपदेष्टा वही हो सकता है जिसने शब्दों की रचना की हो, वह वही परमेश्वर है जिसकी सूचना योगसूत्रकार ने दी है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'[११६] अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में सर्वतः पूर्व उत्पन्न हुए महर्षियों का भी गुरु है, उपदेष्टा है, उसका काल से परिच्छेद नहीं किया जा सकता, वह नित्य है। ब्रह्मसूत्रकार ने भी कहा है—'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३) अर्थात् वेद वह मौलिक शास्त्र[१२०] है जो कि प्राणियों का हितानुशासन और उनके अज्ञान एवं मोह को दूर करते हुए लौकिक और पारलौकिक पथों का प्रदर्शन किया करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने मीमांसा के प्रांगण में ईश्वर की आलोचना अवश्य की है किन्तु मीमांसकगण वेदप्रतिपादित धर्माधर्मरूपी कर्म को प्राधान्य देना चाहते थे। ईश्वर जगत् का रचयिता है, नियन्ता है, इस विषय में उनका मतभेद नहीं था। कुमारिल भट्ट जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों ने भी अपनी रचनाओं के आरम्भ में ईश्वर को नमस्कार किया है—

> विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
> श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥

अर्थात् विशुद्ध विज्ञान जिसका स्वरूप है, ऋक-यजुः-साम तीन जिसके नेत्र हैं, ऐसे अर्द्ध-चन्द्र धारण करने वाले त्रिलोचन भगवान् को हम कल्याण-प्राप्ति के लिए नमस्कार करते हैं।

प्रायः सभी वैदिक दार्शनिक ईश्वर का स्वरूप विशुद्ध विज्ञान या चैतन्यरूपता माना करते हैं। मूलतः उस निराकार तत्त्व का उसी प्रकार विभिन्न क्रियाओं के सम्बन्ध से विभिन्न नामकरण और विभिन्न आकार-प्रकार बताया करते हैं, जैसे कि एक ही प्राण के प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान जैसे भेद किए जाते हैं। वेदान्त दर्शन भी उसके साकार और निराकार दोनों प्रकार के विग्रह मानता है। उसे सगुण निर्गुणादि शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में चर्चित सगुण विद्याओं में उसकी विशेष चर्चा आई है। यद्यपि 'जन्मादि' सूत्र में जो लोग जगत् जन्म आदि के द्वारा

ईश्वरानुमान की सूचना निकाला करते थे, उनका निराकरण किया गया है—"न च स्वभावतः विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे, न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्"[१२१] अर्थात् ईश्वर को जगत् का कारण मानने वाले कुछ लोग इस सूत्र का उपयोग ईश्वरानुमान में किया करते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि सूत्रों का प्रयोजन वेदान्त-वाक्यों पर विचार करना ही है, अनुमानादि के द्वारा स्वतन्त्र विचार करना नहीं, तथापि वेदान्ती आचार्य ईश्वर और उसकी कारणता से इन्कार नहीं किया करते। इस सूत्र का मुख्य तात्पर्य यह है कि वेदान्त-वाक्यों पर निर्णय प्रस्तुत करना सूत्रों का काम है। उस निर्णय के द्वारा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"[१२२] आदि औपनिषद वाक्यों के द्वारा उस जगत्-कारण परमेश्वर का निश्चय किया जाता है। इसे ही उदयनाचार्य ने अपने शब्दों में 'श्रुतेः' शब्द से सूचित किया है।[१२३]

जन्मादि सूत्र में वैशेषिकों के द्वारा यदि ईश्वरानुमान प्रस्तुत किया जाता है तो वह भी अत्यन्त निराकरणीय नहीं, यह सूचित करने के लिए भामतीकार ने कहा है—"यदन्ये वैशेषिकादय इत एवानुमानादीश्वरविनिश्चयमिच्छन्तीति संभावनाहेतुतां द्रढयितुमाह......एतावतैवाधिकरणार्थे समाप्ते वक्ष्यमाणाधिकरणार्थमनुवदन् सुहृद्भावेन परिहरति"[१२४] आशय यह है कि ईश्वरानुमान करने वाले वैशेषिकों के साथ आचार्य शंकर ने सौहार्द एवं सहानुभूति रखते हुए भी सूत्र का मुख्यतः उद्देश्य वेदान्तवाक्यों का विचार बतलाया है, न कि अनुमानसिद्ध ईश्वर का प्रतिपादन।

१२. ब्रह्म की सर्वज्ञता

वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बताया गया है, साथ ही निमित्त कारण भी।[१२५] अतः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता का सामंजस्य ब्रह्म में करना आवश्यक है। तार्किक विद्वान् ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हुए कहा करते हैं कि उपादानगोचर अपरोक्षज्ञानवत्ता होने के कारण ईश्वर में कर्तृत्व माना जाता है। अर्थात् वही कुलाल घटादि का कर्त्ता बन सकता है जिसने घट के उपादान कारण मृत्पिंड का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार सर्वजगत्कर्ता ब्रह्म को सर्वज्ञ होना चाहिए। सर्वज्ञता श्रुति प्रमाणों के आधार पर उसमें प्रमाणित भी है—"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।"[१२६] यहाँ 'सर्वज्ञ' शब्द के अर्थ पर ध्यान देना है। "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः"—सर्वज्ञ वही कहा जा सकता है जो कि सर्वविषयकज्ञान का कर्त्ता हो। 'तिप्' प्रत्यय के द्वारा धात्वर्थकर्तृत्व का उपपादन किया जाता है, जैसे 'पचति' शब्द में पाककर्तृत्व आदि का प्रतिपादन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वविषयकज्ञान कर्तृत्व की उपपत्ति ब्रह्म में करनी आवश्यक है। ज्ञानकर्तृत्व का अर्थ है ज्ञानजनकता। सर्वविषयक ज्ञान कौन है? वह जन्य है अथवा नित्य? नित्य होने पर उसका कर्तृत्व या जन्यत्व सम्भव कैसे होगा? आदि प्रश्नों का उत्तर देते समय सर्वविषयकजन्य ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करना होगा किन्तु सर्वविषयकज्ञान वही हो सकता है जो कि सर्वजगत्

सम्बन्धी हो या जिसमें सर्वजगत् प्रतिबिम्बित हो। ऐसा सामान्य चैतन्यरूप ब्रह्म सर्व-विषयक ज्ञान माना जा सकता है, किन्तु वह जन्य नहीं होता। अतः उसका जनक वही कैसे होगा? तब सर्वज्ञ किसे कहेंगे? इसलिए सर्वविषयकज्ञान को जन्य मानना आवश्यक है।

वाचस्पति मिश्र ने इन सभी समस्याओं को हृदय में रखकर कहा है[१२७] कि सर्व-विषयक ज्ञान ब्रह्म चैतन्य ही हो सकता है क्योंकि सभी पदार्थों में उसका साक्षात् सम्बन्ध है, सभी वस्तुएँ उसी में अध्यस्त हैं। तटस्थ वृक्षों के समान सभी प्रपंच उस ब्रह्म महा-सागर में प्रतिबिम्बित और प्रतिफलित है। स्वरूपतः जन्य न होने पर भी औपाधिक रूप से उसमें जन्यता का आरोप किया जाता है, जैसे कि आकाश नित्य होने पर भी कर्ण-शष्कुल्यवच्छिन्न होने पर जन्य मान लिया जाता है। इसी प्रकार दृश्यावच्छिन्न चैतन्य जन्य है, कार्य है और उसका कर्तृत्व अनवच्छिन्न चैतन्य में अबाधित होने के कारण सर्वज्ञानकर्तृत्व सर्वज्ञत्व निभ जाता है।

यद्यपि जीवगत अभिज्ञता का स्वरूप बताते हुए वेदान्त में कहा जाता है कि वह अन्तःकरणवृत्ति के द्वारा ज्ञाता माना जाता है। ईश्वर मायावृत्ति के द्वारा ज्ञाता या सर्व-ज्ञाता कहा जाता है। किन्तु 'तदैक्षत' आदि पदों से प्रतिपादित ईक्षण संकल्प को प्रथम सृष्टि माना जाता है। उसके पश्चात् माया आदि समस्त प्रपञ्च का आविर्भाव हुआ करता है। अतः उससे पहले ब्रह्मगत सर्वज्ञता का नियामक माया को नहीं माना जा सकता अपितु साक्षात् ब्रह्म चेतन को सर्वभासक सर्वज्ञान कहना होगा। इसलिए वाचस्पति मिश्र ने माया के द्वारा सर्वज्ञता उपपादन का मार्ग न अपनाकर साक्षात् सर्वभासकत्वरूप-सर्वज्ञता का निर्वाह ब्रह्म चेतन में किया है। उसे जन्यता प्रदान करने के लिए जन्य उपाधि का अवलम्बन किया गया है। अतः सर्वदृश्यावच्छिन्न चेतन वह सर्वविषयज्ञान है जिसे जन्य माना जा सकता है। उसकी जनकता अनवच्छिन्न शुद्ध ब्रह्म में समन्वित होने के कारण उसे 'सर्वज्ञ' और 'सर्ववित्' आदि पदों से अभिहित किया जाता है। उपादान-गोचर अपरोक्ष ज्ञान वही दृश्यावच्छिन्न ब्रह्म है जिसके द्वारा विशुद्ध ब्रह्म में सर्वकर्तृत्व का निर्वाह किया जाता है।

१३. अवच्छेदवाद

वह सर्वज्ञ तथा एकमात्र पारमार्थिक सत्य ब्रह्म नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है। फिर उसमें प्रपंचरूप विवर्त कैसे भासता है? उत्तर दिया जाता है कि अपनी औपा-धिक या मायिक शक्तियों के द्वारा ही वह प्रपंच रूप में भासता है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव',[१२८] 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[१२९] अर्थात् परमेश्वर अपनी मायिक शक्तियों के द्वारा अनेक रूप धारण करता है और जो वस्तु जैसी होती है उसी का प्रतिरूप बन जाया करता है, आदि श्रुतियों के आधार पर एक चेतन की अनेकरूपापत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। एक वस्तु किस प्रकार अनेक रूपों में आ सकती है, इस प्रश्न का उत्तर मनीषियों ने कई प्रकार से दिया है। कुछ आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार एक सूर्य अनेक जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूप धारण कर लिया करता है, उसी प्रकार

एक ब्रह्म अनेक अज्ञानखण्डों या अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होकर जीव कहलाने लगता है। इस सिद्धान्त को बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद कहा जाता है। अन्य विचारकों ने एक की अनेकरूपता का एक दूसरा ही निमित्त बतलाया है। जैसे एक ही आकाश अनेक घट, मठ, मणिक और मल्लिका आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाशादि अनेक रूपों में विभक्त-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनन्त अज्ञानखण्डों या अन्तःकरणों से अवच्छिन्न होकर अनेक रूपों में प्रतीत होता है। इस मत को अवच्छेदवाद कहा जाता है।

आचार्य वाचस्पति के पूर्ववर्ती आचार्य पद्मपाद ने उपाधि की व्याख्या बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से की है। उनका कहना है[१३०] कि जीव ब्रह्म का एक प्रतिबिम्ब है, जैसे कि जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और एक ही सूर्य के अनन्त प्रतिबिम्बों के द्वारा अनन्त जलखण्ड जाज्वल्यमान हो उठते हैं। उनका तरंगित वक्षःस्थल प्रतिफलित ज्योति के द्वारा सज्योति, जीवित, सप्राण हो उठता है और वह ज्योतिःपुंज भी तरंगों के आन्दोलन, अनुलोम-प्रतिलोम-प्रवाहों से प्रभावित हो जाता है। प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब से पृथक् नहीं मानी जाती क्योंकि जलसदृश स्वच्छ धरातल से टकराकर नेत्र-रश्मियाँ आकाशस्थ सूर्य पर पहुँचकर उसका ग्रहण करने लग जाती हैं। जल में बिम्बोद्ग्रहण केवल भ्रममात्र, कल्पनामात्र या स्वप्नमात्र होता है। प्रतिबिम्बभूत जीव अपनी उपाधि अन्तःकरण या व्यष्टि-अज्ञान की विकराल कार्य-प्रणाली से विह्वल हो जाता है, उसकी व्याकुलता का आकलन करके क्षेत्रीय अनूचानाचार्य उसे उसके वास्तविक बिम्ब-स्वरूप का स्मरण दिलाता है और कहता है कि तू कर्ता और भोक्ता नहीं तथा सांसारिक वातावरण एवं प्रमाणों से सर्वथा अछूता, निलिप्त और असंग है। इस प्रकार बिम्बरूपता का ज्ञान होते ही जीव की आँखें खुल जाती हैं और सदा के लिए उसके सामने उसका अपना नैसर्गिक भव्य भूम स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है और वह सदा के लिए जगत् के घोर अन्धकार से छुटकारा पा जाता है।

यह विमल शैली भी पद्मपादाचार्य की देन है किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र को वह शैली रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। उन्होंने उससे असहमति प्रकट करते हुए[१३१] स्वयं प्रतिकर्म व्यवस्था के लिए जीव को ब्रह्म का एक अवच्छिन्न-परिच्छिन्न स्वरूप मानकर अपनी वेदान्त-मर्यादा का अभिनव व्याख्यान प्रस्तुत किया है तथा अवच्छेदवाद की स्थापना की है। उनका कहना है कि बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रूपवान् द्रव्य में रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्ब हुआ करता है, जैसे कि रक्त जपाकुसुम का शुक्ल स्फटिक में प्रतिबिम्ब होता देखा जाता है, नीरूप आकाश में किसी दूसरे का एवं नीरूप आकाश का किसी दूसरे में प्रतिबिम्ब देखा नहीं जाता। ब्रह्म स्वतः नीरूप है, उसका प्रतिबिम्ब अज्ञान या अन्तःकरण में सम्भव नहीं हो सकता। अतः बिम्बप्रतिबिम्बभाव दूषित-सा प्रतीत होता है। फलतः अन्तःकरणावच्छिन्न या व्यष्टि-अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव मानना पड़ेगा। वह अवच्छिन्न-चैतन्य अवच्छेदक-उपाधि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जनन, मरण के प्रवाह का अनुभव करता हुआ अनन्त पीड़ाओं से पीड़ित रहता है, जब

उसे अपने अनवच्छिन्न, विभु, व्यापक, स्वच्छ स्वरूप का साक्षात्कार, अभिन्नदर्शन होता है, तब वह सदा के लिए मुक्त, दुःख-बन्धनों से दूर, आनन्दमग्न हो जाया करता है। उपनिषद् में इसी स्थिति का वर्णन है—

> "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"[१३२]

वाचस्पति की इस विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अमलानन्द सरस्वती ने कहा है—

> "न मायाप्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरुपसृप्यता ।
> अवच्छेदान्न तज्ज्ञानात् सर्वविज्ञानसम्भवः ॥
> अधिष्ठाने तु जीवीभिरविद्याभिरपावृते ।
> जगद्भ्रमप्रसिद्धौ किं साधारण्येह मायया ॥"[१३३]

अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्यणीय नहीं हो सकता क्योंकि उसकी प्राप्ति मान लेने पर वह परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न के ज्ञान से श्रुतिप्रतिपादित सर्वज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। अतः अनवच्छिन्न चैतन्य ही मुक्त पुरुषों के द्वारा तादात्म्य रूप से प्राप्त किया जाता है। वह अनवच्छिन्न चैतन्य अज्ञानविषयतोपलक्षित माना जाता है। जीवाश्रित अज्ञान के विषयीभूत शुक्ति-शकल आदि से रजतादि की उत्पत्ति जैसे मानी जाती है, उसी प्रकार जीवाज्ञान-विषयीभूत ईश्वर से जगत् की रचना मानी जाती है। वह ईश्वर अज्ञान की विषयता से विशिष्ट माना जाता है और विशुद्ध चैतन्य उस विषयता से उपलक्षित होता है। मोक्षावस्थापन्न जीव उसी ब्रह्म का स्वरूप हो जाया करते है, वह एक है, अखण्ड है, अनवच्छिन्न है। अर्थवाद वाक्यों में उसी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"[१३४] ग्रहीता में स्थित अविद्या भी ग्राह्यगत स्वसमानजड़ावभास की हेतुता की नियामिका उसी प्रकार मानी जाती है जैसे कि पित्त दोष के विषयीभूत शंख में पीतिमाप्रतिभास की हेतुता।

इन दोनों पक्षों का पर्यालोचन करते हुए आचार्य अप्पय दीक्षित ने कहा है—"अत्रेदं सकलमूलपूर्वापरग्रन्थगतजीवविषयप्रतिबिम्बावच्छेदव्यवहारद्वयतात्पर्यविधारणाय चिन्तनीयम्—अनयोः पक्षयोराचार्याणां कतरः पक्षः सिद्धान्त इति"[१३५] अर्थात् वेदान्त के समस्त आकरग्रन्थों में जीवस्वरूप का वर्णन करने के लिए प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद दो वादों का विशेष रूप से आश्रयण किया गया है। उसमें हमें सोचना है कि इन दोनों वादों में आचार्य वाचस्पति मिश्र का क्या सिद्धान्त है। यदि कहा जाय कि अवच्छेदवाद ही वाचस्पति मिश्र का सिद्धान्त है क्योंकि प्रतिबिम्बवाद में उन्होंने दोष दिखाया है,[१३६] तो यह नहीं कह सकते क्योंकि प्रतिबिम्बवाद में जो दोष वाचस्पति मिश्र ने दिखाया है वह अध्यास के पूर्व पक्ष में ही दिखाया गया है, सिद्धान्त पक्ष में नहीं। सिद्धान्त पक्ष में उस दोष का परिहार नहीं किया गया, अतः वह दोष उस पक्ष में अभीष्ट

ही है, ऐसा समझा जाता है। किन्तु उस दोष के महत्त्वपूर्ण न होने पर भी तो उसके निराकरण की उपेक्षा सिद्धान्तपक्ष में की जा सकती है। वहाँ दोष दिया गया है कि रूपवान् द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, इस नियम की परीक्षा करने पर यह नियम टूट जाता है, क्योंकि रूप, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, चलन, सुखत्वादि गुण-जातियों का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जो कि न रूप वाले हैं और न द्रव्य ही। यदि द्रव्य के प्रतिबिम्ब में यह नियम लागू किया जाय कि रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है तो यह भी नियम नहीं कर सकते क्योंकि द्रव्य क्या है, यह कहना ही कठिन है क्योंकि पृथ्वी आदि ९ द्रव्यों में जनसाधारण को 'द्रव्यं द्रव्यम्' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति नहीं होती जिसके आधार पर सिद्ध द्रव्यत्व जाति के द्वारा संगृहीत वस्तु को द्रव्य कहा जा सके। तार्किक परिभाषा समस्त तैर्थिकों के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती। गुणाश्रय वस्तु का प्रतिबिम्ब रूपवत्ता की अपेक्षा करता है। संख्यारूप गुणाश्रयीभूत नीलादि रूप का प्रतिबिम्ब देखा जाता है किन्तु रूप में रूपान्तर नहीं माना जाता, वह रूपरहित ही है। स्वयं संख्या में संख्या की प्रतीति होती है, जैसे एक एकत्व, अनेक अनेकत्व। इस प्रकार संख्याश्रयीभूत संख्या का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है किन्तु उसमें रूप नहीं होता। यदि कहा जाय, संख्या में संख्या नहीं मानी जा सकती, द्वित्व संख्या, द्वितीया आदि व्यवहार सत्ता सती के समान अभेद में भी धर्मधर्मिभाव की कल्पना के द्वारा वैसा व्यवहार निभ जाता है। अतः मुख्य रूप से संख्या, गुण, रूप का आश्रय संख्या नहीं, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म की आनन्दादिगुणों का आश्रय-अभेद होने पर भी औपचारिक रूप से कहा जा सकता है, वस्तुतः गुण का आश्रय ब्रह्म नहीं होता। अतः ब्रह्म के प्रतिबिम्ब में भी रूपवत्ता का नियम अपेक्षित नहीं।

कथित दोषों में यह भी एक दोष दिया है कि एक रूपवान् द्रव्य का ही दूसरे रूपवान् द्रव्य में प्रतिबिम्ब हुआ करता है अर्थात् प्रतिबिम्बाधारता के लिए भी रूपवत्ता की अपेक्षा होती है। यह दोष भी महत्त्व का नहीं क्योंकि प्रतिबिम्ब की आधार वस्तु में वास्तविक रूपवत्ता अपेक्षित होती है अथवा प्रातीतिक रूपवत्ता। प्रथम पक्ष अन्तःकरण में चैतन्यप्रतिबिम्ब का विरोधी नहीं क्योंकि पंचीकरण प्रक्रिया के द्वारा अन्तःकरण में भी रूपवत्ता का सम्पादन हो जाता है। दूसरा पक्ष भी विरोधी नहीं क्योंकि स्फटिक के अपने रूप का ग्रहण न होने पर भी सन्निहित जपा-कुसुम प्रतिबिम्ब के द्वारा 'अरुणः स्फटिकः' यह व्यवहार देखा जाता है। अतः प्रतिबिम्बपक्ष सर्वथा निरवद्य है। प्रतिबिम्बपक्ष ही सूत्रकारादि के द्वारा सम्मत और समर्थित प्रतीत होता है। 'अंशो नानाव्यपदेशात्......' (ब्र० सू० २।३।४३) इस अधिकरण में 'आभास एव च' (ब्र० सू० २।३।५०) इस सूत्र के द्वारा जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही सूचित किया है। भाष्यकार ने वैसी ही व्याख्या भी की है[१३०]—आभास ही यह जीव है, परब्रह्म का, जैसे कि जल में सूर्य का। न तो जीव परब्रह्म से अभिन्न है और न भिन्न। अतः जिस प्रकार बहुत से जलप्रतिबिम्बित सूर्यों के कम्पन से किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती, प्रतिकर्मव्यवस्था सुरक्षित रहती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्मप्रतिबिम्ब को जीव मान लेने पर किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती। टीकाकारों ने भी उसी अधिकरण में जीवब्रह्म-अभेद-पक्ष में सकल

जीवों के दुःख का ब्रह्म में प्रसंग निवारण करने के लिए इसी प्रतिबिम्बवाद का सहारा लिया है और कहा है कि अनेक प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध जीव से ही है, ब्रह्म से नहीं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी धर्मसांकर्य प्रतिबिम्ब में नहीं है, जैसाकि कल्पतरुकार ने उनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है—"बिम्बप्रतिबिम्बयोरवदातत्वश्यामत्वा-दिव्यवस्थानान्न धर्मसांकर्यमित्यर्थः"[१३८] अर्थात् प्रतिबिम्बगत नीलिमा आदि धर्मों का सांकर्य बिम्ब में नहीं देखा जाता। अतः धर्मसांकर्य प्रतिबिम्बपक्ष में प्रसक्त नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य वाचस्पति मिश्र को प्रतिबिम्बवाद ही सम्मत था। अतएव भामती के आरम्भिक मंगलश्लोकगत[१३९] 'चराचर' पद की व्याख्या करते हुए कल्पतरुकार ने वाचस्पति का अभिप्राय बतलाया है—"जीवानामपि चराचरशरीरोपा-धिकानां तत्प्रतिबिम्बत्वेन तद् विवर्तते इत्याह।"[१४०]

अन्य आचार्यों का मत है कि 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' (ब्र० सू० ३।२।११)—इस अधिकरण में ही प्रतिबिम्बवाद का निराकरण कर दिया है। वहाँ 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) तथा 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' (ब्र० सू० ३।२।१९) सूत्रों की व्याख्या करते हुए कहा है—"सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः, न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। तस्माद-युक्तोऽयं दृष्टान्तः"[१४१] अर्थात् जैसे सूर्यादि से जल भिन्न प्रतीत होता है और उस जल में प्रतिबिम्बन-योग्यता अनुभूत होती है, उस प्रकार ब्रह्म से भिन्न प्रतिबिम्बन-योग्य कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नहीं होती। अतः सर्वगतात्मा का कहीं भी प्रतिबिम्ब युक्त नहीं हो सकता। इसलिए 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्' (ब्र० सू० ३।२।२०) इस सूत्र की व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है कि जैसे सूर्यादिप्रतिबिम्ब जलादिगत वृद्धि-ह्रास आदि से प्रभावित होता देखा जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरणगत पुण्य-पाप आदि से जीव प्रभावित होता है। केवल इसी अंश में जल-सूर्यादि दृष्टान्त दिया गया है, उसके बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव को दृष्टिकोण में बिलकुल नहीं रखा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य में भी आचार्य शंकर ने 'स एक इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है[१४२] कि सर्वगत विभु आत्मा का प्रवेश कैसा? प्रतिबिम्ब ही प्रवेश है—इस पक्ष का, 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' (ब्र० सू० ३।२।१९)—इस सूत्र में कथित मुख की अपेक्षा दर्पण की विप्रकृष्ट देश की स्थिति सम्भव न होने के कारण, निराकरण कर दिया है और प्रवेश शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है[१४३] कि देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार प्रवेश पदार्थ की अन्यथा व्याख्या करके प्रतिबिम्ब पक्ष का दूषण स्थिर-सा कर दिया है। लोक में भी यह देखा जाता है कि जिस प्रकार जल से दूर तट पर स्थित देवदत्त का प्रतिबिम्ब जल में दृष्टिगोचर होता है किन्तु वही देवदत्त जब उस जल की सतह के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, तब उसका प्रतिबिम्ब उसमें नहीं देखा जाता। अतः प्रतिबिम्ब-ग्रहण के लिए यह आवश्यक है कि बिम्ब की अपेक्षा उपाधि कुछ दूर और सम्मुख स्थित हो। यदि कहा जाए कि देवदत्त के शरीर का जो भाग जल-मग्न है, उससे भिन्न भाग का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म का जो भाग

अन्तःकरण में मग्न है, उसको छोड़कर दूसरे भाग का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, तो यह कहना संगत नहीं क्योंकि देवदत्त के शरीर के समान आत्मा सावयव नहीं माना जाता, अन्यथा आत्मा को निरवयव, निष्फल कहने वाले श्रुतिवाक्यों का विरोध उपस्थित होगा। अतः जलपूर्ण पात्रों में जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र के अनेक प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण देशों में कृत्स्न आत्मा के प्रतिबिम्ब मानने होंगे। जिस प्रकार एक लम्बे बांस के ही अनेक दर्पणों में अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक आत्मा के अनेक प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो सकते, यह सन्देह भी अनुचित है क्योंकि बांस सावयव वस्तु है। यदि आमा भी सावयव होता तब उसी प्रकार अनेक प्रतिबिम्ब माने जा सकते थे किन्तु आत्मा निरवयव है, यह कहा जा चुका है। प्रखरातपसंतप्त प्राणी जाह्नवी के शीतल जल में डुबकी लगाता है, उस समय उसके नख से लेकर शिखा तक पूर्ण शरीर में सुखानुभूति यह सिद्ध कर रही है कि अन्तःकरण भी पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस प्रकार मध्यम परिमाण वाले अन्तःकरण के सम्मुख दूर देशस्थ आत्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देना चाहिए।

इस तरह निरवय आत्मा का प्रतिबिम्ब बन जाने से भाष्यचर्चित दोष शिथिल होते देखकर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रतिबिम्ब पक्ष को दूषित करने के लिए प्रबल दूसरा दोष दिया[१४४] कि रूपरहित आत्मा का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। रूपवान् द्रव्य का ही रूपवान् दर्पणादि में चाक्षुष प्रतिबिम्ब होता है। इस नियम का कहीं व्यभिचार देखने में नहीं आता। रूपरहित शब्द का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि के रूप में ही पर्वत-कन्दराओं में जैसे उपलब्ध होता है वैसे ही रूपरहित आत्मा का प्रतिबिम्ब सम्भव हो सकेगा, यह युक्ति भी असंगत ही प्रतीत होती है, क्योंकि प्रतिध्वनि ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं अपितु प्रथम शब्द से उत्पन्न आकाश का शब्दान्तर माना जाता है। प्रतिबिम्ब सदैव चाक्षुष होता है। पुष्प का प्रतिबिम्ब दर्पण में चाक्षुष है किन्तु पुष्प का सौरभ दर्पण में अनुभूत नहीं होता। अतः उसका प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार रूप या रूपवान् द्रव्य को छोड़कर और किसी गुण का प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता नहीं तो रूपप्रतिबिम्ब के समान फूल के सौरभ, सुकुमार स्पर्श आदि का भी अनुभव होना चाहिए। रूप एवं रूपवान् द्रव्य से भिन्न वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यह सत्य है कि रूपवान् वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है किन्तु बिम्बगत रूप आरोपित या अनारोपित हो, इसका विशेष नियम नहीं क्योंकि जिस प्रकार अनारोपित रूप वाले सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में देखा जा सकता है वैसे ही आरोपित रूप वाले नील नभ का प्रतिबिम्ब भी जल में देखा जाता है। इसी प्रकार आरोपित रूप वाले आत्मा का भी प्रतिबिम्ब बन जाएगा, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि नील नभ का प्रतिबिम्ब लोग जिसे कहा करते हैं वह वस्तुतः आकाशमण्डलपरिव्याप्त पार्थिव त्रसरेणुसमूह का प्रतिबिम्ब होता है, आरोपित रूप का प्रतिबिम्ब कहीं नहीं देखा जाता। प्रतिबिम्ब-पक्ष में एक बहुत बड़ा दोष यह भी है कि प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब और उसका प्रतिबिम्ब, इस प्रकार परस्पर सम्मुख दर्पणों में एक लम्बी प्रतिबिम्बशृंखला देखने में आती है। उसी प्रकार दो अन्तःकरणों में प्रतिबिम्ब-परम्परा के आस्फालन से अनन्त जीवों की प्रत्येक अन्तःकरण में अनुभूति

होनी चाहिए। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, अतः अवच्छेदवाद, जिस पर कि किसी प्रकार का दोष नहीं दिया गया और सूत्र, भाष्य तथा भामती के किसी अंश से जिसका विरोध नहीं, को ही वाचस्पति मिश्र ने अपना सिद्धान्त माना है। अव-च्छेदवाद में केवल अवच्छेदिका उपाधि है। उपाधि ही बन्धन पदार्थ होती है। उसके निवृत्त होते ही चेतन अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र, मुक्त हो जाता है। किन्तु प्रतिबिम्ब-पक्ष में प्रतिबिम्बभाव की निवृत्ति बिम्ब के न रहने पर या उपाधि के न रहने पर, दोनों प्रकार से देखी जाती है। अतः मोक्षावस्था में बिम्बरूप ब्रह्म की निवृत्ति हो जाती है अथवा उपाधिरूप अन्तःकरण की निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार के प्रश्नों का उचित उत्तर मिलना सम्भव नहीं। आचार्य वाचस्पति मिश्र इन उलझनों से पूर्ण अभिज्ञ थे, अतः उन्होंने अवच्छेदवाद को ही माना है।

इसलिए डॉ० हसुरकर का यह कथन कि वाचस्पति मिश्र कहीं अवच्छेदवाद को तथा कहीं प्रतिबिम्बवाद को अपनाते हुए प्रतीत होते हैं[१४५], चिन्तनीय प्रतीत होता है। वस्तुतः प्रसंगानुसार भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति जब प्रतिबिम्बवाद का व्याख्यान करते हैं तब आपाततः प्रतिबिम्बवाद का समाश्रयण करते-से अवश्य प्रतीत होते हैं किन्तु वस्तुतः, जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को ही निर्दुष्ट पक्ष मानते हैं, न कि प्रतिबिम्बवाद को। इसीलिए वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने वाचस्पति मिश्र को अवच्छेदवादी माना है जैसाकि प्रकृत शोधप्रबन्ध के 'प्रचयगमन' नामक उन्मेष में स्पष्ट किया गया है।

१४. कर्मों का उपयोग विविदिषा में अथवा ज्ञान में

समाम्नाय-समाम्नात-कर्मराशि का उपयोग विविदिषा में है अथवा ज्ञान में है अथवा मोक्ष में, यह एक विवाद का विषय रहा है। मोक्ष में कर्म का सार्थक्य भास्कर जैसे आचार्य मानते थे।[१४६] उसका निराकरण करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने कर्म में मोक्ष की हेतुता का निराकरण किया है।[१४७] किन्तु ज्ञान में कर्म का उपयोग प्रतिपादित किया जा सकता था। वाचस्पति मिश्र ने वैसा क्यों नहीं किया, इस सम्बन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है कि पंचपादिकाचार्य ने कर्म का उपयोग ज्ञान में माना था।[१४८] सम्भवतः उनका वही विचार रहा होगा जो कि कुमारिल भट्ट का। 'अथातो धर्म जिज्ञासा'[१४९] सूत्र में वेदाध्ययन की हेतुता धर्मज्ञान में है अथवा उसकी इच्छा में, ऐसा सन्देह उठाकर ज्ञान को उद्देश्य बनाकर अध्ययन का विधान किया जाता है। इच्छा गौण होती है और इष्यमाण वस्तु प्रधान, क्योंकि ज्ञान इच्छा का कर्म होता है और कर्म को ईप्सिततम माना गया है।* अतः वेदाध्ययन और धर्मज्ञान का कार्यकारण-भाव जैसा सुस्थिर होता है वैसा इच्छा और वेदाध्ययन का नहीं। इसी प्रकार 'विविदिषन्ति यज्ञेन'[१५०]—यज्ञ के द्वारा ज्ञान की इच्छा होती है। यहाँ पर भी इष्यमाण ज्ञान प्रधान है। प्रधान के साथ ही अंग का सम्बन्ध हुआ करता है। अंगांगिभावबोधक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन छः प्रमाणों में श्रुतिप्रमाण सबसे प्रबल प्रमाण माना जाता है। श्रुति का

यहाँ अर्थ है विभक्ति श्रुति। तृतीया विभक्ति से 'दध्ना जुहोति' के समान 'यज्ञेन विविदिषन्ति'—यह वाक्य भी यज्ञ का विधान 'विविदिषन्ति' के उद्देश्य से करता है। 'विविदिषन्ति' में वेदन और इच्छा दोनों का ग्रहण होने पर भी इच्छा का अंग रूप से और ज्ञान का प्रधान रूप से संकीर्तन है। अतः 'यज्ञेन ज्ञानं भावयेत्'—इस प्रकार विनियोग विधि की कल्पना की जाती है।

पंचपादिकाचार्य के इस आशय को पूर्वपक्ष में रखते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उसका निराकरण करते हुए कहा है[१२१] कि वस्तु का प्राधान्य दो प्रकार का होता है—एक वस्तु की दृष्टि से और एक शब्द की मर्यादा से। 'विविदिषन्ति' में इच्छा 'सन्' प्रत्यय का अर्थ और ज्ञान प्रकृत्यर्थ है। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ का प्राधान्य माना जाता है क्योंकि 'प्रकृतिप्रत्ययो सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'—इस शाब्दिक नियम के अनुसार प्रत्ययार्थ इच्छा प्रधान है। अतः इच्छा का प्राधान्य मानकर यज्ञ का इच्छा में ही विनियोग करना चाहिए, ज्ञान में नहीं। ज्ञान के लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः……'[१२२] आदि वाक्यों में श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया जाता है, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान का नहीं। अतः कर्म का उपयोग इच्छा में ही हो सकता है, ज्ञान में नहीं। ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषतन्त्र नहीं। अतः पौरुष कर्म के द्वारा किसी वस्तु के ज्ञान का सम्पादन सम्भव नहीं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' प्रथम सूत्र में जिज्ञासा शब्द से यदि इच्छा का ग्रहण किया जाता है तब उसके पूर्व वेदाध्ययन के समान कर्मज्ञान की उपयोगिता ध्यान में रखकर भाष्यकार ने कहा है—"धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।"[१२३] यहाँ केवल वेदाध्ययन में इच्छा के प्रति अंगता नहीं मानी गई है, अपितु यज्ञादि कर्मों में तथा अनाशकता में भी, कर्म में इच्छा की अंगता का निषेधक वहाँ कोई पद उपलब्ध नहीं होता। अतः कर्म या निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें ज्ञान की इच्छा का उदय होता है। अतः इच्छा में ही कर्म का उपयोग सुसंगत होता है, न कि ज्ञान में।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के इस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की व्याख्या पद्धति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे शांकरभाष्य की पूर्वव्याख्या (पंचपादिका) को ही पूर्वपीठिका बनाकर अपनी विशेषता दिखाते चले गए हैं।

किन्तु वाचस्पति मिश्र की इस विशेषता का मूल्यांकन तथा इस प्रश्न का समीक्षण कि यज्ञादि का उपयोग विविदिषा में ही क्यों, ज्ञान में या ज्ञान से बढ़कर मोक्ष में क्यों नहीं, एक अन्य दृष्टि से भी किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह जान लेना आवश्यक है कि किस प्रकार के यज्ञ, दान आदि कर्म का विनियोग विविदिषा में यहाँ विवक्षित है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य व नैमित्तिक यज्ञादि कर्म का कोई विशेष फल नहीं माना जाता। निमित्त उपस्थित होने पर या सायं-प्रातः की उपस्थिति होने पर नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य हो जाता है। उनके करने से कोई फल नहीं माना जाता किन्तु न करने से पाप या प्रत्यवाय अवश्य होता है। इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्मों का फल विविदिषा को नहीं कहा जा सकता। काम्य कर्म वे हैं जिनके विधिवाक्य में किसी स्वर्गादि फल को उद्देश्य-कोटि

में रखकर कर्मादि का विधान किया गया है, जैसे 'यजेत स्वर्गकामः'। इस प्रकार के काम्य कर्मों का वही स्वर्गादि काम्य फल है जिसके उद्देश्य से वे कर्म किए जाते हैं। दूसरा फल उनका नहीं माना जा सकता। अतः विविदिषामात्र के उद्देश्य से जिस कर्म का विधान किया गया हो उसी का फल विविदिषा हो सकता है, दूसरों का नहीं। ऐसा कोई कर्म कर्मकाण्ड के क्षेत्र में उपलब्ध नहीं होता जिसका अनुष्ठान वे विविदिषा के उद्देश्य से करते हों और विविदिषा के उद्देश्य से उसका विधान किया गया हो। 'तमेतं वेदानुवचनेन...' इस वाक्य में सामान्यतः यज्ञ, दान, तप का संकीर्तन है, किसी विशेष कर्म का नहीं। अतः यह जिज्ञासा अभी तक शान्त नहीं हुई कि किस प्रकार के यज्ञ, दान का उपयोग विविदिषा में बताया जाता है। ब्रह्मसूत्रकार महर्षि व्यास ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१)—इस सूत्र में जिज्ञासा की=विविदिषा की चर्चा की है किन्तु उसका विधान नहीं, क्योंकि इच्छा तत्त्व कोई विधेय वस्तु नहीं बन सकता। इष्टसाधनता आदि के ज्ञान से मनुष्य को स्वयं इच्छा हुआ करती है। किसी की आज्ञा से किसी वस्तु की इच्छा नहीं हो सकती। भाष्यकार आचार्य शंकर ने सूत्रस्थ 'अथ', 'अतः' शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए यह सूचित कर दिया है कि शमदम आदि साधन-सम्पादन के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा का उदय हो जाया करता है।[१५४] इस जिज्ञासा से विलक्षण वह कौन-सी जिज्ञासा है जिसकी उत्पत्ति यज्ञ, दान और तप आदि के द्वारा अभिलषित है। यदि केवल शमदम आदि साधनों से जिज्ञासा नहीं हो सकती किन्तु उसे यज्ञदानादि की अपेक्षा है, तब भाष्यकार को शमदम आदि का आनन्तर्य न कहकर यज्ञ दानादि का आनन्तर्य कहना चाहिए था। किन्तु 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्यति' (बृह० ४।४।२३) आदि श्रुतियों के द्वारा शमशमादि का ही उपयोग बताया गया है। अतः वाचस्पति-समर्थित यज्ञदानादि का विविदिषा में उपयोग कैसे हो सकता है?

इस प्रकार की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रथम सूत्र में शमदमादि को ज्ञान का साधन बताया गया है, इच्छा का नहीं। ज्ञान पद से वहाँ आत्मा का साक्षात्कार ज्ञानविवक्षित है जिसके उद्देश्य से आठ साधन वेदान्त बताता है—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वपदार्थ-परिशोधन। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'— इस वाक्य में आत्मदर्शन फल है और उसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वपदार्थपरिशोधन अन्तरंग माने जाते हैं। इनकी अपेक्षा से विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षता बहिरंग साधन हैं। विविदिषा या इच्छा से उन साधनों का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। किसी वस्तु की इच्छा उस वस्तु के ज्ञान हो जाने पर होती है, जैसाकि क्रम बताया गया है—'जानाति, इच्छति, यतते, करोति।' अब कथित पुष्कल साधनानुष्ठान के अनन्तर ब्रह्म-ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तब विद्वान् की कृतकृत्यावस्था को छोड़कर उसका कोई और कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। अतः वेदन के पश्चात् विविदिषा किस काम की? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अप्पयदीक्षित ने कहा है[१५५] कि विविदिषा के दो आकार होते हैं—(१) वेदनोन्मुखता और (२) रुचि। इनमें वेदनोन्मुखता यज्ञादि कर्मानुष्ठान से

बहुत पहले स्वाध्यायकाल में ही हो जाया करती है। किन्तु वेदन में रुचि नाम की विविदिषा यज्ञादि कर्मानुष्ठान से होती है। यज्ञादि कर्म नित्यनैमित्तिककाम्य, सबसे विलक्षण होते हैं जिन्हें निष्काम कर्म या फलाभिसन्धिरहित अनुष्ठित कर्म कहा जाता है। निष्काम कर्म का उपयोग वेदन की रुचि में होता है। फलतः स्वाध्यायकाल में वेदन का सामान्य ज्ञान हो जाने पर पुरुष वेदनोन्मुख तो हो जाता है किन्तु उसकी रुचि वैसे ही नहीं होती जैसे ज्वराक्रान्त व्यक्ति का ज्वरापगम हो जाने के पश्चात् भी अन्नग्रहण में उसकी रुचि नहीं होती, यद्यपि उसे ज्ञान है कि अन्नग्रहण के बिना स्वास्थ्य या शरीर की स्थिरता सम्भव नहीं। अतः अन्नग्रहणोन्मुख होने पर भी उसके अन्दर रुचि नहीं होती। उस रुचि को उत्पन्न करने के लिए भिषग्वर विविध क्वाथ, अवलेह, चूर्ण आदि का प्रयोग बताया करते हैं। औषधि सेवन करने के पश्चात् रोगी की रुचि जागरित होती है। इसी प्रकार निष्काम यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् वेदनोन्मुख प्राणी की वेदन में रुचि हो जाती है। उस रुचि से विवेक वैराग्य में प्रवृत्त हो जाता है। उसके पश्चात् श्रवणादि अंग सोपानपरम्परा पर आरूढ़ होता हुआ उस अन्तिम शिखर पर पहुँच जाता है जहाँ उसे सुचिरवांछित ब्रह्मदर्शन का लाभ होता है। उसके पश्चात् उसका समस्त कर्त्तव्य पर्यवसित हो जाता है, कुछ करना शेष नहीं रहता। निष्काम यज्ञादि कर्मानुष्ठान का इस प्रकार विविदिषा में उपयोग बहुत कुछ विचारपर्यालोडन के पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने स्थिर किया है। यह विशेषता भी उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१५. कार्यकारणभाव-सिद्धान्त

तन्तुओं की अपेक्षा से उनसे उत्पन्न पट भिन्न होता है अथवा अभिन्न, इस प्रश्न का उत्तर भामतीकार ने देते हुए वेदान्त का पक्ष स्पष्ट किया है—"पट इति हि प्रत्यक्षबुद्ध्या तन्तव एवातानवितानावस्था आलम्ब्यन्ते, न तु तदतिरिक्तः पटः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। एकत्वं तु तन्तूनामेकप्रावरणलक्षणार्थक्रियावच्छेदाद्बहूनामपि। यथैकदेशकालावच्छिन्ना धवखदिरपलाशादयो बहवोऽपि वनमिति।"[१५१] अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर यह सिद्ध होता है कि तन्तु ही अवस्थाविशेष में आकर पट कहलाते हैं। तन्तुओं से भिन्न पट नाम की वस्तु कोई नहीं। जैसे बहुत से वृक्ष एक वन कहलाते हैं, उसी तरह से अनेक तन्तुओं में मिलकर प्रावरण-(शरीरादि का आच्छादन) रूप एक कार्य करने के कारण एकता और पटरूपता का व्यवहार हो जाता है। सांख्य-सिद्धान्त के समान तन्तु और पट का भेद वेदान्त-सिद्धान्त में भी नहीं माना जाता। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि सांख्य-सिद्धान्त पटादि को सत्य मानता है और वेदान्त-सिद्धान्त उन्हें मिथ्या, अनिर्वचनीय। यदि तन्तु ही पट है तब कुविन्द आदि का व्यापार किस लिए ? इस प्रश्न का उत्तर वाचस्पति मिश्र ने दिया है। तन्तुओं को अभिलषित आतान-वितान का रूप देकर अभीष्ट पटरूपता प्रदान करने के लिए कुविन्द आदि का व्यापार सार्थक माना जाता है।

वैशेषिक एवं नैयायिक दो कपालों के योग से एक ऐसे घट का आरम्भ माना करते हैं जो घट पहले से उन कपालों में नहीं था। यह एक तथ्य है कि वह घट जिससे कि जलाहरण आदि कार्य सम्पन्न किया जाता है, व्यावहारिक भाषा में जिसे घट कहा जाता

है, वह घट अपने अवयवभूत किसी एक कपाल में नहीं था। अनेक कपालों के आश्रित रहने वाली वस्तु एक-एक कपाल में रह भी कैसे सकती है ? अत: वह घट वियुक्त अवस्था के कपालों में नहीं था। यह एक स्थूल अनुभव है। उन कपालों में भी घट का पूर्ण कलेवर देखने वाले सांख्य और वेदान्तिगण किस सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। जिसे घट कहा जाता है और क्रय-विक्रय-प्रणाली में, जलाहरणादि में जिसका उपयोग किया जाता है, वह घट पहले से कपालों में नहीं था, असत् था और कपालों में अन्तिम संयोग हो जाने के पश्चात् वह घट सत्ता में आया। यह एक सीधा-सादा अनुभव प्रत्येक व्यक्ति का है। इसी अनुभव को तार्किकों ने अपनी भाषा में कहा है—कारणों में असत् कार्य उत्पन्न हुआ करता है। व्यवहार में जिस फूल, फल, पत्ते और सघन छाया देने वाले पदार्थ को वृक्ष कहा करते हैं, बीज को देखने या उसके टुकड़े कर देने पर भी वह वृक्ष किसी के अनुभव-पथ में नहीं आ सकता। इसकी सूक्ष्मावस्था बीज में है। यूँ तो परमाणुओं में द्व्यणुक आदि की सत्ता पहले से मानी जाती है। वृक्ष का सूक्ष्म रूप बीज में है, यह एक मोटी बात है, मोटी भाषा में कही जा सकती है किन्तु सन्तुलित दार्शनिक भाषा में वृक्षारम्भक त्रसरेणु, द्व्यणुक आदि बीजाणुओं में हैं, यह नहीं कहा जा सकता है। द्व्यणुक आदि भी दो परमाणुओं के संयोग से पहले अणुओं में नहीं रहा करते। वहाँ भी असद् द्व्यणुक की उत्पत्ति मानी जाती है। अधूरे घट के आकार को देखकर कोई उसे घट का सूक्ष्म रूप कह देगा किन्तु तार्किक उसे अपूर्ण घट कहेगा, घट का सूक्ष्म रूप नहीं। इस प्रकार बीजावस्था में वृक्ष सत् न होकर उसके आरम्भिक अवयवों की सत्ता मानना अत्यन्त न्यायसंगत प्रतीत होता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक कार्य अपने विकसित अर्थक्रियाकारी व्यावहारिक रूप में कभी उत्पन्न होता है, सदैव कारणों में विद्यमान नहीं रहता। गोमय और दधि के सम्पर्क से बनने वाला बिच्छू पहले से न गोमय में दिखाई देता है और न दधि में। यदि दधि में बिच्छुओं का अनुभव हो जाए या सांख्य और वेदान्त के आचार्य ढोल पीटकर यह प्रचार कर दें कि दधि में बिच्छू है तो दधि जैसी अमृतोपम वस्तु से मानव सदैव के लिए वंचित हो जाएगा। आयुर्वेद का मुख्य सिद्धान्त है कि औषधियों के योग में अद्भुत शक्ति छिपी रहती है। यदि उस योग की प्रत्येक इकाई में वही शक्ति होती हो तो योग व्यर्थ है। मधु और घृत की समान मात्रा का योग असत् विष को जन्म देता है। इसी प्रकार साधारण औषधियों का योग अमृत को भी जन्म दिया करता है। पहले से उसकी सत्ता सूक्ष्मरूपेण, भावरूपेण या किसी प्रकार से कही जा सकती है किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। श्रुतियों में त्रिवृत्करण या आगे चलकर आचार्यों द्वारा पञ्चीकरण-प्रक्रिया को क्यों अपनाया गया ? भूतों के योग से अद्भुत विश्व का निर्माण करना था। केवल किसी एक तन्मात्रा में समूचे विश्व को देखने वाले सम्भवत: वैदिक ऋषियों के कुल में भी उत्पन्न नहीं हुए थे। चार्वाक के वक्तव्य का यह अंश अवश्य कुछ तथ्य रखता है कि वस्तुओं के योग से मद्य के समान कुछ अभूतपूर्व वस्तुओं का जन्म हुआ है।[१५७] सहस्र तन्तुओं से निर्मित पट का दर्शन जो लोग प्रत्येक वस्तु में कर लेते हैं, उनके उस दर्शन को निस्तत्त्व ठहराते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥[१४८]

मानव की शक्तियों में अवश्य तारतम्य हुआ करता है। किसी एक व्यक्ति की दृष्टि जितना देख सकती है दूसरे की उससे अधिक, तीसरे की उससे भी अधिक देख लेती है किन्तु यह उत्कर्ष बढ़ते-बढ़ते कभी ऐसी सीमा में नहीं पहुँच सकता कि किसी के चक्षु शब्द को सुनने लग जाएँ या श्रोत्र रूप को देखने लग जाएँ। अतः प्रत्येक तन्तु में उस विशाल पट का दर्शन उतना ही असम्भव है जितना कि श्रोत्र से रूप का दर्शन।

सांख्याचार्य अपनी एक पुरानी कविता पढ़ा करते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[१४९]

इसका निराकरण प्रस्तुत करने के लिए कमलशील ने बहुत थोड़ा-सा परिवर्तन करके वही कविता पढ़ दी है—

न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[१५०]

इस पद्य में आरम्भ के 'न' का सम्बन्ध अन्तिम पद 'सत्कार्यम्' के साथ करके प्रतिज्ञा की गई है कि 'कार्यं सन्न'। हेतुवाक्यों का प्रयोग प्रायः उसी प्रकार किया जाता है। पहले से कोई कार्य यदि अपने पूर्ण सक्षम रूप में विद्यमान है तब उसे नये सिरे से बनाना सम्भव नहीं क्योंकि 'सदकरणात्'—सत् विद्यमान घट का निर्माण न किया जाता है और न सम्भव है। कुलाल के द्वारा मृत्तिका, चक्र, चीवर आदि सामग्री-संचयन करते देख यह समझ लेना अत्यन्त सरल है कि इसके पास घट नहीं, घट बनाने के लिए यह प्रयत्नशील है। यदि घट पहले से इसके पास होता तब उसके उपादान (उत्पादक-उपकरण) का संग्रह वह नहीं करता। यदि कोई कार्य पहले से कहीं रहता है तो कुछ वस्तुओं में ही क्यों, सर्वत्र रह सकता है। किन्तु सबसे सब उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। अतः जिन तत्त्वों से असत् कार्य उत्पन्न होता है उन्हें कारण कहा जाता है और कारण-सामग्री का संग्रह कार्योत्पत्ति के लिए किया जाता है। जो कारण जिस कार्य को जन्म दिया करता है उसके उत्पादन की शक्ति उसमें मानी जाती है। सत्कार्यवाद में शक्त और शक्य का व्यवहार या निर्णय सम्भव नहीं। यदि सब कार्य पहले से ही विद्यमान हों तो किसी कार्य का कोई कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु कारण का कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक बता रहा है कि कारण-सामग्री का समवधान होने पर ही असत्-कार्य का जन्म हुआ करता है। सत्कार्यवाद का उद्घोष करने वाले भी ब्रह्मरूप कारण में तीनों कालों में कार्य प्रपंच नहीं मानते।

वैशेषिकाचार्यों के असत्कार्यवाद का निराकरण सांख्य और वेदान्त ने अपने दृष्टिकोण से किया है। उस निराकरण को हृदयंगम करने के लिए कार्यकारणभाव के विषय में सांख्य और वेदान्त की प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है। सांख्य परिणाम-

वादी और वेदान्त विवर्तवादी है। परिणामवाद में मूलकारण ही कार्यरूप में परिणत हुआ करता है। मृत्तिका घटरूप में परिवर्तित होती है, सुवर्ण कटक-कुण्डल रूप में। परिणामवाद में कारणगत अन्यथात्व ही कार्यरूपता कहलाता है। अन्यथात्वरूपता पहले से सत् न होने पर भी अन्यथारूप में आने वाले कारणद्रव्य की सत्ता पहले से सत् होती है। अन्तःकारण की सत्ता को कार्य की सत्ता मान लेना स्वाभाविक है। क्योंकि अन्यथात्वरूपता एक धर्म है और मूलकारण धर्मी। धर्मविशिष्ट धर्मी ही कार्य कहलाता है। पूर्व में विशिष्ट धर्मी के न होने पर भी शुद्ध धर्मी विद्यमान होता है। विशिष्ट और शुद्ध की एकता मानकर कह दिया है कि कार्य पहले से सत् है। जो लोग धर्मि-विशिष्ट धर्म को कार्य मानते हैं और विशिष्ट शुद्ध को अभिन्न नहीं मानते, उनके मत से यह मानना होगा कि धर्मिविशिष्ट धर्म मूलकारण में पहले से नहीं था।

अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ठीक कहते हैं किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त की सरणि इनसे अत्यन्त पृथक् है। वहाँ न धर्मविशिष्ट धर्मी कार्य है और न धर्मिविशिष्ठ धर्म किन्तु मूलकारण की अपेक्षा से विपरीतरूपता की प्रतीति ही कार्य माना जाता है। रज्जु का कार्य सर्प उसके अज्ञान से सम्पादित विपरीतरूपता मात्र होता है। ब्रह्म का कार्य प्रपंच ब्रह्माज्ञान के द्वारा निर्मित विपरीतरूप ही माना जाता है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता नहीं मानी जाती। अध्यस्त और अधिष्ठान का वेदान्त-सम्मत पारिभाषिक अभेद माना जाता है। रज्जु और सर्प अभिन्न हैं, इसका अर्थ यह नहीं कहा जा सकता कि रज्जु सर्प से अभिन्न होकर विषैली बन जाती है, ब्रह्म जगत् से अभिन्न होकर दुःख—अनात्मरूप हो जाता है। यदि रज्जु को हटा दिया जाए तो सर्प और उसका भ्रम कुछ भी नहीं रहता। अतः रज्जु की सत्ता ही सर्प सत्ता है, ऐसा कहा जाता है। ब्रह्म की सत्ता ही जब प्रपच की सत्ता है तब उसे पहले से असत् कैसे कहा जा सकता है? असत् मानने पर सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को असत् कहना होगा जो कि श्रुति, अनुभवादि प्रमाणों से सर्वथा विरुद्ध है। जिस अज्ञान का परिमाण जगत् है, उस अज्ञान की भी सत्ता पहले से मानी जाती है। एक ही वस्तु अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करने के कारण अनेक नामों और रूपों में प्रख्यात हो जाती है। एक ही अग्नि दाह और पाक जैसे अनेक कार्यों का सम्पादन करने के कारण अनेक रूपों में प्रथित माना जाता है। एक ही प्राण-वायु शरीरगत विविध क्रियाओं को करने के कारण प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—५ रूपों में वर्णित होता है। एक ही अज्ञान विविध कार्यों का सम्पादन करने के कारण आकाश, वायु, अग्नि आदि रूपों में प्रतिपादित होता है। ब्रह्म की सत्ता ही आकाशादि की सत्ता मानी जाती है। एक ही मृत्तिका से विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनेक नाम और रूप माने जाते हैं। विभिन्न प्रयोजनों की सम्पादिका अवस्थाएँ कार्य की उपाधि मानी जाती है। इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"एकत्वं तु तन्तूनामेकप्रावरणलक्षणार्थक्रियावच्छेदाद् बहूनामपि"[१६१] अर्थात् अनेक तन्तु एक कार्य करने के कारण एकरूप में देखे और कहे जाते हैं। एक ही ब्रह्म या एक ही अज्ञान अनेक कार्यों का सम्पादन करने के कारण अनेक रूपों में व्यवहृत होता है। व्यवहारपक्ष की प्रधानता दिखाकर वाचस्पति मिश्र ने एक बहुत बड़ी समस्या का

समाधान खोज निकाला है। प्रत्येक दार्शनिक अपने व्यवहारों की कसौटी पर कसकर प्रतिवादी के प्रमेय एवं प्रमाणवर्ग का स्थापन किया करता है। जैसे वेदान्ती कहा करते हैं कि तार्किकों का आत्मा जड़ होता है। तार्किकगण अपने आत्मा को जड़ नहीं मानते तथा सदैव चेतनरूपता का व्यवहार आत्मा के लिए किया करते हैं। न्यायभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—कि आत्मा चेतन है।[१६२] जब नैयायिक आत्मा को जड़ नहीं मानते तब वेदान्तियों का यह व्यवहार कैसे समंजस हो सकता है कि नैयायिकों का आत्मा जड़ है। इस व्यवहार के असामंजस्य का मूल खोजने पर पता लगता है कि तार्किक ज्ञानाधारता को चैतन्यरूपता मानते हैं और वेदान्ती ज्ञानस्वरूपता को चैतन्य कहा करते हैं। नैयायिक आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते, अतः उनका आत्मा जड़ है। इस वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए यह कह देना उचित होगा कि नैयायिकों का आत्मा वेदान्त की दृष्टि से जड़ सिद्ध होता है, तब वक्तव्य की आपत्तिजनकता का परिमार्जन हो जाता है। किन्तु प्रत्येक पक्ष जब आग्रह और हठ के कठोर तल पर स्थित होता है तब वह समन्वय और सहानुभूति की दृष्टि मूलतः खो देता है। तैर्थिक सिद्धांतों की उलझी हुई पहेलियों का विश्लेषण सहज में ही किया जा सकता है, यदि कथित आग्रहपूर्ण दृष्टि पृथक् कर दी जाए। कार्य-कारण-भाव की प्रक्रिया पर एक समन्वय एवं सहानुभूति की दृष्टि यदि किसी की हो सकती है तो वह वाचस्पति मिश्र की क्योंकि वाचस्पति मिश्र की सरस्वती कर्म, उपासना, भक्ति एवं भेदाभेद के विभिन्न विषम स्थलों पर प्रवाहिता होती आई है। अतः यहाँ भी सत्कार्यवाद का रहस्य वेदान्तदृष्टि से जो कुछ उन्होंने व्यक्त किया वह अपने स्थान पर नितान्त उचित और व्यावहारिक पक्ष के सर्वथा अनुकूल है।

१६. आत्मसाक्षात्कार तथा शब्दकारणतावाद

शब्द क्या है और शब्द के सुनने से बोध कैसे होता है, इस सम्बन्ध में वैयाकरण जगत् से लेकर विभिन्न दार्शनिक बहुत दिनों से सोचते आये हैं। प्रत्येक दार्शनिक के अपने सिद्धान्त व मर्यादाएं भिन्न-भिन्न हैं। शब्द को सबसे अधिक उत्कर्ष प्रदान करने वाला दर्शन शब्दब्रह्मवाद कहलाता है। इस मत में शब्द और अर्थ का अभेद नित्यसंपृक्तता अथवा अविभाज्य योग माना जाता है।[१६३] शब्द का प्रत्यक्ष होने के साथ ही अर्थ का भी प्रत्यक्ष हो सकता है, यदि दोनों का मानस प्रत्यक्ष माना जाय। घटपटादि पदार्थ जो कि त्वाच, चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष के विषय हैं, में श्रावणप्रत्यक्षविषयता सम्भव नहीं। श्रावण प्रत्यक्षगम्य वस्तु अन्य इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं हो सकती, इस अनिवार्य वैयधिकरण्य से विवश होकर दार्शनिकों को विभक्त-व्यवस्था का आश्रयण करना पड़ा। पुरातन मीमांसा के जरठ आचार्यों ने अपने ढंग से तर्कनाओं के द्वारा यह सिद्ध किया कि शब्द श्रोत्रग्राह्यवर्णात्मक वस्तु है और उसके सुनने से संगतिग्रहणजनितसंस्कारादि सामग्री की सहायता से वस्तु-ज्ञान होता है किन्तु यह शब्दज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं। धर्म का ज्ञान शब्दैकाधिगम्य है किन्तु ब्रह्म के समान उसका अपरोक्ष बोध नहीं होता, परन्तु शब्द का अपना विशेष स्वभाव है कि प्रत्येक वस्तु का वह परोक्ष बोध उत्पन्न करता है। धर्म की शब्दगम्यता के समान ब्रह्म भी औपनिषद माना जाता है। उपनिषद्वेद्य ब्रह्म भले

ही सिद्ध वस्तु हो, किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है या अप्रत्यक्ष, इस सन्देह का समाधान वेदान्त दर्शन दो रूपों में किया करता है। कुछ आचार्य महावाक्य के द्वारा प्रत्यक्षबोध मानते है।[१६४] उन्हें महावाक्य द्वारा प्रत्यक्षबोध मानने के लिए 'तस्मिन् दृष्टे परावरे',[१६५] 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः'[१६६] इत्यादि श्रुतियों ने प्रेरित किया। ब्रह्म में उपनिषद्गम्यता और प्रत्यक्षता दोनों का समीकरण करना परमावश्यक था। अतः प्रमाण-पथ का उपक्रम करते समय ही यह सोच लिया गया था कि प्रत्यक्षज्ञान केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण पर निर्भर नहीं, अपितु शब्द और अनुपलब्धि जैसे प्रमाणों के द्वारा भी प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। शब्द से प्रत्यक्षबोध का निदर्शनस्थल दिखाने के लिए वेदान्त-गवेषणा से पण्डितों ने 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्यों को खोज निकाला। दस व्यक्ति किसी नदी को पार करते हैं। उन्हें भ्रम हो जाता है कि एक आदमी डूब गया। प्रत्येक गिनते समय अपने को छोड़ शेष ६ को गिनता है। किन्तु किसी व्यक्ति के यह कहने पर कि 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् दसवां तू है, उसको तुरन्त यह ज्ञान हो जाता है कि दशम मैं हूँ, किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं, और यह ज्ञान शब्द के द्वारा हुआ है। अतः शब्द अपरोक्ष ज्ञान का भी जनक होता है, यह स्वीकार करना पड़ता है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र विशुद्ध वेदान्तमार्ग के ही सिद्ध पथिक नहीं थे अपितु सभी दर्शनों की गम्भीर अनुभूतियों से उनका हृदय भरपूर था। उन्होंने सूक्ष्म परीक्षण-प्रक्रिया और विश्लेषण-पद्धति यौगिक पाशुपतिक साहित्य के पृष्ठों पर उपलब्ध कर ली थी। उन अनुभूतियों और उपलब्धियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया[१६७] कि दशम व्यक्ति को वह ज्ञान अवश्य प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह शब्दजन्य नहीं। शब्द सुनने के पश्चात् मनोयोग-पूर्वक जब वह व्यक्ति सोचता है कि मैं गणना-क्रम में अपने को भूल जाया करता था, पुनः गणना आरम्भ कर देता है, तथा दशम स्थान पर स्वयं को पाता है और इस प्रकार दशम संख्या पूर्ण होती है, दशम व्यक्ति अर्थात् स्वयं का प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष कई क्षण पूर्व श्रुत शब्द के द्वारा संभव नहीं, किन्तु इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष की सहायता से प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अपने में दशम संख्या की पूर्ति करता हुआ अपना प्रत्यक्ष करता है, वहां भी आत्म-मनः-संनिकर्ष के द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है कि मैं दशम हूँ। ब्रह्म का जो प्रत्यक्ष-बोध श्रुतियों ने प्रतिपादित किया है, उसके लिए उनका यह आग्रह कदापि नहीं कि वह शब्द के द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। यदि महावाक्यरूप शब्द के द्वारा ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है तब श्रवणमात्र से उसका प्रत्यक्ष हो जाने पर उसके उत्तर-काल में मनन, निदिध्यासन का प्रतिपादन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। आत्मा यद्यपि औपनिषद है, उपनिषद्-वाक्यों से ही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है किन्तु उस तत्त्व का साक्षात्कार दीर्घकाल तक आदरनैरन्तर्यपूर्वक निदिध्यासन करने के पश्चात् तुरीयावस्था में ही हुआ करता है। जाग्रत् अवस्था में अविद्या और आविद्यिक प्रपंच से अत्यन्त संकुल होने के कारण अन्तःकरण उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। फिर शब्द के द्वारा जाग्रत् अवस्था में किसी प्राणी को ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे कराया जा सकता है। वाचस्पति की इस सूझ-बूझ का मूल्यांकन उनके व्याख्याकार कल्पतरुकार आचार्य अमलानन्द सरस्वती ने किया है—

अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टि मंता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः ॥[१२८]

अर्थात् शास्त्रदृष्टि शब्द का अर्थ 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' के आधार पर शास्त्रार्थध्यानजन्य ज्ञान है और इस अर्थ को विद्वान् वाचस्पति मिश्र ही समझ सके हैं।

अमलानन्द सरस्वती ने प्रायः सभी जगह वाचस्पति मिश्र के विचारों का समर्थन किया है। इसीलिए कुछ लोगों को यह कहने का भी अवसर मिल गया है कि शास्त्रदीपिका आदि विविध मीमांसा-ग्रन्थों के निर्माता पार्थसारथि मिश्र ने ही संन्यास ग्रहण किया और वे ही अमलानन्द हुए।[१२६] दोनों मिश्रबन्धु महाराष्ट्र के हों या मिथिला के, सजातीय थे और उनमें अवश्य देश जाति आदि पक्षपात रहा होगा।

१७. स्वाध्यायाध्ययनविधि का फल

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इस वाक्य को भाट्टसिद्धान्त में स्वाध्याय विधिवाक्य माना जाता है। 'स्वाध्याय' पितापितामहपूर्वक अपनी कुलपरम्परा में चली आ रही वैदिक शाखा को कहा करते हैं। प्रत्येक द्विजाति अपनी परम्परा-शाखा का विधिपूर्वक अध्ययन इसी विधि की प्रेरणा से किया करता है। प्रत्येक विधिवाक्य अपने विधेय का विधान करता हुआ उसकी सार्थकता विध्यन्तर से अथवा आक्षेप से प्राप्त करता है। इस प्रकार यह विधिवाक्य भी अपने विधेय स्वाध्याय का विधान करता हुआ उसकी सार्थकता सिद्ध करता है। उसकी सार्थकता दो प्रकार से हो सकती है—अध्ययन से केवल अपनी शाखा को कण्ठस्थ कर लेना अथवा उसके असन्दिग्ध अर्थज्ञान को प्राप्त कर लेना। इन दोनों प्रयोजनों में पहला प्रयोजन अक्षर-ग्रहण-मात्र कहलाता है और दूसरा प्रयोजन अर्थज्ञान। पद्मपादाचार्य ने केवल अक्षर-ग्रहण ही स्वाध्यायाध्ययन का फल माना है[१३०] किन्तु वाचस्पति मिश्र ने उनके पक्ष को निर्बल ठहराते हुए भाट्टसम्मत अर्थज्ञान फल माना है।[१३१] अर्थज्ञान फल जब तक नहीं माना जाता तब तक मीमांसा को कोई अवसर प्राप्त नहीं होता भले ही वह पूर्वमीमांसा हो या उत्तरमीमांसा। किन्तु अर्थज्ञान प्रयोजन मान लेने पर वह मीमांसा के बिना सम्भव नहीं होता। अतः उसके लिए मीमांसा की अनिवार्य उपादेयता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का आरम्भ व्यर्थ न होकर एक बहुत बड़े प्रयोजन का साधक होता है। अक्षरग्रहणमात्र फल मान लेने पर केवल अध्ययनमात्र से उसकी प्राप्ति हो जाती है। मीमांसा को वाक्य-विचार तक बढ़ने का कोई अवसर हाथ ही नहीं आता। अतः धर्मविचार या ब्रह्म-विचार की सार्थकता इसी में है कि हम स्वाध्यायाध्ययन विधि का प्रयोजन असंदिग्ध अर्थ-बोध मानें।

१८. वैश्वानरत्वाविधान

वैश्वनराधिकरण[१३२] में पञ्चपादिकाकार की दृष्टि का निराकरण वाचस्पति मिश्र ने किया है जिस पर प्रकाश डालते हुए कल्पतरुकार का कहना है कि "पंचपादीकृतस्तु वाजसनेयिवाक्यस्याध्यात्मोपक्रमत्वलाभे किं शाखान्तरालोचनयेति पश्यन्तः पुरुषम-

नूद्य वैश्वानरत्वं विधेयमिति व्याचक्षते।''[१७३] अर्थात् पंचपादिकाकार ने पुरुष के अनुवाद से वैश्वानरत्व का विधान मानकर "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद" (श० ब्रा० १०।६।१।११)--इस वाक्य की व्याख्या की है। स्वरदोष दिखाते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"अतएव यत्पुरुष इति पुरुषमनूद्य न वैश्वानरो विधीयते। तथा सति पुरुषे वैश्वानरदृष्टिरुपदिश्येत। एवं च परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यत इति भाष्यं विरुध्यते।''[१७४] अर्थात् पुरुष का अनुवाद करके वैश्वानर का विधान नहीं किया जा सकता क्योंकि वैसा करने पर पुरुष में वैश्वानर दृष्टि का उपदेश होगा जो कि 'परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते'[१७५] इस भाष्य के विरुद्ध हो जाता है।

आशय यह है कि उपासना तीन प्रकार की उपनिषत्काण्ड में वर्णित है—(१) अहंग्रह-उपासना (२) सम्पदुपासना (३) प्रतीकोपसना। अहं-ग्रहोपासना में अहंभाव की प्रधानता होती है। सम्पदुपासना में अपकृष्ट माध्यम में उत्कृष्ट स्वरूप का आरोप करके उपासना की जाती है तथा प्रतीकोपासना में किसी पाषाण या शालिग्राम विग्रह को माध्यम बनाकर परम पुरुष की उपासना की जाती है। वैश्वानर में यदि पुरुष-दृष्टि का आरोप होता है, जैसाकि भाष्यकार का मत है, तो अपकृष्ट वैश्वानर में उत्कृष्ट परमेश्वर का आरोप करके सम्पदुपासना का यथावत् स्वरूप उत्पन्न हो जाता है और यदि परमेश्वर में वैश्वानर की भावना की जाय तब उत्कृष्ट में अपकृष्ट का आरोप मानना होगा जो कि उपासक सम्प्रदाय से अत्यन्त विरुद्ध होगा। इसलिए जाठर वैश्वानर में परमेश्वर दृष्टि का ही विधान समुचित प्रतीत होता है, इससे विपरीत नहीं।

कल्पतरुकार अमलानन्द सरस्वती ने वाचस्पति मिश्र के द्वारा दिए गए पंचपादिकाविषयक दोष को चिन्त्य बताते हुए कहा है—"पंचपाद्यां तु जाठरे ईश्वरदृष्टिमुक्त्वा योगादग्निवैश्वानरशब्दयोरीश्वरे वृत्तिरिति पक्षान्तरं वक्तुमयम् उद्देश्यविधेयभावव्यत्यय आश्रित इति चिन्त्यमिदं दूषणम्''[१७६] अर्थात् पंचपादिकाकार ने जाठराग्नि में परमेश्वर-दृष्टि का उपपादन करने के पश्चात् अग्नि और वैश्वानर शब्दों को भी यौगिक मानकर परमेश्वर परक माना है और इसे पक्षान्तर माना है—इस पक्षान्तर में उद्देश्यविधेयभाव का व्यत्यय किया गया है, प्रथम पक्ष में नहीं। अतः वाचस्पति मिश्र का दोष विचारणीय प्रतीत होता है।

१९. ब्रह्म में आकाश की मुख्य वृत्ति का निरास

'प्रसिद्धेश्च' (ब्र० सू० १।३।१७)—इस सूत्र में आकाश शब्द परमेश्वरपरक प्रसिद्ध है, ऐसा कहा गया है।[१७७] यहाँ पर वाचस्पति मिश्र ने सोचा है कि आकाश शब्द की कौन-सी वृत्ति परमेश्वर में मानी जाय—गौणी, लक्षणा अथवा निरूढ वृत्ति[१७८] अर्थात् आकाश शब्द की ब्रह्म में लक्ष्यमाण विभुत्वादि गुण के भेद से गौणी वृत्ति नहीं मानी जा सकती एवं रथांगनाम शब्द की चक्रवाक अर्थ में लक्षणा के समान लक्षणा की जा सकती है किन्तु अत्यन्त निरूढ लक्षणा मानी जाती है। यह निश्चित है कि आकाश शब्द की मुख्य वृत्ति ब्रह्म में कभी सम्भव नहीं। पंचपादिकाकार ने आकाश शब्द की

मुख्य (रूढ़ि) वृत्ति ब्रह्म में मानी है, जैसाकि वेदान्त कल्पतरुकार ने कहा है—'पंचपाद्यां तु रूढिरुक्ता' (कल्प० १।३।१७)। उनके मत का अनुवाद करते हुए वाचस्पति मिश्र खण्डन करते हैं[१७६] कि जो लोग आकाशादि को ब्रह्म में अभिधा (रूढ़ि) वृत्ति के द्वारा प्रवृत्त हुआ मानते हैं, उन लोगों ने मीमांसक-मर्यादा नष्ट करके रख दी है। मीमांसा की मर्यादा है—'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' (मी० द० १।३।२६) तथा 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' अर्थात् एक शब्द के कई मुख्यार्थ नहीं माने जा सकते। मुख्यार्थ वस्तुतः एक ही होता है जो कि दूसरे शब्दों के द्वारा प्रतिपादित न हो सके। आकाश शब्द जिस प्रकार नभ को कहता है उसी प्रकार मुख्य रूप से ब्रह्म को नहीं कह सकता। आकाश शब्द से ब्रह्म का लाभ विभुत्वादि गुणों के योग से हो सकता है। यदि कहा जाय कि आकाश शब्द का यदि एक ही मुख्यार्थ हो सकता है, दो नहीं तो वह मुख्यार्थ ब्रह्म ही क्यों न मान लिया जाय और वियत् या नभ में उसकी दूसरी वृत्ति क्यों न मान ली जाय तो यह नहीं कह सकते क्योंकि लौकिक पदार्थों का संगतिग्रहण पहले हुआ करता है और वैदिक पद-पदार्थों का शक्ति-ग्रह उसके पश्चात्। अतः लोकप्रसिद्ध वियत् आदि अर्थों में आकाश शब्द की मुख्य वृत्ति माननी होगी, अतः ब्रह्म में मुख्य वृत्ति नहीं मानी जा सकती।

व्याख्या-शैली के प्रसंग में कहा जा चुका है कि भाष्य के समानान्तर चलते हुए आचार्य मिश्र को जहाँ भाष्याभिप्राय को स्पष्ट करने में कोई विशेष कठिनाई या विसंगति अनुभव हुई है वहाँ उन्होंने उसे प्रकारान्तर से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने भाष्यगठन के प्रति हल्का-सा मतभेद भी व्यक्त कर दिया है तथा ऐसे स्थल अनेक हैं जहाँ वे, एक व्याख्याकार को जितना कहना चाहिए, उससे कुछ अधिक ही कह गए हैं। ऐसे स्थलों पर उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्टतः झलक उठता है। यहाँ प्रस्तुत हैं उनमें से कुछ चुने हुए स्थलों की झांकी।

२०. भाष्य की द्विरुक्ति चिन्ता

भाष्यकार ने एक ही विषय को जहाँ दोनों अधिकरणों में कह दिया है उसकी पुनरुक्ति या द्विरुक्ति की ओर वाचस्पति मिश्र ने ध्यान आकृष्ट किया है और उस अधिकरण की स्वरूप-रचना में कुछ अन्तर डालकर भाष्य का तात्पर्य अन्यत्र सूचित कर दिया है। अमलानन्द सरस्वती ने 'भामती' पर होने वाले अनधिकार चेष्टा के आक्षेप का अनुवाद किया है—'ननु टीकायां दुरुक्तिचिन्ता न युक्ता, वार्त्तिके हि सा भवति'[१८०] अर्थात् भाष्य की द्विरुक्ति आदि पर विचार का अधिकार वार्त्तिककार को होता है, साधारण टीकाकार को नहीं, जैसाकि कहा गया है—

उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहु वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥[१८१]

अर्थात् भाष्य के उक्त, अनुक्त और पुनरुक्त आदि विषयों का अनुशीलन एवं उद्बोधन करते हुए भाष्य की जो व्याख्या की जाती है उसे वर्त्तिक कहा जाता है। अतः वार्त्तिककार को भाष्य की पुनरुक्ति पर चिन्ता एवं उसके समाधान का मार्ग खोजना कर्त्तव्य

होता है। वाचस्पति मिश्र जैसे साधारण टीकाकार को इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इस आक्षेप का परिमार्जन करने के लिए कल्पतरुकार ने कहा है—"तर्हि वात्तिकत्वमस्तु, न हि वात्तिकस्य शृंगमस्ति। अत एवानन्दमयाधिकरणे मान्त्रवर्णिकसूत्रे आरम्भणाधिकरणे च भावे चोपलब्धेरिति सूत्रभाष्यमनपेक्ष्य व्याख्यां चकार"[१८२] अर्थात् भामतीकार ने यदि भाष्य की पुनरुक्ति पर प्रकाश डाला तो अनुचित क्या किया ? यदि यह अधिकार वार्तिक-व्याख्या का है तब 'भामती' को वार्त्तिक माना जा सकता है क्योंकि वार्त्तिक के कोई सींग नहीं होते। भाष्य की महत्त्वपूर्ण व्याख्याविशेष को वार्त्तिक कहा जाता है। 'भामती' से बढ़कर शांकरभाष्य की महत्त्वपूर्ण व्याख्या न अभी तक कोई बन सकी है और न आगे बन पाने की सम्भावना है। वार्त्तिक ग्रन्थ कहीं-कहीं भाष्य के मार्ग को छोड़कर अर्थात् अनुक्त पर भी प्रकाश डाला करता है। भामती ने भी वैसा ही किया है। जैसे कि—

(१) आनन्दमयाधिकरण के 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' (१।१।१५) इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१)—इस मन्त्र को मन्त्रवर्ण[१८३] पद से निर्दिष्ट कर और उसी के द्वारा प्रतिपादित (मांत्रवर्णिक) ब्रह्म की एकवाक्यता 'अन्योन्तरात्मा' (तै० २।५) इस ब्राह्मणवाक्य में प्रदर्शित ब्रह्म के साथ दिखाकर सिद्धान्त का समर्थन किया है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने मन्त्रवर्ण पद को गौण अर्थ में मानकर 'अन्योन्तरात्मा' आदि ब्राह्मणवाक्य को ही मन्त्रवर्ण पद से ग्रहण किया है एवं उसमें प्रतिपादित आनन्दमय वस्तु को ही मांत्रवर्णिक माना है। भाष्य-शब्द-निर्दिष्ट मार्ग के परित्याग का कारण बतलाते हुए कल्पतरुकार ने कहा है—"भाष्यकृद्भिः सत्यं ज्ञानमनन्तमिति मन्त्रप्रस्तुतं ब्रह्म, आनन्दमयवाक्ये निर्दिश्यते, प्रकृतत्वादसंबद्धपदव्यवायाभावाच्चेति विवृतं। तत्रेतरेतरार्थ प्रत्यभिज्ञानाभावाद् मन्त्रब्राह्मणयोर्व्याख्यान-व्याख्येयभावस्याविशदत्वात् प्रकारान्तरेण सूत्रं व्याचष्टे···। यथा मन्त्रः प्रयोगोपायः, एवं कोशचतुष्कवाक्यमानन्दमयब्रह्मप्रतिपत्त्युपायस्य देहादिव्यतिरेकस्य समर्पकत्वाद् गौण्या वृत्त्या मन्त्र उच्यते।"[१८४] अर्थात् भाष्यकार का आशय है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र में निर्दिष्ट ब्रह्म ही आगे के 'अन्योऽन्तरात्मा' आदि वाक्यों में व्याख्यात हुआ है किन्तु यहाँ पर प्रत्यभिज्ञान अर्थ के न होने के कारण दोनों की एकवाक्यता न सम्भव है और न व्याख्यान-व्याख्येयभाव अति स्फुट। अतः वाचस्पति मिश्र 'मांत्रवर्णिकमेव च गीयते' इस सूत्र की व्याख्या प्रकारान्तर से प्रस्तुत कर रहे हैं—"अपि च मन्त्रब्राह्मणयोरुपेयोपायभूतयोः सम्प्रतिपत्तेर्ब्रह्मैवानन्दमयपदार्थः। मन्त्रे हि पुनः पुनः 'अन्योऽन्तर आत्मा' इति परब्रह्मण्यन्तरश्रवणात्, तस्यैव च 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इति ब्राह्मणे प्रत्यभिज्ञानात्, परब्रह्मैवानन्दमयमित्याह सूत्रकार···। मान्त्रवर्णिकमेव परं ब्रह्म ब्राह्मणेऽप्यानन्दमय इति गीयते इति।"[१८५] अर्थात् जिस प्रकार मन्त्र कर्मानुष्ठानकाल में व्यापृत होता है, उसी प्रकार 'अन्योऽन्तरात्मा' यह ब्राह्मणवाक्य भी प्रधानप्रतिपाद्य परब्रह्म का समर्पक होने के कारण

मन्त्र कहा जा सकता है। अतः इस वाक्य में उपात्त विज्ञानमयादि शब्दों के द्वारा भी परब्रह्म का ही निर्देश किया जाता है।

इस प्रकार भाष्यसंयोजनिका से कुछ दूर हटकर वाचस्पति मिश्र ने सूत्रार्थ का समन्वय अपने ढंग से किया है जिसे अनुक्तार्थप्रतिपादन कहा जाता है। यह भी वार्तिक का लक्षण है। अतः भामती व्याख्या इस दृष्टि से वार्तिक व्याख्यान है।

(२) इस प्रकार अनुक्तार्थ प्रदर्शन का निर्देश स्थलान्तर पर भी किया गया है। 'भावे चोपलब्धेः' (२।१।१५) इस सूत्र की भाष्यपंक्ति से यह प्रकट हो रहा है कि वे नैयायिकों जैसा कार्यकारणभावसमर्थक अन्वय-व्यतिरेक दिखाकर प्रकृत में कार्य और कारण का अभेद सिद्ध करना चाहते हैं। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—'इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य'[५६] अर्थात् इस युक्ति के आधार पर भी कार्य से कारण का अभेद सिद्ध किया जा सकता है कि कारण का भाव होने से कार्य का भाव उपलब्ध होता है। जैसे कि नैयायिक लोग कहा करते हैं—'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'—इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक जिन दो पदार्थों में उपलब्ध होता है, उनमें कार्यकारणभाव माना जाता है, जैसे तन्तु और पट में, क्योंकि तन्तु के होने पर पट का भाव और तन्तु के न होने पर पट का अभाव देखा जाता है। अतः तन्तु कारण है और पट कार्य है। 'भावे चोपलब्धेः' इस सूत्र का भी सीधा-सादा यही अर्थ प्रतीत होता है कि कारण का भाव होने पर ही कार्य की उपलब्धि होती है, अतः कारण से कार्य अभिन्न है।

किन्तु हमें यहाँ पर केवल कार्यकारणभाव ही सिद्ध नहीं करना है, अपितु अभेद सिद्ध करना है। कथित अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। उसके आधार पर केवल कार्य-कारणभाव की सिद्धि होती है, जैसाकि वैशेषिकगण तंतुओं में समवेत पट का अन्वयव्यतिरेक तन्तु के साथ किया करते हैं। इससे हमें अपना अन्वय-व्यतिरेक कुछ भिन्न ढंग का बनाना होगा जिससे कि अभेद की सिद्धि हो सके। सूत्र का यथाश्रुत अर्थ वैशेषिकों के पक्ष में भी घटाया जा सकता है, जिससे हमारी अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। कारण और कार्य का समवाय सम्बन्ध हमें अभीष्ट नहीं अपितु कारण और कार्य का अभेद सिद्ध करना है। अभेद भी वेदान्त-सम्मत कुछ पारिभाषिक-सा ही है। यहाँ भाट्ट सिद्धान्त के अनुकूल कुछ अनेकवाद का पुट लिए हुए निरूपण-प्रकार अपनाया जाता है। 'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्' अर्थात् कारण और कार्य के मध्य में तादात्म्य है और वह तादात्म्य भेदाभेदशबलित माना जाता है अर्थात् सुवर्ण का कमल आदि के साथ भेद भी है और अभेद भी—

> कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
> हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥[५७]

अर्थात् कटक, कुण्डल, केयूर आदि अवस्थाओं में केवल कार्याकारता कटकादि का ही भेद होता है—सुवर्णरूपता का नहीं। अतः कुण्डलादिरूप से उनका भेद एवं सुवर्णरूप से अभेद माना जाता है। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि कुण्डलादि के रूप में सुवर्ण परिणत हुआ करता है। वेदान्त का वाद परिणामवाद नहीं किन्तु विवर्तवाद है।

अतः हमें ब्रह्मरूप कारण और जगद्रूप कार्य के मध्य में ऐसे कार्य-कारणभाव की स्थापना करनी है जो ऐकान्तिक अभेद के अनुकूल हो। ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् विवर्त है, कार्य है। इन दोनों का अभेद सुवर्ण और कुण्डलादि के समान सम्भव नहीं हो सकता किन्तु 'अधिष्ठानातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः' अर्थात् अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त प्रपंच की सत्ता नहीं मानी जाती, यही उन दोनों में अभेद है। अतद्व्यावृत्ति और अपोह शब्दों के द्वारा बौद्धागमनिर्दिष्ट अभेद इससे विलक्षण है। किन्तु यहां 'ब्रह्मसत्त्वे जगत्सत्त्वम्' इस रूप से जगत् की सत्ता और प्रतीति अधिष्ठान की सत्ता और प्रतीति पर आश्रित है। अतः ब्रह्म की प्रतीति होने के कारण ही जगत् की प्रतीति है जैसे प्रभा और घट। अतः प्रभा-घट के समान अभेदसाधक अन्वय-व्यतिरेक तक पहुँचने के लिए वाचस्पति मिश्र ने सूत्रसूचित मार्ग कुछ लम्बा-सा करके अर्थ किया है।[१८८] वाचस्पति के अनुसार अभेद-साधक अनुमान-प्रकार का स्वरूप यह निश्चित होता है—'प्रपंचः ब्रह्माभिन्नः तदभावानुविधायिभावकत्वे सति तदुपलब्धिनियतोपलब्धिकत्वात् मृदभिन्नघटवत्।' इस प्रकार ब्रह्मभाव की उपलब्धि से नियत प्रपंचभाव की उपलब्धि होने के कारण प्रपंच ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है। विशेषणदल के न होने पर वह्नि से नियत धूम में व्यभिचार हो जाता है एवं विशेष्यदल के न होने पर प्रभासाक्षात्कार से नियत साक्षात्कार वाले घटादि में व्यभिचार हो जाता है। अतः विशेष्यदल व विशेषणदल दोनों गृहीत हुए हैं।

वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को क्लिष्ट बताते हुए वार्तिक में कहा गया है कि "केचित्तु—यथाश्रुतभाष्यव्याख्यानुसारेण व्यभिचारं पश्यन्त एवं सूत्राक्षरं योजयन्ति—'विषयपदं विषयविषयिपरम्, विषयिपदमपि विषयिविषयपरम्, तेन कारणोपलम्भभावाभावयोरुपादानोपलम्भभावादिसूत्रार्थः सपद्यते। तथा च प्रभारूपानुविद्धबुद्धिबोध्येन चाक्षुषेण न व्यभिचारः, नापि वह्निभावाभावानुविधायिभावाभावेन धूमभेदेनेति सिद्धं भवति, इति। तच्च क्लिष्टव्याख्यानत्वादेवोपेक्षणीयम्, भागासिद्धेश्च, शब्दादीनां त्र्यणुकादीनां च'''इत्यास्तां तावत्''[१८९] अर्थात् वाचस्पति मिश्र ने 'यत् सत्तानियतसत्ताकत्वं यदुपलब्धिनियतोपलब्धिकत्वं' यह दो धर्मों को अभेदप्रयोजक बताया है, जैसे कि सुवर्ण-सत्ता से नियत सत्ता कुण्डलादि की है, इसलिए कुण्डलादि सुवर्ण से अभिन्न हैं। सुवर्ण की उपलब्धि से नियत कुण्डलादि की उपलब्धि है, अतः कुण्डलादि सुवर्ण से अभिन्न हैं। इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक सूत्राक्षरों से निकालने में क्लेश अधिक है एवं कुछ स्थलों पर हेतु व्यभिचरित भी देखा जाता है, जैसे कि आकाश से शब्द उत्पन्न होता है, शब्द का समवायिकारण आकाश है किन्तु शब्द की उपलब्धि होने पर भी आकाश की उपलब्धि नहीं होती। अतः शब्द की उपलब्धि आकाशोपलब्धि से नियत नहीं है अर्थात् 'उपादानोपलब्धिसत्त्वे एव उपादेयोपलब्धिसत्त्वम्' होना चाहिए, किन्तु शब्दरूप उपादेय की उपलब्धि होने पर भी आकाशोपादान की उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार वैशेषिक-प्रक्रियाप्रसिद्ध त्रसरेणु एक ऐसा कार्य है कि जिसकी उपलब्धि या प्रत्यक्ष माना जाता है, क्योंकि त्रसरेणु के लिए वैशेषिकों का कहना है—'जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुरभिधीयते॥' अर्थात् गवाक्षद्वार से प्रविष्ट सूर्य की रश्मियों में कुछ उड़ते हुए कण-से दिखायी दिया करते हैं (उन्हें त्रसरेणु कहते हैं तथा)

उनका छठा भाग परमाणु कहलाता है।[160] त्रसरेणु में महत्त्व परिमाण माना जाता है और उद्भूत रूप माना जाता है। अतएव वे दृष्टि के पथ में आ जाते हैं। त्रसरेणु द्व्यणुक-त्रय के योग से उत्पन्न होते हैं और द्व्यणुक दो परमाणुओं के योग से। त्रसरेणुओं का समवायिकारण या उपादान कारण द्व्यणुक माना जाता है। द्व्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उनमें महत्त्वगुण और उद्भूत रूप, दोनों नहीं रहते जिनके बिना प्रत्यक्ष संभव नहीं। त्रसरेणु की उपलब्धि होती है, प्रत्यक्ष होता है किन्तु उनके उपादान द्व्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उपादान की उपलब्धि से नियत त्रसरेणु की उपलब्धि नहीं। द्व्यणुकों की उपलब्धि के बिना भी त्रसरेणु की उपलब्धि हो रही है। इस उपलब्धि में उक्त नियम का व्यभिचार देखा जाता है। अतः वाचस्पति ने 'भावे चोपलब्धेः'—इस सूत्र की विलष्ट कल्पना पर आधृत एक अभिनव पथ का आविष्कार-प्रयास अवश्य किया किन्तु वह सफल प्रतीत नहीं होता।

वार्तिककार ने आचार्य वाचस्पति मिश्र के परिष्कार पर संभवतः गंभीर चिन्तन न करके आपात दृष्टि से ही उसका अध्ययन और निराकरण कर डाला है, क्योंकि आचार्य वाचस्पति मिश्र शुष्क अन्वय-व्यतिरेक तर्कों के आधार पर ब्रह्म और प्रपंच का अभेद सिद्ध नहीं करना चाहते[161], कारण कि श्रुति ने 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[162] कहकर नीरस तर्कों की अवहेलना-सी कर दी है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'[163]—इस ब्रह्म की उपलब्धि होने के कारण ही सम्पूर्ण प्रपंच की उपलब्धि होती है, इस श्रुति के आधार पर 'उपादान की उपलब्धि से नियत उपलब्धि-कत्व' धर्म का प्रपंच में प्रतिपादन किया है। यदि वह नियम व्यभिचरित है तो उक्त श्रुति का बाध उपस्थित होता है। इसी प्रकार जो 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' आदि श्रुतियों के आधार पर सद्रूपाधिष्ठान के अतिरिक्त सत्ता का अभाव प्रपंच में प्रतिपादित है, वह उसी का रूपान्तर है, 'उपादानसत्तानियतसत्ताकत्वकार्यत्व' इस नियम पर किसी प्रकार का आघात आने पर उक्त श्रुति आहत हुए बिना नहीं रह सकती। वेदान्त-वाक्यप्रतिपादित नियमों का मूल्य अद्वैतवाद में कितना है, इसे सब भली प्रकार जानते हैं। यदि कोई तर्क निर्बल भी हो तब भी प्रबल औपनिषदवाक्यों का बल पाकर प्रबल हो जाता है।[164] 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (२।१।११) आदि सूत्र श्रौतबल से वंचित असहाय तर्क-प्रणाली को अप्रतिष्ठित एवं अग्राह्य मानता है। मनन-कक्षा में वेदान्ताविरोधी तर्कों का साहाय्य अपेक्षित होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने 'भावे चोपलब्धेः' सूत्र का जो अर्थ किया, जिस अभिप्राय से किया, वह उनकी एक अपूर्व देन है एवं उनका प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

जैसे यहां भाष्यानुकार्य का संग्रह करने के कारण 'भामती' को वार्तिक की पदवी प्रदान की जा सकती है, वैसे ही 'त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्' (ब्र०सू० २।४।१७)—इस सूत्र के भाष्य में पुनरुक्ति उद्भावना करने के कारण भी भामती को वार्तिक कहा जा सकता है, जैसाकि कल्पतरुकार ने कहा है—'वार्तिकत्वमप्यस्तु न हि वार्तिकस्य शृंगमस्ति'।[165]

२१. प्रधानांगन्याय में प्रदर्शित भाष्यकारीय उदाहरण से भिन्न शाबरोदाहरण का संकीर्तन

'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इस अधिकरण में विविध शाखाओं में प्रतिपादित ब्रह्म के भावात्मक विशेषणों का उपसंहार ब्रह्म में सिद्ध किया जा चुका है। निषेधात्मक विशेषण भी उसी अधिकरण के आधार पर ब्रह्म में उपसंहृत किये जा सकते हैं, इसके लिए पृथक् अधिकरण-रचना की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी भाष्यकार ने कहा है कि उस पूर्व अधिकरण का ही यह विस्तार समझा जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८), मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५-६)। अर्थात् ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण है। यहाँ पर सन्देह का प्रकार कल्पतरुकार ने दिखाया है—

> भवेद् ब्रह्मस्वरूपत्वादानन्दाद्युपसंहृतिः।
> निषेधानामनात्मत्वान्नोपसंहारसंभवः ॥१॥
> आनन्त्याच्च निषेध्यानां तन्निषेधधियामपि।
> असंख्येयतयैकत्र कथं शक्योपसंहृतिः ॥२॥
> स्थालीपुलाकवत्किंचिन्निषेधेनान्यलक्षणे।
> यथा श्रुतेन तत्सिद्धेरुपसंहरणं वृथा ॥३॥[१६६]

अर्थात् आनन्दादिभावरूप विशेषणों का उपसंहार ब्रह्म में किया जा सकता है क्योंकि आनन्दत्वादि सभी भावधर्म ब्रह्मस्वरूप ही हैं, भिन्न नहीं, किन्तु अस्थूलादि विशेषणों के द्वारा स्थूलत्वादि विशेषणों का निषेध किया जाता है। निषेध ब्रह्म-स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि नैयायिकगण प्रतियोगी-अनुयोगी भाव को स्वरूपसम्बन्ध-विशेष मानते हैं जो कि प्रतियोगी-अनुयोगी उभयरूप होता है, एक का नहीं। प्रतियोगी के भेद से निषेध भी अनन्त हो जाया करता है। घटनिषेधक वाक्य या ज्ञान के द्वारा पटादि का निषेध संभव नहीं। पटादि का निषेध करने के लिए वाक्यान्तर व ज्ञानान्तर की अपेक्षा होती है। निषेधज्ञान अनन्त है, एक ब्रह्म से उनका अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म में किसी एक निषेध से एक निषेध्य वस्तु का ही निषेध कर सकते हैं, सभी निषेध्य पदार्थों का निषेध नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष करने के पश्चात् सिद्धान्त किया गया है[१६७] कि प्रतियोगी का भेद तभी है जबकि तत्तद्व्यक्ति का निषेध किया जाए किन्तु अनात्मरूप से सबका संग्रह करके यदि निषेध किया जाता है तब सभी निषेध्य अनात्मत्वाक्रान्त होने के कारण एक रूप में संगृहीत हो जाते हैं, भिन्न नहीं रह जाते। अतः शरीर, इन्द्रिय आदि सभी निषेध्य पदार्थों का निषेध ब्रह्म में उपसंहृत होता है। प्रकृत में ब्रह्मबोध प्रधान है और इतरनिषेध उसी का अंग माना जाता है, प्रधान के अनुसार अंग का अनुष्ठान हुआ करता है। इस न्याय का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार ने जो दृष्टान्त दिया है, शाबरभाष्य में उससे भिन्न दृष्टान्त दिया गया है। वाचस्पति मिश्र ने शबरस्वामी

का विवेचन कर रही है। अतः यहाँ कोई भी असंगति नहीं है। इस प्रकार भाष्य के अथवापक्ष की रक्षा आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सफलतापूर्वक की है।

२३. 'अध्यास' का अर्थ

'व्याप्तेश्च समंजसम्' (ब्र०सू० ३।३।९) के भाष्य में शंकर ने 'ओमित्येतदक्षर-मुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) यह श्रुति उद्धृत की है। वहाँ उन्होंने कहा है[२०३] कि इस श्रुतिस्थ अक्षर व उद्गीथ शब्दों में सामानाधिकरण्य श्रूयमाण है, किन्तु यहाँ विचारणीय है कि यहाँ सामानाधिकरण्य का कौन-सा पक्ष ग्राह्य है—अध्यास, अपवाद अथवा एकत्व? इसी प्रसंग में अध्यास का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जहाँ दो वस्तुओं में भेद-बुद्धि के निवृत्त न होने पर भी अर्थात् भेद-बुद्धि के अनुवर्तमान होने पर भी एक में अन्य बुद्धि की जाती है उसे अध्यास कहते हैं, जैसे नाम में ब्रह्म-बुद्धि जहाँ की जाती है, वहाँ भी ब्रह्मबुद्धि से नामबुद्धि की निवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार प्रकृत में भी अक्षर में उद्गीथबुद्धि अध्यासरूप है।

किन्तु यहाँ वाचस्पति मिश्र ने अध्यास के उपर्युक्त लक्षण में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है[२०४] और अध्यास का गौणी बुद्धि अर्थ करके उपर्युक्त भाष्य की योजना की है। उनका कहना है कि अध्यास सदा अविवेकपूर्वक होता है, अतः वहाँ भेद-बुद्धि नहीं होती। जब भेदबुद्धि होते हुए एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता है तो वह गौणी बुद्धि कहलाती है, जैसे माणवक में माणवकबुद्धि की निवृत्ति न होने पर भी 'सिंहो-माणवकः'—इस प्रकार से सिंहबुद्धि की जाती है अथवा जैसे प्रतिमा में वासुदेवबुद्धि की जाती है। इसीलिए 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इत्यादि व्यवहार की गौणता या औपचारिकता का खण्डन करते हुए वाचस्पति ने अध्यासभाष्य की भामती में कहा है कि जहाँ दोनों में भेद अनुभवसिद्ध हो, पश्चात् एक शब्द का दूसरे में प्रयोग होता है, तब गौणव्यवहार माना जाता है अर्थात् गौण या औपचारिक व्यवहार के लिए दोनों वस्तुओं का भेदज्ञान आवश्यक है और जहाँ दोनों (आरोप्य-आरोपाधिकरण) में भेदज्ञान न हो, वहाँ अध्यास होता है। प्रस्तुत प्रकरण में अक्षर में उद्गीथ बुद्धि जहाँ की गई है, वहाँ दोनों में भेदज्ञान अनुभवसिद्ध है। अतः वहाँ 'सिंहो माणवकः' की तरह गौणी बुद्धि है। इसलिए अध्यास का अर्थ यहाँ 'गौणी बुद्धि' करना चाहिए, यह वाचस्पत्य कथन सर्वथा संगत है।

२४. प्राण-लय

'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः' (ब्र०सू० ४।२।४)—इस सूत्र में यह निर्णीत किया गया है कि प्राण का लय देहेन्द्रियपंजराध्यक्ष जीव में होता है, किन्तु 'भूतेषु तच्छ्रुतेः' (ब्र०सू० ४।२।५)—इस उत्तर सूत्र के शंकाभाष्य और समाधानभाष्य को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राण-संयुक्त जीव तेजःसहित भूत-सूक्ष्मों में अवस्थित होता है, जैसाकि भाष्यकार ने कहा है "'ननु प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते, कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः क्रियते? नैष दोषः, अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य, श्रुत्यन्तरगतस्यापि च

विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥४॥ ...स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम्, प्राणस्तेजसीति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य, नैष दोषः, सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तराल उपसंख्यातत्वात्''।[२०४] किन्तु यह भाष्य उपक्रम-विरुद्ध पड़ता है क्योंकि उपक्रम में अध्यक्ष में प्राण का लय बतलाया गया है न कि प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का तेजःसहित भूतसूक्ष्म में।

भामतीकार ने इस असंगति को दूर किया है। उन्होंने इस भाष्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति से तेज में प्राणवृत्ति का लय प्रतीत होता है तथापि विद्याओं में एक शाखा में श्रुत वस्तु का दूसरी शाखाओं में भी उपसंहार होता है, इस नियम के अनुसार अन्य शाखाश्रुत श्रुति से विज्ञानात्मा में ही अर्थात् जीव में ही प्राण का लय प्रतीत होता है—'एवमेवेमात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति'। 'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति भी तेजस् से अतिरिक्त देहबीजभूत पंचभूत सूक्ष्म परिवार का अध्यक्ष जो जीवात्मा उसमें प्राणवृत्ति का लय होता है—यह बतला रही है। ऐसा अर्थ मानने पर उपक्रम से कोई विरोध नहीं क्योंकि उपक्रम में भी अध्यक्ष विज्ञानात्मा में ही प्राणवृत्ति का लय बतलाया गया है और इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।[२०६]

२५. 'दुर्निप्रपततर' शब्द का अर्थ

'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः' (३।१।२२) अधिकरण में इष्टापूर्तकारी सानुशयी व्यक्तियों के विषय में श्रुति ने कहा है-''अथैतमेवाध्वानं पुन निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति''[२०७] अर्थात् चन्द्रलोक में निर्धारित समय तक रहने के पश्चात् फिर उसी मार्ग से उन जीवों का आवर्तन इस लोक में होता है। उसका क्रम यह बताया गया है कि आकाश भाव को वे जीव पहले प्राप्त होते हैं, आकाशभाव-प्राप्ति का अर्थ आकाश की सदृशता प्राप्त करना होता है। आकाशभावापत्ति के पश्चात् वायुरूपापत्ति होती है। उससे धूमरूपापत्ति होती है। यहाँ सन्देह होता है कि आकाशरूपापत्ति के पश्चात् वायुरूपापत्ति प्राप्त होने में कुछ विलम्ब लगता है अथवा बिना विलम्ब के शीघ्र रूपान्तर की प्राप्ति होती जाती है? इस सन्देह पर शंकराचार्य ने पूर्वपक्ष उठाया है—''तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति''[२०८] अर्थात् विलम्बाविलम्ब का नियामक कोई शास्त्र न होने के कारण कोई नियम नहीं। इस पूर्वपक्ष का परिहार करते हुए 'नातिचिरेण विशेषात्' (३।१।२३)—इस सूत्र के द्वारा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ''अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति।...तस्माद् व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति।''[२०९] अर्थात् व्रीहि आदि भावापत्ति के क्रम में जीव के लिए कहा गया है—'दुर्निष्प्रपततर' इसका अर्थ होता है दुःखपूर्वक विलम्ब से रूपान्तरापत्ति होती है। इससे यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व आकाश, वायु आदि के रूपापत्तिक्रम में सुकरता एवं अचिरकालता होती है।

भाष्यकारीय पूर्वपक्ष में असंगति प्रतीत होती है, क्योंकि व्रीहि आदि रूपापत्ति में जब विलम्बता का प्रतिपादन किया गया है उससे पूर्व की गति में क्षिप्रता का लाभ होता है, तब बिलम्ब का सन्देह कैसे उठाया जा सकता है ? यदि दुर्निष्प्रपततर शब्द का अर्थ दु:खपूर्वक नि:सरण किया जाए और उसके द्वारा पूर्व की गति में सुखपूर्वता का लाभ किया जाए तो ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि उत्तर अधिकरण में दु:खरूपता का निषेध उन जीवों में किया गया है। अत: दुर्निष्प्रपततर शब्द का एकमात्र विलम्ब ही अर्थ किया जा सकता है, दूसरा नहीं। भामतीकार ने दुर्निष्प्रपततर का अर्थ करते हुए कहा है—'दुष्प्रिपततरम्' इति दु:खेन नि:सरण ब्रूते न तु विलम्बेनेति मन्यते पूर्व-पक्षी'[२१०] अर्थात् 'दुर्' शब्द का दु:ख अर्थ ही हो सकता है, विलम्ब नहीं क्योंकि उत्तर अधिकरण में दु:ख का निषेध देखकर पूर्वपक्ष में उसका विधान सहजत: अवगत हो जाता है, और सिद्धान्ती ने कहा है—'विना स्थूलशरीरं न सूक्ष्मशरीरं दु:खभागिति दुर्निष्प्रपत-तरं विलम्बं लक्षयतीति राद्धान्त:'[२११] अर्थात् व्रीहि आदि गतिक्रम में जीवों का केवल सूक्ष्मशरीर ही होता है, स्थूल शरीर नहीं होता, स्थूल शरीर के बिना दु:खानुभूति नहीं हो सकती। अत: दुर्निष्प्रपततर का 'दु:ख' अर्थ सम्भव नहीं। परिशेषत: विलम्ब अर्थ करना होगा। यदि वह अभिधेय नहीं है तो उसका लक्षणा के द्वारा बोध किया जाए। जहाँ पर अभिधेयार्थ का बाध होता है वहाँ लक्षणा या गौणी वृत्ति से अर्थान्तरपरक शब्द को माना जाता है। अत: यहाँ व्रीहि आदि रूपापत्ति में विलम्ब-प्रतिपादन के कारण उसके पूर्व आकाशादि गतिक्रम में क्षिप्रता का बोध हो जाता है।

२६. वृत्तिकारकृत व्याख्योत्कर्षसमर्थन

'त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्' (२।४।१७)—इस सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने तत्त्वांतर पद का अध्याहार[२१२] करके सूत्र की योजना की है। सन्देह उठाया गया है, क्या मुख्य प्राण के ही वृत्तिविशेष दूसरे प्राण हैं अथवा मुख्य प्राण से तत्त्वान्तर। पूर्वपक्ष किया गया है— मुख्यप्राण के ही वृत्तिविशेष इतर प्राण हैं। सिद्धान्त किया गया है—मुख्य प्राण की अपेक्षा से वागादि एकादश इन्द्रियाँ भिन्न हैं क्योंकि मुख्यप्राण को छोड़कर अवशिष्ट एकादश इन्द्रियों में 'इन्द्रिय' व्यपदेश हुआ है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने शंकराचार्य की सूत्र-योजनिका में कुछ अस्वारस्य देखकर वृत्तिकार की व्याख्या में उत्कर्ष दिखाते हुए कहा है—"अन्ये तु भेदशब्दाध्याहार-भिया भेदश्रुतेश्चेति पौनरुक्त्यभिया च तच्छब्दस्य चानन्तरोक्तपरामर्शकत्वादन्यथा वर्ण-यांचक्रु:।"[२१३] अर्थात् वृत्तिकार ने पदाध्याहार के बिना एवं उत्तर सूत्र से पुनरुक्ति बचाते हुए सूत्रगत 'ते' पद से पूर्व सूत्रचर्चित वागादि का परामर्श करते हुए इस सूत्र की अन्य प्रकार से व्याख्या की है। क्या पूर्वकथित एकादश वागादि प्राण ही इन्द्रिय हैं ? अथवा मुख्य प्राण भी इन्द्रिय है ? इस प्रकार का सन्देह होने पर पूर्वपक्षी ने कहा है कि इन्द्रिय का अर्थ होता है 'इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्' इन्द्रशब्दप्रतिपादित आत्मा के गमक उपकरणों को इन्द्रिय माना जाता है। अत: एकादश इन्द्रिय और प्राण इन सब में इन्द्रियपद का प्रयोग करना चाहिए। रूपादिविषयक आलोचन (ज्ञान) के कारण को इन्द्रिय नहीं कहा जा

सकता क्योंकि आलोक आदि में उक्त करणता रहने के कारण अतिव्याप्ति होती है; इसलिए पूर्वोक्त इन्द्रिय का लक्षण निर्दुष्ट है, उसके अनुसार वागादि के समान प्राण को भी इन्द्रिय मानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्त किया गया है—'श्रेष्ठादन्यत्र'—श्रेष्ठ प्राण की अपेक्षा से भिन्न वागादि को ही इन्द्रिय समझना चाहिए क्योंकि इन्हीं में इन्द्रिय शब्द का व्यपदेश (व्यवहार) किया गया है। मुख्य प्राण में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। इन्द्रलिंगता वैसे ही इन्द्रिय पद की व्युत्पत्ति-मात्र है, जैसे 'गो' पद की गच्छतीति 'गो:'—इस प्रकार व्युत्पत्ति की जाती है। उसे शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं माना जाता। 'गो' पद का प्रवृत्तिनिमित्त जैसे गोत्व माना जाता है वैसे ही इन्द्रिय को ही इन्द्रिय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त माना जाता है। रूपादि-आलोचन-करणत्व को इन्द्रियत्व मानने पर भी आलोकादि में अति प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि उक्त लक्षण में 'देहाधिष्ठानत्वे सति' विशेषण जोड़ा जाता है। आलोकादि देहाधिष्ठित नहीं होते। अत: वागादि एकादश इन्द्रियों में ही इन्द्रिय शब्द रूढ निश्चित होता है, प्राण इन्द्रिय नहीं।

वाचस्पति मिश्र ने इस सूत्र के भाष्यकारीय अधिकरण के लिए कहा है—'भाष्यकारीय त्वधिकरण भेदश्रुतेरित्यादिषु सूत्रेषु नेयम्'[२१४] अर्थात् 'त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्' (२।४।१७) केवल इस सूत्र का भाष्य न मानकर उत्तरवर्ती दो सूत्रों को मिलाकर त्रिसूत्री के पूर्ण कलेवर पर भाष्यकारीय अधिकरण-रचना युक्तिसंगत हो सकती है। केवल प्रथम सूत्र की वैसी व्याख्या मान लेने पर उत्तरवर्ती सूत्रों के साथ पुनरुक्ति प्रसक्त होती है।[२१५]

आचार्य वाचस्पति मिश्र के द्वारा वृत्तिकारीय मत का उपन्यास करने का अभिप्राय क्या शांकरभाष्य में अयुक्तता का प्रदर्शन है? अथवा वृत्तिकारीय मत में ही न्यूनता का उद्भावन है? इस प्रकार की जिज्ञासा में कल्पतरुकार आचार्य अमलानन्द सरस्वती ने कहा है—"तत्राऽपरितोषं दर्शयन् व्याख्यानान्तरमाह···। एवं चाद्यसूत्रे एव यद् भाष्यकारैरिन्द्रियाणां प्राणवृत्तित्वनिरसनमकारि, तन्मात्रमयुक्तमित्युक्तं भवति।"[२१६] अर्थात् भाष्यकारीय अधिकरण-रचना में वाचस्पति मिश्र को परितोष नहीं है। अत: वृत्तिकार का मत उपन्यस्त किया है। केवल प्रथम सूत्र में उस प्रकार का भाष्य सर्वथा अयुक्त है।

किन्तु परिमलकार आचार्य अप्पयदीक्षित ने कल्पतरु की अपेक्षा दूसरे ही विपरीत पक्ष का आविष्कार करते हुए कहा है—"वस्तुतस्तु भाष्यकारीयायामाद्यसूत्रव्याख्यायामयुक्तत्वप्रदर्शनार्थो न भवति वृत्तिकारमतोपन्यास: किन्तु तस्यैवायुक्तत्वप्रदर्शनार्थ:। तस्मिन्नुपन्यस्यमान एव हि तदयुक्तत्वं स्फुटं प्रतीयते।"[२१७] अर्थात् भाष्यकारीय प्रथम सूत्र की व्याख्या में अयुक्तत्व प्रदर्शित करने के लिए वृत्तिकार के मत का उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु वृत्तिकारीय मत में ही अयुक्तता ध्वनित करने के लिए उस मत का उपन्यास किया गया है, क्योंकि वृत्तिकार ने दो प्रकार से इन्द्रिय पद का निर्वचन प्रस्तुत किया है—(१) 'इन्द्र-लिंगत्वम् इन्द्रियत्वम्' (२) 'रूपाद्यालोचनमात्रकरणत्वम् इन्द्रियत्वम्।' पहला लक्षण प्राणसाधारण है और द्वितीय लक्षण प्राणव्यावृत्त एकादश इन्द्रियमात्रवृत्ति होना चाहिए किन्तु वह केवल ५ ज्ञानेन्द्रिय और मन,

६ में ही संकुचित रह जाता है। कर्मेन्द्रिय में यह लक्षण नहीं जाता, क्योंकि आलोचन-ज्ञान को केवल ज्ञानेन्द्रिय जन्म दिया करते हैं, कर्मेन्द्रिय नहीं। कर्मेन्द्रिय क्रिया के साधन माने जाते हैं। इस अव्याप्ति के साथ-साथ हमें यह भी सोचना है कि यह वेदान्त दर्शन कोई वैशेषिक दर्शन नहीं है कि साधर्म्य-वैधर्म्य का विचार ही मोक्ष के लिए पर्याप्त समझा जाय, किन्तु 'तत्त्वं'—पदार्थपरिशोधन करना वेदान्त-विचार का मुख्य प्रयोजन है। भाष्यकारीय पूर्वपक्षरीति से यदि सभी इन्द्रियों को प्राण की वृत्ति मान लिया जाता है तब केवल 'नाहं प्राणः' इस प्रकार के प्राण के व्यतिरेक से इन्द्रिय का भी व्यतिरेक हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय भी प्राणों की कक्षा में सम्मिलित हो जाती हैं और सिद्धान्त पक्ष में प्राण से भिन्न इन्द्रियों को माना गया तब इन्द्रियव्यतिरेक पृथक् करना होगा। 'नाहं प्राणः, नाहं चक्षुः, नाहं श्रोत्रम्'—इस प्रकार १२ व्यतिरेक वाक्यों के द्वारा आत्म-व्यतिरेक सिद्ध करना होगा। फलतः भाष्यकार के अधिकरण में पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष में से प्रत्येक पक्ष का 'तत्त्व'—पदार्थ-परिशोधन का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है किन्तु वृत्तिकार के मत में केवल साधर्म्य-वैधर्म्य का ही निश्चय हो पाता है, जिसका वेदान्त प्रक्रिया से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। उसका पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों असंगत हैं। इस असंगति की ओर वाचस्पतिमिश्र ने ध्यान आकृष्ट करने के लिए 'अध्याहारभिया' एवं पौनरुक्त्य-भिया' कहकर ध्वनित किया है कि इतने से भय से भयभीत होकर वृत्तिकार ने वेदान्त-लक्ष्य-क्षेत्र से पलायन करके वैशेषिक प्रक्रिया का आलम्बन किया है। अतः वैसा करना वेदान्तवृत्तिकार के लिए शोभनीय न था।

२७. हिंसाजन्य अशुद्धि

'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (३।१।२५) इस सूत्र में पूर्वपक्ष के द्वारा आपादित प्रसंगतः इष्टादि कर्म में हिंसाआदिजन्य पाप के मिश्रण से अशुद्धि का परिहार करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—"ननु 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इति अवगमयति। उत्सर्गस्तु सः। अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्"[११८] अर्थात् 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—इस शास्त्र के द्वारा हिंसा का निषेध किया जाता है। यह सामान्य शास्त्र है जिसे उत्सर्ग भी कहा जाता है। सामान्य शास्त्र का विशेष शास्त्र के द्वारा बाध या अपवाद होता है। 'अग्नीषोमीय पशुमालभेत' यह वाक्यविशेष विधि या अपवाद माना जाता है। अतः ज्योतिष्टोमादि कर्मों में प्रयुक्त हिंसा अपने क्षेत्र में 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य शास्त्र को अवतीर्ण नहीं होने देती। अतः अग्नीषोमीय हिंसा न होने के कारण पापजनक नहीं। इस प्रकार इष्टादि कर्मों में हिंसादिजन्य दोष नहीं माना जा सकता। कर्म विशुद्ध हैं, उनका फल शुभ ही होगा, अशुभ नहीं। अनुशयी जीव को, जो कि चन्द्रलोक से वापिस आ रहा है, अशुद्ध कर्मों के कारण दुःखानुभूति सिद्ध नहीं की जा सकती। अतः व्रीहि आदि के रूप में वे जन्म न लेकर केवल व्रीहि आदि से संश्लिष्ट मात्र होते हैं।

भाष्यकारीय कथित व्यवस्था की अयुक्तता के द्योतक वाचस्पति मिश्र के व्याख्या-नान्तर की पातनिका में कल्पतरुकार ने कहा है—"अत्र भाष्यकारैर्न हिंस्यादित्युत्सर्गः,

अग्नीषोमीयमालभेतेत्यपवाद इत्युक्तम् तदयुक्तम्, विशेषविधिविहितस्यार्थस्य सामान्य-विधिनापि विषयीकारे ह्युत्सर्गापवादन्यायः। यथाऽऽहवनीये जुहोति पदे जुहोतीति होममात्रस्याहवनीयान्वयविधिना पदहोमस्यापि विषयीकारे पदहोमान्वयविशेषविधिना बाधात्तदितरपरत्वं सामान्यशास्त्रस्य। अत्र तु वर्णितेन न्यायेन निषेधस्योत्पत्तिसमय एव पुरुषार्थहिंसानुप्रवेशः।"[११६] अर्थात् भाष्यकार ने 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' को उत्सर्ग शास्त्र कहा है, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' को अपवाद शास्त्र कहा है किन्तु यह सर्वथा अयुक्त है क्योंकि एक ही अधिकार के दो वाक्यों में से सामान्य विधिवाक्य को उत्सर्गशास्त्र और विशेषविधिशास्त्र को अपवादशास्त्र कहा जाता है, जैसे 'आहवनीये जुहोति' इस विधि के द्वारा सामान्य होम के उद्देश्य से आहवनीय अग्निरूप आधारद्रव्य का विधान किया गया है। अतः यह उत्सर्गशास्त्र माना जाता है। किन्तु 'पदे जुहोति, सप्तमे पदे जुहोति' जैसे शास्त्रों को अपवादशास्त्र माना जाता है क्योंकि वे विशेष होम के उद्देश्य से पदचिह्नयुक्त भूमिप्रदेश का विधान किया करते हैं। यह उत्सर्ग और अपवाद का स्वरूप हिंसा शास्त्रों में नहीं घटता क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' यह वाक्य किसी कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, अतः कर्मांगसमर्पक न होकर केवल पुरुषार्थ हिंसा-निषेध करता है अर्थात् उस शास्त्र का उल्लंघन कर देने पर पुरुष दोषी होता है, प्रत्यवायी होता है। कर्म में किसी प्रकार का वैगुण्य नहीं आया करता और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वाक्य ज्योतिष्टोम क्रतु के प्रकरण में पठित है, अतः अग्नीषोमीय पशुहिंसा में करणता का प्रतिपादन करता है, पुरुष के उद्देश्य से हिंसा का विधान नहीं करता। दोनों शास्त्रों का अपना-अपना क्षेत्र पृथक् परिलक्षित होता है। 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' शास्त्र पुरुष को लक्ष्य करके कहता है—प्राणियों का वध मत करो। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह छोटा-सा वाक्य कर्मठ मानव की कर्मकुशलता एवं स्वतन्त्रता का वरदान देता हुआ कहता है—अग्नीषोम सम्बन्धी पशु का विशसन करना कर्म को पूर्णता प्रदान करता है। पूर्णता की कक्षाओं में पहुँचकर स्वर्गिक सौमनस्य निसर्ग का पावन उपवन भी तुम्हारी छाया से शीतलता का अनुभव करेगा। लोभी मानव पूर्णता-लाभ के प्रयास में वैदिक आज्ञा व वैदिक निर्देश के सन्तुलित चंक्रमण-पथ का विहरण करना ही एकमात्र कर्त्तव्य समझ लेता है। एक अगाध श्रद्धालु के लिए माता की आज्ञाओं के समान ही श्रुति की समाज्ञा शिरो-धार्य होती है। वह अपनी स्वैरिणी स्वच्छन्दता से अनुप्राणित नहीं है। नित्य-नैमित्तिक पाशों में अभिसंदानित एकमात्र कर्त्तव्य का पालन अपना ध्येय समझता है। फिर उसे पाप क्यों होगा? वह प्रत्यवायी क्यों बनेगा? दो वाहनों के मार्ग जब विभिन्न हों और गन्तव्य दिशा एक हो, तब उनमें बाधकता कभी भी सम्भव नहीं। हिंसा-निषेध अपने ही द्रोही को अभिशप्त मात्र कर सकता है, उसकी कर्त्तव्य-शृंखला को दूषित करने का कोई अधिकार उसे नहीं। इसी प्रकार अग्नीषोम-पशु-समालम्भन अपने कर्त्ता को अनभिशप्त नहीं करता प्रत्युत उसके कर्त्तव्य की गुरुतामात्र बढ़ाता है। दोनों शासन हैं, दोनों समान बल के विधिवाक्य एक-दूसरे की कर्त्तव्य-प्रणाली से अनभिज्ञ हैं, फिर उनमें सामान्य-विशेषभाव कैसा? उत्सर्ग-अपवाद-भाव कैसा? 'न हिंस्यात्' शास्त्र का अवतरण अग्नी-षोमीय याग में जब नहीं होता तब सर्वथा निर्दोष कर्म विशुद्ध पुण्य का प्रसव करता है।

दोनों शास्त्रों की, आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित, विषयविभिन्नता और मार्ग-पृथक्ता को शंकराचार्य के हृदय में निर्विकल्प नहीं सविकल्प व्यवसायात्मक निश्चय ने यथावत् रूप में प्रतिफलित किया, किन्तु न जाने क्यों उनकी वाणी से उत्सर्ग और अपवाद की अघटित गाथा निकल पड़ी। सम्भवतः उन्होंने इसे ही सामान्य विशेष के रूप में समझा हो। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"अयमेवार्थ उत्सर्गापवादवचनेनोपलक्षितः।"[२२०]

इस प्रघट्टक का सारांश यह है कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस निषेध-शास्त्र के द्वारा पशुहिंसा-युक्त यागकर्म दोषी ठहराये जाते हैं अथवा नहीं, इस सन्देह के निवारण में वैदिक पक्षीय विद्वान् एकमत होकर कहते हैं कि हिंसाजन्य पाप कर्मांगभूतहिंसा में अवतीर्ण नहीं होता। दूसरे शब्दों में 'न हिंस्यात्' जैसे हिंसा-निषेध करने वाले विधिवाक्य 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' जैसी विधियों का मार्गावरोध नहीं कर सकते और न पशु-हिंसायुक्त कर्मों को अशुद्ध ही कह सकते हैं। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों ने विभिन्न मार्ग अपनाये हैं। आचार्य शंकर ने कहा है[२२१]—'न हिंस्यात् सर्वा-भूतानि' यह उत्सर्गशास्त्र या सामान्यशास्त्र है। वह 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' जैसे विशेषशास्त्र या अपवादशास्त्र के क्षेत्रों में प्राप्त नहीं होता। आचार्य वाचस्पति मिश्र भाष्यकारीय समाधान को असंगत-सा ठहराते हुए कहते हैं[२२२] कि दोनों शास्त्रों में सामान्य-विशेष-भाव या उत्सर्गापवादभाव सम्भव नहीं क्योंकि दोनों के विषय भिन्न हैं, एक शास्त्र पुरुषार्थ है और दूसरा क्रत्वर्थ। पुरुषार्थ का अर्थ होता है 'पुरुषः अर्थः प्रयोजनम् यस्य सः पुरुषार्थः' अर्थात् जो शास्त्र पुरुष को सीधा फल देने के लिए किसी कर्त्तव्य का उपदेश करता है उसे पुरुषार्थ कहा जाता है, जैसे 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह शास्त्र पुरुष को कहता है—किसी प्राणी की हिंसा मत करो। अब यदि वह पुरुष उस शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन कर प्राणि-हिंसा कर देता है तब उसका पाप पुरुष को नरकगामी बना सकता है। इसी प्रकार 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह शास्त्र क्रतु की पूर्णता के लिए पशुविशेष की हिंसा का विधान करता है। यदि उसका पालन न किया जाए तब वह कर्म विगुण हो जाता है, अपूर्ण रह जाता है। पुरुषार्थ और क्रत्वर्थ दोनों प्रकार के शास्त्रों का एक विषय नहीं, समान उद्देश्य नहीं, अतः उनमें सामान्य-विशेष नहीं माना जा सकता। तब अग्नीषोमीय हिंसा के क्षेत्र में 'न हिंस्यात्' का विरोध यदि नहीं होता तो वह कर्म अशुद्ध क्यों नहीं होता? इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[२२३] कि 'न हिंस्यात्' यह शास्त्र उसी पुरुष को हिंसा न करने का उपदेश करेगा जो पुरुषार्थ हिंसा के उद्देश्य से प्रवृत्त है। किन्तु जो क्रत्वर्थ हिंसा करने जा रहा है उसको रोकने का उसे अधिकार नहीं। प्रत्येक शास्त्र अपने क्षेत्र के बाहर प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार 'न हिंस्यात्' यह शास्त्र भी क्रत्वर्थ हिंसा पर लागू नहीं होता। अतः वह कर्म विशुद्ध ही रहता है।

दोनों मार्गों से अभीष्ट सिद्धि तो हो जाती है किन्तु अन्तर केवल मार्गों का रह जाता है। कौन मार्ग उचित है और कौन अनुचित, इस पर विचार करने से एक रूप में समाधान नहीं मिल पाता। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आचार्य शंकर के सामान्य-विशेष-

भाव को दोषी ठहराया है किन्तु आचार्य अप्पयदीक्षित उसे संगत बताते हैं—"इहाप्युत्सर्गापवादन्यायः प्रवर्तत एव, हिंस्यादित्यनेन विहितहिंसाया अपि क्रोडीकारात्। मरणफलोपहितमरणकारणपुरुषव्यापारत्व हिंसात्वं हिंसाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तद्वैधहिंसायामप्यविशिष्टम्"[२२४] अर्थात् जैसाकि आचार्य शंकर ने कहा है कि दोनों शास्त्रों में सामान्य-विशेष-भाव होता है, उनका यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'न हिंस्यात्' इस शास्त्र में सभी प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया गया है, चाहे वह पुरुषार्थ हो चाहे क्रत्वर्थ। इस प्रकार 'न हिंस्यात्' यह शास्त्र सामान्यशास्त्र है और 'अग्नीषोमीय पशुमालभेत' यह विशेष हिंसा का विधायक है, अपवादशास्त्र है।

वैदिक कर्मकाण्ड पर, वैदिक दर्शनों में, सम्भवतः सबसे प्रथम सांख्याचार्यों ने अविशुद्धि का आरोप लगाया था 'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।'[२२५] सूत्रकार ने भी कहा है —'अविशेषश्चोभयोः' इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है "स···अशुद्धया हिंसादिपापेन विनाशिसातिशयफलकत्वेन च युक्त इत्यर्थः। ननु वैधहिंसायाः पापजनकत्वे बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वरूपस्य विध्यर्थस्यानुपपत्तिरिति चेन्न, वैधहिंसाजन्यानिष्टस्येष्टोत्पत्तिनान्तरीयकत्वेनेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वरूपस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य विध्यंशस्याक्षतेः। यत्तु वैधहिंसातिरिक्तहिंसाया एव पापजनकत्वमिति, तदसत्, संकोचे प्रमाणाभावात्। युधिष्ठिरादीनां स्वधर्मेऽपि युद्धादौ ज्ञातिवधादिप्रत्यवायपरिहाराय प्रायश्चित्तश्रवणाच्च।"[२२६] अर्थात् दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति न दृष्ट उपाय से हो सकती है और न अदृष्ट उपाय से। अदृष्ट उपाय (वैदिक कर्मकाण्ड) में एक बहुत बड़ा दोष है कि हिंसासाध्य कर्म हिंसाजन्य पाप से मिश्रित होने के कारण अशुद्ध माने जाते हैं। शास्त्र-विहित हिंसा पापजनक नहीं होती, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह शास्त्र समस्त हिंसा का निषेध करता है, उसे अवैध हिंसा मात्र के निषेध में संकुचित करना सम्भव नहीं हो सकता। युधिष्ठिर जैसे धार्मिक क्षत्रिय महाराज भी हिंसाजन्य पाप-निवृत्ति के लिए अपने को प्रायश्चित भागी मानते हैं तथा कहते हैं कि हम इस वेदत्रयी से विहित धर्म का, जो कि अधर्म से युक्त है, पालन करने से अवश्य पापफल का लाभ करेंगे।[२२७]

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यकारिका की व्याख्या में कहा है—'अविशुद्धः' सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता। यथाऽऽह स्म भगवान् पंचशिखाचार्यः 'स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्ष' इति। स्वल्पः संकरः···अथव···न च···तथाहि···हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति।"[२२८] अर्थात् सोमादियागों में पशुबीजादि-हिंसा के द्वारा पाप का उत्पन्न होना ही अविशुद्धि है जिसके लिए पंचशिखाचार्य ने कहा है—कर्मजन्य विपुलपुण्यराशि में कुछ न कुछ पाप का सांकर्य रहता ही है। यदि प्रायश्चित्त किया जाए तो उस पाप का परिहार भी हो जाता है। यदि प्रायश्चित्त न किया जाए तो भी थोड़े से पाप का फल भोग लिया जाता है। यदि यह कहा जाए कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह सामान्य शास्त्र है, इसका अपवाद 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' —इस विशेष शास्त्र के द्वारा हो जाता है, अतः यज्ञीय हिंसा में निषेध्यता न आने के कारण पापजनकता नहीं मानी जाती, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त दोनों वाक्यों

का विषय-भेद होने के कारण किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं है। विरोध होने पर ही सबल शास्त्र के द्वारा दुर्बल का बाध किया जाता है। किन्तु 'न हिंस्यात्' यह शास्त्र हिंसा में अनर्थहेतुता ज्ञापित करता है—क्रत्वंगता का निषेध नहीं करता। इसी प्रकार 'अग्नीषोमीय पशुमालभेत' यह शास्त्र पशुहिंसा में क्रत्वंगता का प्रतिपादक है, अनर्थ-हेतुता का निषेधक नहीं। अतः दोनों का किसी प्रकार का विरोध नहीं। यज्ञीय पशुहिंसा ज्योतिष्टोम कर्म को सम्पन्न करेगी किन्तु पुरुष को कुछ पाप अवश्य होगा।

योगदर्शनकार भी अहिंसा को बहुत बड़ा व्रत मानकर हिंसा से मानवों को विरत करना चाहते थे "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"[२२६] अर्थात् किसी भी जाति के पापी की किसी देश और किसी काल में किसी प्रकार भी कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा न करना महाव्रत है। यज्ञ-याग में हिंसा जैसे पापकर्म से दूर रहने के कारण बहुत से विद्वान वैदिक कर्मों को छोड़कर आध्यात्मिक यज्ञादि में प्रवृत्त हो गए थे। जैसाकि मनु ने कहा है—

> एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
> अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ।।[२३०]

श्रीमद्भागवत में भी हिंसादि के द्वारा यागादि की अशुद्धि ध्वनित हुई है -

> यथा पंकेन पंकाभः सुरया वा सुराकृतम् ।
> भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञै मार्ष्टुमर्हति ।।[२३१]

अर्थात् जैसे कीचड़ के द्वारा जल की शुद्धि नहीं होती, सुरा के द्वारा मादकता दूर नहीं की सकती—वैसे ही हिंसा कर्मों के द्वारा यज्ञादि कर्मों की शुद्धि नहीं अपितु अविशुद्धि ही होती है।

बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने यज्ञीय हिंसा का प्रबल प्रतिरोध किया था। श्री हेमचन्द्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदस्तोत्र' में कहा है—"न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्ट-मन्यार्थमपोद्यते च। स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम्।"[२३२] अर्थात् वेदविहित हिंसा भी धर्म का हेतु नहीं मानी जा सकती। उत्सर्गापवादन्याय यहाँ लागू नहीं हो सकता क्योंकि एक वस्तु के उद्देश्य से विहित पदार्थों का सामान्य-विशेष स्वभाव होता है किन्तु हिंसा का उद्देश्य याग की निष्पत्ति और हिंसानिषेध पुरुषार्थ माना जाता है। जिस प्रकार कोई नृपति राज्यलिप्सा से अपने पुत्र का घात करता है। राज्य का लाभ हो जाने पर भी पुत्र घातजन्य पाप की निवृत्ति नहीं होती। उसी के समान यज्ञहिंसा भी है। इस पद्य की व्याख्या में मल्लिषेण ने कहा है[२३३] कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह औत्सर्गिक निषेध है। औत्सर्गिक निषेध का अर्थ होता है सामान्य विधि। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध हुआ करता है। अतः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष शास्त्र के द्वारा उत्सर्ग का बाध होने के कारण वैदिकी हिंसा पापजनक नहीं होती, जैसे कि जैन सम्प्रदाय में हिंसा का निषेध होने पर भी जैन मन्दिर और आयतन के निर्माण की आज्ञा है। उस निर्माण में अनन्त क्षुद्र प्राणियों की हिंसा होती है, उसके होने पर भी मन्दिर-निर्माता को पुण्य का लाभ होता है, उसी प्रकार वैदिकी हिंसा से भी पुण्य का लाभ होता

है। याज्ञिकों के इस वक्तव्य का निरास करने के लिए स्तुतिकार ने कहा है 'नोत्सृष्ट-मन्यार्थमपोद्यते च'—जैन-आयतन-निर्माण के समान पशु-सम्बन्धी हिंसा और अहिंसा में उत्सर्गापवादभाव सम्भव नहीं होता। मन्दिरनिर्माणजन्य पुण्य पुरुष को होता है और उसके निर्माण में क्षुद्र प्राणियों की हिंसा से पाप भी होता है किन्तु उस पाप की मात्रा उस पुण्यराशि के समक्ष नहीं के समान होती है। किन्तु वैदिक हिंसा बड़े प्राणियों की होती है और उसका उद्देश्य यज्ञ की पूर्ति होता है। अतः दोनों शास्त्रों का विषयभेद हो जाने से उत्सर्गापवादभाव नहीं बन सकता।

दोनों शास्त्रों के उत्सर्गापवादभाव को सन्देह उठाकर युक्तिदीपिकाकार ने सम्भवतः वाचस्पति मिश्र के बहुत पहले ही विषयभेद दिखाकर निराकृत किया था—"स्यान्मतम्—तदेव शास्त्रमहिंसामाह तदेव हिंसाम्। एवं सति परस्परविरुद्धयोरर्थयोश्चोदितत्वादुभयानुग्रहासंभवे शास्त्रविरोधप्रसंग इति। तच्च नैवम्। कस्मात्? उत्सर्गापवादयो-विषयभेदात्। सामान्ये हि शास्त्रे हिंसामुत्सृज्य विशेषे क्रतुलक्षणेऽपवादं शास्ति। सामान्यविहितं च विशेषविहितेन बाध्यते। तद्यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्रं कौण्डिण्यायेति। तस्मादुत्सर्गापवादयो विषयभेदात् नास्ति शास्त्रविरोध इति"[३४] अर्थात् यदि कहा जाए कि वही शास्त्र अहिंसा का भी विधान करता है और हिंसा का भी, इस प्रकार दोनों का अत्यन्त विरोध होने के कारण उत्सर्गापवादन्याय से बाध्यघातक भाव होना चाहिए, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ उत्सर्ग और अपवाद में विषयभेद हो जाने के कारण बाध्यघातक भाव प्राप्त नहीं होता। हिंसा-निषेध का विषय सामान्य है और हिंसा-विधि का विषय विशेष। समान विषय में ही विरोध हुआ करता है, विषयभेद हो जाने पर नहीं।

इस प्रकार सांख्य, योग, जैन आदि दार्शनिकों के द्वारा हिंसा का प्रबल प्रतिरोध देखकर उनके द्वारा आपादित उत्सर्गापवाद शास्त्रों की विषयविभिन्नता को मानकर सोमादि कर्म को अशुद्धि से बचाने का एक नवीन प्रयास वाचस्पति मिश्र ने किया था। कथित दोनों शास्त्रों की कथंचित् सम्पादित समानविषयता विरोधियों के समक्ष सुस्थिर नहीं हो सकती थी। अतः मार्गान्तर का अनुसरण आवश्यक था किन्तु इस तथ्य को ध्यान में न रखकर आचार्य शंकर के अन्धानुयायी वाचस्पति मिश्र को अपशब्दों से अलंकृत करते आए हैं जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जहाँ पर आचार्य शंकर से कुछ सान्तर सरणि अपनाई वहाँ पर उन्होंने विरोधियों के गम्भीर अभियोग से आचार्य शंकर के सिद्धान्तों को बचाने के लिए ही वैसा किया है।

सन्दर्भ

१. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 102
२. भामती, पृ० १६
३. वही, पृ० १८
४. वही, पृ० ३७

५. वही, पृ० ४८
६. वही, पृ० ७
७. वही, पृ० ४८८
८. वही, पृ० १८
९. वही, पृ० २६
१०. वही
११. वही, पृ० ३७
१२. वही, पृ० ४१
१३. वही, पृ० ४५
१४. वही, पृ० ६९
१५. वही, पृ० ७३
१६. वही
१७. वही
१८. पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण एवं तदनन्तर उसके निरस्तीकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शंकर कहते हैं—"ननु...स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं, किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण ? बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितंत्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषांचिन्मन्द-मतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञ-भाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते।

—शां० भा०, पृ० ४८७-८८, ब्र० सू० २।२।१

१९. भामती, पृ० ५२३—५५८
२०. वही, पृ० ५५९—५६४
२१. वही, पृ० ४६४
२२. वही, पृ० ३५

तुलनीय—"जाका गुरु भी आंधला, चेला खरा निरंग।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोन्यूं कूप पड़न्त॥" —कबीरदास

तथा—"अन्धे अन्धा मिलि चले, दादू बांधि कतार।
कूप पड़े हम देखतां, अन्धे अन्धा लार॥" —सन्त दादू

२३. भामती, पृ० ५०२
२४. वही, पृ० ५६८
२५. वही, पृ० ७४
२६. वही, पृ० १२—१४, ५४—६३, ६४—६९, १०५—१०६, ११३—११५, ११७—१२०, १३८—१४५, १४६—१४९, १६५—१६८, २०१—२०३, २२८—२३१, २३८—२४०, २८३—२८४, ३०१ इत्यादि
२७. वही, पृ० ७, ७४, १०५, १३६, ३२२, ३३५, ३६८, ४३३, ४३५, ८८०, ९३२ इत्यादि

२८. वही, पृ० ८, ३७, ४०, ७१, ९०, ९५, १०७, १२६, १२८, १३४, १३८, १४९, १५५, १६४, २११, ८८४ इत्यादि
२९. वही, पृ० ८, ५४ इत्यादि
३०. वही, पृ० १४६
३१. वही, पृ० २७
३२. वही, पृ० ७६, १२८, ३०४, ३३७, ६०४, ६८७
३३. न्या० क०, पृ० २, अण्णामलै संस्करण, १९०७
३४. भामती, पृ० ५
३५. शाबरभाष्य, जै० सू० १।१।१
३६. श्लोकवार्त्तिक, जै० सू० १।१।१, श्लो० सं० १२
३७. हेतुबिन्दुटीका, पृ० ३, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, १९४९
३८. शांकरभाष्य, ब्र० सू०, पृ० ७९
३९. जिन ग्रन्थों में वेद-शास्त्रों के संदिग्ध वाक्यों पर विशद विचार करते हुए कोई निर्णय दिया गया है, उन्हें अधिकरण ग्रन्थ कहते हैं। अधिकरण का अर्थ न्याय होता है जिसके ५ अंग माने जाते है—

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं संगतिश्चेत्यधिकरणं विदुः ॥"

अर्थात् किसी विवादास्पद विषय के सूचकवाक्य को विषयवाक्य कहते हैं। जैसे 'यह आत्मा विचारणीय है'—इस प्रकार के विषय के बोधक वाक्य को विषयवाक्य कहा गया है। दूसरा अंग संशय माना जाता है अर्थात् प्रस्तुत विषय पर विरुद्धकोटिस्पर्शी अनवधारण (संशय) प्रकट किया जाता है, यह आत्मा विचारणीय है अथवा नहीं। तीसरा अंग पूर्वपक्ष या वादी द्वारा प्रस्तुत वाद होता है। चौथा अंग उत्तरपक्ष का होता है। प्रयोजन या संगति पाँचवां अंग है। मध्यस्थ या न्यायाधीश किसी पक्ष में निर्णय देता हुआ उसके प्रभाव या प्रयोजन का भी निर्देश किया करता है। अधिकरण ग्रन्थों की इस न्यायविचारणा का विकसित रूप राष्ट्रीय न्यायपालिका की कार्यप्रणाली है। नैयायिकों ने इसी न्याय शब्द को अपनाकर उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन जैसे अपने पृथक् पचांग की सृष्टि की है, जिसका खण्डन करते हुए मीमांसकों व बौद्धों ने न्यायसम्मत पाँच अवयवों के स्थान पर तीन या दो ही अवयव पर्याप्त माने हैं। कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"पंचतमं केचित् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद् वोदाहरणादिकम् ॥" —श्लोकवार्त्तिक

४०. भास्करभाष्य, प्रारम्भिक श्लोक।
४१. बौद्धों ने मोक्षपद प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के बन्धनों या आवरणों का तोड़ना आवश्यक दिखाया है। उनके दो आवरण हैं—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण। अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेशावरण कहलाते हैं। विषयविकल्प की रहस्यानभिज्ञता ज्ञेयावरण है। शरीर में मानसिक और भौतिक सन्तानतत्त्व से परे किसी आत्मा की

सत्ता मानने के कारण क्लेशावरण उठ खड़े होते हैं। उनका उन्मूलन करने के लिए अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद परम आवश्यक है। अतएव बुद्ध ने 'सर्व अनत्ता अनत्ता' जैसे वाक्यों के साथ अपना धर्मचक्र प्रवर्तित किया था।

४२. वाक्यपदीयकार ने सम्भवत: ऐसे ही छिद्रान्वेषी पण्डितमन्य लोगों के लिए लिखा है—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥"

—वाक्यपदीय, १।३४, उद्धृत भामती, पृ० ४४८

४३. "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"

—पातंजलयोगसूत्र, २।५

४४. "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।"

न्या० सू० १।१।२

४५. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ —मुण्डक० २।२।८

४६. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते।

—छान्दो० ४।१४।३

४७. तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः। —शां० भा०, पृ० ४०

४८. अध्यासभाष्य, पृ० १७-१८

४९. "यस्य च दुष्टं करणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः…"

—शाबरभाष्य, १।१।५

५०. "अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा।"

— भामती, पृ० १८

५१. पंचपादिकाकार श्री पद्मपादाचार्य ने अर्थाध्यासपरक ही भाष्य की योजना की है— "तत्र 'परत्र' इत्युक्ते अर्थात् परस्य अवभास (स्य) मानता सिद्धा। तस्य विशेषणं स्मृतिरूपत्वम्। स्मर्यते इति स्मृतिः। असंज्ञायामपि अकर्तरि च कारके घञादीनां प्रयोगदर्शनात्। स्मर्यमाणरूपमिव रूपम् अस्य, न पुनः स्मर्यत एव। स्पष्टं पुरोऽवस्थितत्वावभासनात्। पूर्वदृष्टावभास इति उपपत्तिः स्मृतिरूपत्वे। न हि पूर्वम् अदृष्टरजतस्य शुक्तिसम्प्रयोगे रजतम् अवभासते। यतः अर्थात् तदविषयस्य अवभासस्यापि इदमेव लक्षणम् उक्तं भवति। कथम् ? तदुच्यते स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव। पूर्वप्रमाणविषयविशेषस्य तथा अनवभासकत्वात्। कथं पुनः स्मृतिरूपत्वम् ? पूर्वप्रमाणद्वारसमुत्थत्वात्। न हि असम्प्रयुक्तावभासिनः पूर्वप्रवृत्ततद्विषयप्रमाणद्वारसमुत्थत्वमन्तरेण समुद्भवः सम्भवति।"

—पंच०, पृ० ३९-४२, मद्रास संस्करण, १९५८

५२. "न च विषयस्य समस्तसामर्थ्यस्य……तस्मादसत्प्रकाशनशक्तिरेवास्याविद्येति—सांप्रतम्, यतो येयमसत्प्रकाशनशक्तिर्विज्ञानस्य किं पुनरस्याः सत्त्वं, असदिति चेत्,

किमेतत् कार्यमाहोस्विदस्या ज्ञाप्यम्…।" —भामती, पृ० २२, १।१।१

५३. "आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
परीक्षकाणां विभ्रान्तौ विवादात् सा विविच्यते॥"
—प्रारम्भिक श्लोक, विभ्रमविवेक, मद्रास, १९३२

५४. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७८-७९, चौखम्बा (हिन्दी) संस्करण, १९६४, भामती, पृ० २६

५५. वही, पृ० ६७-६८, संस्करण वही, भामती, पृ० २६

५६. "अन्यधर्मस्य=ज्ञानधर्मस्य रजतस्य। ज्ञानाकारस्येति यावत्। अध्यासः, अन्यत्र=बाह्ये। सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तु सत्, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। विज्ञानवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तु सत्, तथाप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यम्, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः।" —भामती, पृ० २६

५७. (क) विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्।
यद्वत् तैमिरिकस्यासत् केशोण्ड्रकादिदर्शनम्॥१॥
—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० १

(ख) न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्ति र्यदि नार्थतः॥२॥
देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः।
सन्ताननियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने॥३॥
—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० २ व ३

५८. "रूप्यमेतद्वदन्त्येके धीरूपं वासनामयम्" —इष्टसिद्धि, पृ० ४०

५९. असच्चकास्ति न व्योमकुसुमं न तथोत्थितम्।
अर्थः प्रकाशतेऽतो धीस्तदाकारेति केचन॥ —विभ्रमविवेक, पृ० १

६०. न्या० वा० ता०, पृ० ८२-८३

६१. भामती, पृ० २६, पं० ८—१४

६२ वही, पृ० २६-२७

६३. शां० भा०, पृ० १८—२७

६४. वाचस्पति ने न्या० वा० ता० टी० में पृ० ८९—९१, १।१।२।१ में अख्यातिपक्ष की आलोचना की है।

६५. भामती, पृ० २७-२८

६६. कल्पतरु, अध्यासभाष्य, पृ० २४

६७. "तेन सर्वेषामेव परीक्षकाणां मतेऽन्यस्यान्यधर्मकल्पनाऽनिर्वचनीयताऽवश्यंभाविनीत्यनिर्वचनीयता सर्वतन्त्राविरुद्धोऽर्थ इत्यर्थः" —भामती, पृ० ३४

६८. स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पते र्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टाऽस्येत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥ —कल्पतरु, पृ० २४

६९. वाचस्पति मिश्र ने 'भामती के आरम्भ में ही अविद्या को अनिर्वचनीय कहा है—
"अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य…" —भामती, पृ० १

७०. "मिथ्याज्ञानम्=अध्यासः" —वही, पृ० १६

७१. "तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते"

—शांकरभाष्य, पृ० ४०

७२. (क) "तदनेनान्तःकरणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदंरूपश्चेतनः कर्ता भोक्ता कार्यकारणाविद्याद्वयाधारोऽहंकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंभारभाजनं जीवात्मा इतरेतराध्यासोपादानः, तदुपादानश्चाध्यास इत्यनादित्वाद् बीजांकुरवन्नेतरेतराश्रयत्वमित्युक्तं भवति।" —भामती, पृ० ४५

(ख) "नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे" —वही, पृ० १२६

(ग) "···जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मणः" —वही, पृ० २३५

७३. कल्पतरु, पृ० ३८६, १।४।११

७४. संक्षेपशारीरक, १।३१६

७५. वही

७६. "प्रपंचविभ्रम ईश्वरोपादानः" —भामती, पृ० ३७८, १।४।३

७७. भामती, पृ० ३७८, १।४।३

७८. गरुड़ पुराण में भी कहा गया है—

"अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता।
सुखाभावे तथा सौख्यं मायाऽविद्याविनाशिनी॥"

७९. कल्पतरु, पृ० २२६, १।२।८

८०. शां० भा० ब्र० सू०, १।४।३

८१. "न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे, येनैवमुपालभ्येमहि, किंत्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्याऽपनीयते न जीवान्तरस्य"

—भामती, पृ० ३७७-७८, १।४।३

८२. "अविद्यात्वमात्रेण चैकत्वोपचारोऽव्यक्तमिति चाव्याकृतमिति"

—वही, पृ० ३७८

८३. Vācaspati Miśra on Advaita Vedānta, p. 207

८४. A History of Indian Philosophy, Vol. I, pp. 477-78

८५. भामती, १।४।३

८६. वेदान्तकल्पतरु, १।४।३

८७. वेदान्तपरिभाषा (आशुप्रबोधिनीव्याख्यासंवलिता), पृ० ६३-६४, रामायण यन्त्र, कलकत्ता, शकाब्द, १८१४

८८. श्रीवृत्तिप्रभाकर, पृ० ५०५-७, सस्ता साहित्य मुद्रणालय, अहमदाबाद, सन् १९५७

८९. "अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः एकजीववादाख्यः। अयमेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते।"

—सिद्धान्तबिन्दु, पृ० २३४, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सन् १९२८

९०. नारायणी, पृ० २३४, संस्करण उपर्युक्त।

९१. मनुस्मृति, १।५

विशेष—पवित्र बाइबल में लिखा है—

"And darkness was upon the face of the deep."

—Old Testament, Book I, Chapter I, p. 7. The Bible Meditation League Edition, Columbus, Ohio.

९२. "यद्यपि महाप्रलये नान्तःकरणादयः समुदाचरद्वृत्तयः सन्ति, तथापि स्वकारणेऽनिर्वाच्यायामविद्यायां लीनाः सूक्ष्मेण शक्तिरूपेण कर्मविक्षेपिकाऽविद्यावासनाभिः सहावतिष्ठन्त एव। तथा च स्मृतिः—'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥' इति। ते चावधिं प्राप्य परमेश्वरेच्छाप्रचोदिता यथा कूर्मदेहे निलीनान्यंगानि ततो निःसरन्ति, यथा वा वर्षापाये प्राप्तमृद्भावानि मण्डूकशरीराणि तद्वासनावासिततया घनासारावसेकसुहितानि पुनर्मण्डूकदेहभावमनुभवन्ति······" — भामती, पृ० ३३३-३४, १।३।३०

९३. कल्पतरु, पृ० ३३३, १।३।३०

९४. भामती, पृ० ६-१३

९५. सिद्धान्तलेशकार ने अपनी कृति में वाचस्पति मिश्र की इस विशेषता को स्थान दिया है। —द्र० सिद्धान्त० २१८, ६

९६. शा० भा०, पृ० १२६-३०, १।१।४

९७. भामती, पृ० १३०, १।१।४

९८. "यद्यप्याकाशाद्या भूतसृष्टिः, तथापि तेजोबन्नानामेव त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात्तत्र तेजसः प्राथम्यात्तेजः प्रथममुक्तम्।" —भामती, पृ० १६८

९९. वेदान्तकल्पतरु, पृ० १६८

१००. 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' —छान्दो० ६।३।३

१०१ तैत्ति० २।१

१०२. छान्दो० ६।३।३

१०३. भामती, पृ० १६८

१०४. छान्दो० ६।२।३

१०५. भामती, पृ० ४८१, २।१।३३

१०६. "अपि च नेयं पारमार्थिकी सृष्टिर्येनानुयुज्येत प्रयोजनम्, अपि त्वनाद्यविद्यानिबन्धना। अविद्या च स्वभावत एव कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपेक्षते···" इत्यादि पंक्तियाँ। —भामती, पृ० ४८२, २।१।३३

१०७. सांख्यकारिका, २१

१०८. वही, २०

१०९. कल्पतरु, पृ० ४८२, २।१।३३

११०. माया से जगत् किस प्रकार व्यक्त होता है, इस प्रसंग में वाचस्पति मिश्र ने 'ते चावधिं प्राप्य परमेश्वरेच्छा-प्रचोदिता यथा कूर्मदेहे निलीनान्यंगानि ततो निःसरन्ति,······तथा पूर्ववासनावशात् पूर्वसमाननामरूपाण्युत्पद्यन्ते' (भामती, १।३।३०)—ऐसा कहा है। 'परमेश्वरेच्छाप्रचोदिता' पद इस शंका को जन्म दे

सकता है कि एक ओर तो वाचस्पति मिश्र सृष्टि को ईश्वर की इच्छा से प्रेरित कहते हैं, इच्छा निष्प्रयोजन नहीं होती, और दूसरी ओर सृष्टि में ईश्वरप्रयोजनता का खण्डन भी करते हैं, यह उनके सिद्धान्त में अन्तर्विरोध क्यों? वस्तुत: यहाँ विरोध नहीं है। इच्छा शब्द का प्रयोग कभी-कभी अनिच्छाव्यावृत्ति= तटस्थता के अभिप्राय से भी किया जाता है, यथा—'ईश्वर की इच्छा से अमुक कार्य अमुक अवधि में पूर्ण कर लूंगा'। किसी व्यक्ति के कार्य के लिए ईश्वर क्यों इच्छा करेगा। यहाँ वक्ता का अभिप्राय है कि यदि ईश्वर तटस्थ रहा, कोई दैवी विरोध न हुआ तो......। सम्भवत: यहाँ वाचस्पति को यही अर्थ अभिप्रेत रहा होगा। 'परमेश्वरेच्छाप्रचोदिता:' का अर्थ, इस प्रकार किया जा सकता है कि परमेश्वर की तटस्थता से प्रेरित होकर। अपनी इस दृष्टि को वाचस्पति ने 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' 'वैषम्यनैर्घृण्ये न......' आदि सूत्रों की भामती में विस्तार से प्रस्तुत किया है। तटस्थता कैसे प्रेरित करती है, इसके उदाहरण लोक में अनेकत्र सुलभ हैं। यथा रेलवे प्लेटफार्म पर किसी का सामान रखा है। एक चोर आता है, सामान के पास खड़ा हो जाता है, चुराने की भावना से उसे छेड़ता है, पास में खड़े व्यक्तियों में से उसे कोई नहीं रोकता, सब तटस्थ रहते हैं, चोर को प्रेरणा मिलती है और सामान उठाकर चलता बनता है। इसी प्रकार किसी खेत के पास कोई व्यक्ति खड़ा है। एक गाय आती है, पहले हरे-भरे खेत को लिप्सा की दृष्टि से देखती है, फिर उस व्यक्ति की ओर। धीरे-धीरे आगे बढ़ती है, उस व्यक्ति की तटस्थता उसे प्रेरित करती है और वह खेत में घुसकर आनन्दपूर्वक फसल को खाने लगती है। इस प्रकार तटस्थता भी प्रेरित किया करती है।

१११. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक:।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
—गौडपादकारिका, माण्डूक्यो०, २।३२

११२. भामती, पृ० ६६-६८, १।१।३

११३. न्यायकणिका, पृ० २१५-१६

११४. 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु: स शृणोत्यकर्ण:।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥'
—श्वेता० ३।१६

११५. विधिविवेक, पृ० २२७

११६. ज्ञानश्रीनिबन्धावली, पृ० २४३

११७. न्या० कु० ५।१

११८. शक्तिग्रहण के उपायों की चर्चा इस प्रकार की गई है—
'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात् कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यसिद्धपदस्य वृद्धा: ॥'
—न्या० सि० मु० शब्द-खण्ड।

अर्थात् व्याकरण के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का व्यवहार, उनके अर्थों का ज्ञान होता है। 'गोसदृशो गवयः' जैसे उपमानवाक्यों के द्वारा गवय आदि पदों का शक्तिग्रह हुआ करता है। कोश से शब्दशक्ति का ज्ञान होता है, आप्त पुरुष के उपदेश से शब्दों का संगतिग्रहण होता है। लोकव्यवहार को देखकर भी शब्द का अर्थबोध होता है। प्रसिद्धार्थक पदों के समीप उच्चरित अप्रसिद्धार्थक पद का शक्तिग्रह प्रसिद्धार्थक पदों की सहायता से हो जाता है। कहीं पर वाक्य-शेष के द्वारा एवं विवरणप्रथाओं के आधार पर भी शब्दों की शक्ति का ज्ञान हो जाता है।

११९. गौ० सू० ११२६

१२०. शास्त्र की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

'कार्यबोधे यथा चेष्टा लिंगं हर्षादयस्तथा।
सिद्धबोधेऽर्थवत्वैवं शास्त्रत्वं हितशासनात्।।' —भामती, पृ० १३१

१२१. शां० भा०, पृ० ८८, १।१।२

१२२. तैत्ति० ३।१

१२३. न्या० कु० ५।१

१२४. भामती, पृ० ८८, १।१।२

१२५ 'जन्माद्यस्य यतः' ब्र० सू० १।१।२

१२६. मुण्डक० १।१।९

१२७. भामती, १।२।२१

१२८. कठ० २।२।९

१२९. ऋग्० ६।४७।१८

१३०. (अ) "तत्त्वमिति बिम्बस्थानीयब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते।" —पञ्च० विव०, पृ० १०८

(ब) "जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः सर्वेषां नः प्रत्यक्षश्चिद्रूपो नान्तःकरणजाड्येनास्कन्दितः। स चाहं कर्तृत्वमात्मनो रूपं मन्यते। न बिम्बकल्पब्रह्मैकरूपताम्। अतो युक्तस्तद्रूपावगमे मिथ्यापगमः।" —पञ्च० विव०, पृ० १११

१३१. भामती, पृ० ७

१३२. मुण्डक० २।२।८

१३३. कल्पतरु, पृ० ३७९, १।४।३

१३४. छान्दोग्य० ६।१।४

१३५. परिमल, पृ० १५५, १।१।४

१३६. "रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात् चिदात्मात्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति।" —भामती, पृ० ७-८

१३७. "आभास एवैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षाद्, नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं

कल्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः, एवं अव्यतिकर एव कर्मफलयोः, इति।"

—शां० भा०, पृ० ६२५-२६, ब्र० सू० २।३।५०

१३८. कल्पतरु, पृ० ६२३, २।३।४५

१३९. "निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पंच भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥"

—भामती मंगल, श्लोक संख्या २

१४०. कल्पतरु, पृ० ४

१४१. शांकरभाष्य, पृ० ७१०, ब्र० सू० ३।२।१६

१४२. "न तु सर्वगतस्य निरवयस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः कदाचिदप्युपपद्यते"

—शां० भा० बृहदा० १।४।७

१४३. शां० भा०, ३।२।१६

१४४. भामती, पृ० ७-८

१४५. Vācasdati Miśra on Advaita Vedānta, pp. 174—175

१४६. द्र० प्रकृत शोध प्रबन्ध का चतुर्थ उन्मेष

१४७. वही

१४८. (अ) पंच० विव०, प्रथम वर्णक, पृ० ३७, तृतीय वर्णक पृ० ५४३-४४, मद्रास गवर्नमेंट संस्करण, १९५८

(ब) पंच० विव०, पृ० ५४५-४६

१४९. मी० सू० १।१।१

* कर्तुरीप्सिततमं कर्म—अष्टाध्यायी, १।४।४९

१५०. बृहदा० ४।४।२२

१५१. भामती, पृ० ६१

१५२. बृहदा० २।४।५

१५३. शां० भा० १।१।१, पृ० ६२

१५४. "तस्माद् यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या"

—शां० भा०, पृ० ७५, १।१।१

१५५. परिमल, पृ० ६२, पंक्ति १—१०, ब्र० सू० १।१।१

१५६. भामती, पृ० ४६४, ब्र० सू० २।१।१५

१५७. चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्॥"

—सर्वदर्शनसंग्रह, १।६-७, पृ० १० चौखम्बा संस्करण, १९६४

१५८. श्लो० वा० श्लोक सं० ११४, पृ० ७२

१५९. सांख्यकारिका ९

१६०. तत्त्वसंग्रह (पंजिका, पृ० ३१, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८

१६१. भामती, पृ० ४६४, ब्र० सू० २।१।१५

१६२. वात्स्यायनभाष्य, न्या० सू० ३।१।२४, ३।२।२६
१६३. "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥" —भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १।१
१६४. (अ) पञ्च० विव०, पृ० ४०३—४०६, ४५२, मद्रास गवर्नमेंट संस्करण
(ब) शारीरकन्यायसंग्रह, सर्वापेक्षाधिकरण
१६५. मुण्डक० २।२।८
१६६. बृहदा० २।४।५
१६७ भामती, पृ० ५५—५७, ५८, ६३३
१६८. वेदान्तकल्पतरु, पृ० २१८, १।१।२८
१६९. "There is a tradition in Mahārāṣtra that Amalānanda was no other than Pārthasārathi Miśra, the author of Śāstradipikā in his earlier Āśrama. Many ślokas condensing the Pūrvapakṣa and Siddhānta views of the Mimāṅskas are identical in Śāstradipikā and Kalpataru and this shows the probability of such identity."
—Shri S. Subraniam Shastri, Preface,
Abhoga Madras Govt. Edition
१७०. "स्यादेतदेवम्, यद्यर्थावबोधफला अध्ययनक्रिया स्यात्। सा ह्यधीयमानावाप्तिफलत्वात् अक्षरग्रहणान्ता। अथाक्षरग्रहणं निष्प्रयोजनमिति न तत्र पर्यवसानं विधेः, भवतु तर्हि सक्तूनां गतिः। तदपि न, अक्षरेभ्यः प्रयोजनवदर्थावबोधदर्शनात्। न तर्हि निष्प्रयोजनान्यक्षराणि। अतः तत्पर्यन्तमध्ययनं न निष्फलम्। अतोऽक्षरग्रहणादेव नियोगसिद्धेः फलप्रयुक्त एवार्थावबोधः। अपि चाक्षरग्रहणान्तो विधिनिष्प्रयोजन इति न सर्वत्र प्रयोजनवदर्थावबोधपर्यन्तता कल्पयितुमपि शक्यते, तथावश्यं कल्पनीया अक्षरग्रहणान्तता···" इत्यादि पंक्तियाँ।
—पंच०, मद्रास गवर्नमेंट संस्करण, पृ० २२२-२३
१७१. भामती, पृ० ४५-४६
१७२. ब्र० सू० १।२।२६
१७३. वेदान्तकल्पतरु, पृ० २६४, ब्र० सू० १।२।२६
१७४. भामती, पृ० २६४, १।२।२६
१७५. शां० भा०, पृ० २६४, १।२।२६
१७६. वेदान्तकल्पतरु, पृ० २६५, १।२।२६
१७७. 'इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते'
—शां० भा० १।३।१७
१७८. वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है—
"अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्ति लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥" —तन्त्रवार्तिक, पृ० ३५४
१७९. भामती, पृ० २९८
१८०. कल्पतरु, पृ० ६४९, २।४।१९

१८१. पराशरोपपुराण, अध्याय १८
१८२. कल्पतरु, पृ० ६४६, २।४।१६
१८३. 'मन्त्रवर्ण' पद से प्रायः ऐसे मन्त्रों का उल्लेख किया जाता है जिनका प्रयोग कर्मानुष्ठान-काल में होता है एवं जो संहिताभाग में पाए जाते हैं। उनसे भिन्न वेद के वाक्यों को केवल मन्त्र, पद या श्रुति आदि पदों से निर्दिष्ट करने की परम्परा चली आती है।
१८४. कल्पतरु, पृ० १८१, १।१।१२
१८५. भामती, पृ० १८१-८२, १।१।१५
१८६. शां० भा०, पृ० ४६३, २।१।१५
१८७. उद्धृत भामती, पृ० ११८, १।१।४
१८८. "कारणस्य भावः सत्ता चोपलम्भश्च तस्मिन् कार्यस्योपलब्धेर्भावाच्च। एतदुक्तं भवति—विषयपदं विषयविषयिपरं, विषयिपदमपि विषयिविषयपरं तेन कारणोपलम्भभावयोरुपादेयोपलम्भभावादिति सूत्रार्थः सम्पद्यते।"

—भामती, पृ० ४६३, २।१।१५

१८९. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यवार्त्तिक, भा० ३, पृ० ४६४, २।१।१५

—कलकत्ता संस्कृत सीरीज, संस्करण, १९४१

१९०. (अ) तर्कभाषाकार ने परमाणु की परिभाषा इस प्रकार की है "यदिदं जालं सूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तद्···द्व्यणुकाश्रयं द्रव्यं··· यस्तु द्व्यणुकारम्भकः स एव परमाणुः। स चानारब्ध एव।"

—तर्कभाषा, पृ० १८३, चौखम्बा संस्करण, १९६३

(ब) मनु ने त्रसरेणु का लक्षण इस प्रकार किया है—

'जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥

—मनु० ८।१३२, चौखम्बा संस्करण, १९६५

१९१. "केवलागमगम्येऽर्थे स्वतन्त्रतर्कविषये न···तर्कः प्रवर्तनीयः···। शुष्कतर्को हि स भवत्यप्रतिष्ठानात्।
तदुक्तम्—'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥' इति।

—भामती, पृ० ४४८, २।१।११

१९२. काठ० १।२।६
१९३. मुण्डक० २।२।१०
१९४. कुमारिल भट्ट ने प्रबलप्रमाणसमर्थित दुर्बल प्रमाण को भी पर्याप्त बलशाली माना है। उन्होंने कहा है—

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः॥

—तन्त्रवार्तिक, पृ० ८४१, आनन्दाश्रम, पूना, १९४९

१९५ कल्पतरु, पृ० ६४९, २।४।१९
१९६. वही, पृ० ८१९, ३।३।३३
१९७. निवृत्तिप्रकारस्तु—'प्रतिषेधा अनात्मानोऽध्यात्मलक्षणता मता:।
आत्मप्रमितिसिद्ध्यर्थं यथारज्ज्वहिभुजस्थले।।'
—कल्पतरु, पृ० ८१९, ३।३।३३
१९८. भामती, पृ० ८१९, ३।३।३३
१९९. वही, पृ० ८२०
२००. "यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु परोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेहोत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति। अध्वर्युकर्तृत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम्। एवमिहापि······।"
—शांकरभाष्य, पृ० ८२०, ३।३।३३
२०१. शां० भा०, २।४।९
२०२. भामती, २।४।९
२०३. शां० भा०, ३।३।९
२०४. भामती, ३।३।९
२०५. शां० भा० ४।२।४-५
२०६. भामती, ४।२।४-५
२०७. छान्दोग्य० ५।१०।५
२०८. शां० भा०, पृ० ६७८, ३।१।२३
२०९. वही
२१०. भामती, पृ० ६७८, ३।१।२२
२११. वही, पृ० ६७९, ३।१।२३
२१२. 'अध्याहारोऽश्रुताक्षेप:' इस कोश के अनुसार सूत्रों में अश्रुत पद के प्रक्षेप का नाम अध्याहार होता है। अध्याहार की प्रथा यद्यपि श्रेष्ठ नहीं समझी जाती, अध्याहार के बिना शबरस्वामी ने अपने सूत्रकार जैमिनि महर्षि की प्रशंसा करते हुए कहा है—"लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तान्येव सति संभवे। सूत्रेष्ववगन्तव्यानि अतो न अध्याहारादिभि: कल्पनीय एषामर्थ:।" अर्थात् हमारे महर्षि जैमिनि ने लोकप्रसिद्ध पदगुम्फन के द्वारा ऐसे सूत्रवाक्यों का निर्माण किया है जिनमें अध्याहार, व्यत्यास, विपरिणाम आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल सूत्रग्रथित अपने पदों के द्वारा ही प्राय: पूर्वविवक्षित अर्थ का लाभ हो जाता है, तथापि यह सुकरता और सुलभता वहीं तक है जहाँ तक सम्भव हो। इसीलिए शबरस्वामी ने 'सति सम्भवे' कहा। सम्भव न होने पर अध्याहार आदि करना ही पड़ता है। स्वयं शबरस्वामी एवं उनके पूर्ववर्ती वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष को अध्याहार के द्वारा सूत्रार्थ करने पड़े हैं, जैसे 'तस्य निमित्तपरीष्टि:' (जै० सू० १।१।३)—इस सूत्र में 'न कार्या' पद का अध्याहार करके अर्थ करना पड़ा है कि धर्म के गमक प्रमाण की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

२१३. सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

"रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः" —सां० का० २८

अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार रूपादि विषयों की सामान्य आलोचना या ज्ञान को उत्पन्न करना है। उस ज्ञान के विषय में 'अहन्ता' आदि विशेष भावों का योग अन्तःकरण के द्वारा होता है।

२१४. भामती ६४६, २।४।१६

२१५. कथित पुनरुक्ति का उद्भावन करने के ही कारण कल्पतरुकार ने भामती व्याख्या को भाष्य का वार्त्तिक मानने में गर्व का अनुभव किया है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

२१६. कल्पतरु, पृ० ६४८-४९, २।४।१८-१९

२१७. परिमल, पृ० ६४९, २।४।१९

२१८. शां० भा०, पृ० ६८५, ३।१।२५

२१९. कल्पतरु, पृ० ६८३-८४, ३।१।२५

२२०. भामती ६८४, ३।१।२५

२२१. शां० भा०, पृ० ६८५, पंक्ति १ से ३, ब्र० सू० ३।१।२५

२२२. भामती, ३।१।२५

२२३. वही

२२४. कल्पतरु परिमल, पृ० ६८४, ३।१।२५

२२५. सां० का० २

२२६. सांख्यप्रवचनभाष्य, १।६, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९६६

२२७. "तस्माद् यास्याम्यहं तात दृष्ट्वेमं दुःखसन्निधिम्।
त्रयीधर्ममधर्माढ्यं किं पापफलसन्निभम्।।"

—मार्कण्डेय पुराण, १०।३२

२२८. सांख्यतत्त्वकौ०, कारिका २

२२९. यो० सू०, साधनपाद, ३१

२३०. मनु०, ४।२२

२३१. श्रीमद्भागवतम्, १।८।५२

२३२. अन्ययोग०, ११

२३३. "अथ योऽयं न हिंस्यात् सर्वा भूतानि इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः। सामान्यतो विधिरित्यर्थः। ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वान्न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयानिति न्यायात्। भवतामपि हि न खल्वैकान्तेन हिंसा-निषेधः। तत्तत्कारणजाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात्। ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च। अपवादं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टालम्बनत्वाद् इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह। नोत्सृष्टमित्यादि।"

—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ७०, बम्बई संस्करण, १९३३

२३४. युक्तिदीपिका, पृ० १८, कारिका २, कलकत्ता संस्करण, १९३८

४

आलोचन-भंगिमा

(अ) 'भामती' के आलोच्य मतवाद

जिस प्रकार एक कुशल माली अपने उपवन में पूर्वारोपित द्रुम के संरक्षण तथा नवीन बाल-पादप के निर्बाध संवर्धन के लिए अनावश्यक व क्षतिकारक घास-फूस को उखाड़ बाहर करता है—क्योंकि वह जानता है कि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसके प्रिय उपवन का सौंदर्य तो विकृत होगा ही होगा, साथ ही साथ उसके वत्सल द्रुमों को वे अनावश्यक झाड़ियाँ चारों ओर से आच्छादित कर क्रमशः निष्प्राण कर देंगी, इसी प्रकार किसी एक विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय में आस्था रखने वाला कुशल मनीषी उस सम्प्रदाय विशेष के पूर्वागत सिद्धान्तों की रक्षा तथा अपने द्वारा प्रदत्त मान्यताओं के अबाध सम्पोषण के लिए अन्य सम्प्रदायों के द्वारा किये गये आक्षेपों तथा विपरीत स्थापनाओं का उन्मूलन करना अनिवार्य समझता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र की इस कुशलता के दर्शन हमें 'भामती' में स्थान-स्थान पर होते हैं। अद्वैतवेदान्त के सुरम्य उपवन को उन्होंने अत्यन्त सावधानतापूर्वक संरक्षण प्रदान किया है तथा इसके लिए वैदिक एवं अवैदिक—दोनों सम्प्रदायों के विरोधी वक्तव्यों का आमूलोच्छेदन किया है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग और मीमांसा—इन वेदान्तेतर सम्प्रदायों को तो उन्होंने अपने आलोचन-शर का लक्ष्य बनाया ही, अपने (वेदान्त) खेमे के एक बेसुरे आलाप, आचार्य भास्कर के आक्षेप-संकीर्तन को भी उन्होंने मौनावलम्बन के लिए बाध्य कर दिया।

यहाँ आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा उक्त दिशा में की गई गतिविधियों का एक संक्षिप्त-विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

(१) लौकायतिकमत-समीक्षा

परिदृश्यमान जगत् का तात्त्विक विवेचन, भले ही किसी भी दृष्टिकोण से किया गया हो, दर्शनशास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य विषय रहा है। एक जिज्ञासु दार्शनिक यदि वह अपने अध्ययन, अन्वेषण में सत्यनिष्ठ, धैर्यशील, जागरूक एवं वस्तुस्थिति-ग्रहण में समर्थ है तो क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम तत्त्व की ओर बढ़ता ही है, उसकी दृष्टि प्रपंच के बाह्य कलेवर पर ही न अटक कर, स्थूल आवरण को

भेद कर वास्तविकता के दर्शन करना चाहती है।[१] किन्तु इस दिशा में वह वहीं तक बढ़ पाता है जहाँ तक कि उसकी विचार-शक्ति उसका साथ देती है; और यह एक मनोरंजक तथ्य है कि उस सीमा तक प्राप्त निष्कर्ष को ही वह अन्तिम, सूक्ष्मतम एवं परमतत्त्व घोषित कर देता है, उससे आगे बढ़ने को वह तैयार नहीं होता। अभिप्राय यह है कि दृश्यमान व प्रस्तुत वस्तु के विषय में जिज्ञासा प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को होती[२] है तथा उस जिज्ञासा के समाधान की सूक्ष्मता या स्थूलता उस व्यक्ति की विचार-शक्ति पर निर्भर करती है। यह भी एक कारण है कि जगत् की वास्तविकता के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विचार परस्पर भिन्न हैं और कहीं-कहीं तो परस्पर-विरोधी भी हैं। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १।१६४।४६)—यह मधुर गीतिका भी इस वैभिन्य या विरोध को सुषुप्ति प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि यहाँ कथन-पद्धतियाँ 'बहु' नहीं हैं, द्रष्टाओं के 'सत्' ही 'एक' न होकर 'बहु' हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में जब हम भारतीय दर्शन के पृष्ठों को उलटते हैं तो हमें प्रपंच की अनेकस्तरीय तथाकथित वास्तविकता के दर्शन होते हैं। इनमें सर्वाधिक स्थूल स्तर लौकायतिक या लोकायत[३] मत का है। इसी का अपर नाम चार्वाक[४] मत भी है। यह एक अत्यन्त ही स्थूलबुद्धि-वर्ग का दर्शन है। जो सामने दिखाई देता है, वही एक मात्र सत् है, उससे परे विचारने की आवश्यकता नहीं, अतः देहातिरिक्त आत्मा या परमात्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है,[५] पुनर्जन्म नाम की कोई वस्तु नहीं है,[६] वेदादि शास्त्र वंचकों के प्रलाप हैं,[७] और जिस प्रमाण के आधार पर हम सत्य का दर्शन करते हैं, वह भी एकमात्र प्रमाण, प्रत्यक्ष ही है।[८]

किन्तु इस रीति से किया गया प्रपंच का सतही 'तात्त्विक' विवेचन अपना समस्त जीवन दार्शनिक-शंका-समाधान को अर्पित करने वाले ज्ञानवृद्ध आचार्य वाचस्पति को संगत व रुचिकर प्रतीत न हुआ। अतः उन्होंने अवसर मिलते ही लोकायत मत की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना प्रारम्भ कर दिया। वैसे तो उन्होंने इस मत की आलोचना प्रायः अपने सभी निबन्धों में की है[९] किन्तु 'भामती' में सूत्रकार और भास्कर का बल पाकर विशेष रूप से लौकायतिक मत का निराकरण किया है। आत्मा नाम की वस्तु है और शरीरादि से उसका व्यतिरेक सिद्ध होता है, व्यवस्थित रूप से इस तथ्य की सिद्धि करने के लिए जिन प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणों के आधार पर आत्मा के चैतन्य का दृढ़ समर्थन किया जाता है, उन प्रमाणों की प्रामाणिकता की भूमि को सुदृढ़ बनाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने भाष्य की पातनिका में चार्वाक को यह मानने के लिए बाध्य कर दिया है कि प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमानादि प्रमाण भी उसे मानने पड़ेंगे, नहीं तो व्यवहार नहीं चल सकता। मनुष्य क्या, पशुओं का भी व्यवहार अनुमानादि पर आश्रित होता है, भले ही वह अनुमानादि की परिभाषा से अभिज्ञ न हो। हरी-हरी घास हाथ में लिए अपनी ओर बढ़ते हुए व्यक्ति की ओर गौ भाग कर आ जाती है और हाथ में डण्डा लिए, क्रोधाविष्ट, बड़बड़ाते हुए नौकर को देखकर उससे दूर भाग जाती है। क्यों ऐसा होता है ? लौकायतिक यदि गम्भीरता से सोचे तो उसे ज्ञात हो जायगा कि गौ ने अनुमान से पूरा काम लिया है। उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति देखकर सामान्य व्यक्ति

भी यह समझ सकता है कि उसे इष्टानिष्टसाधनता का पूर्णतया ज्ञान अनुमान के बल पर हो जाता है। चार्वाक किसी अनभिज्ञ संशयालु प्रतिपक्षी को अपना तात्त्विक वक्तव्य देकर उसे अपना सिद्धान्त मनवाने के लिए बाध्य करना चाहता है। अतः उसे भली प्रकार यह निश्चय है कि हमारा वक्तव्य प्रतिपक्षी के अज्ञान और संशय को दूर करने में सक्षम है। प्रतिपक्षी के हृदयतल पर निहित संशय और अज्ञान का प्रत्यक्ष चावार्क नहीं कर सकता, उसका ज्ञान उसे कैसे हुआ ? कहना होगा—अनुमान या अर्थापत्ति के द्वारा। अनुमान और अर्थापत्ति यदि प्रमाण नहीं तब उनके आधार पर किसी प्रकार के निर्णय तक नहीं पहुंचा जा सकता। अतः प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

देहातिरिक्त आत्मा नहीं है, इस लौकायतिक मान्यता का खण्डन करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं" कि चैतन्य, इच्छा, द्वेष आदि विशेष गुणों द्वारा आत्मा का अनुमान एवं आध्यात्मिक उपदेशवाक्यों के द्वारा आत्मा का प्रमाबोध अवश्य मानना होगा। चैतन्य आदि धर्म पृथ्वी आदि चार भूतों के या भौतिक कलेवर के हैं– यह कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि शरीर के धर्म गौरता आदि तब तक रहेंगे जब तक शरीर की सत्ता है, किन्तु मृतावस्था में शरीर के रहने पर भी चैतन्यादि धर्म उसमें नहीं रहते। अतः वे शरीर के गुण कैसे हो सकते हैं ? फलतः शरीरगुणों से वैधर्म्य उपलब्ध होने के कारण सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है कि चैतन्य आदि शरीर के धर्म न होकर अन्य किसी के धर्म हैं। जैसे घट के रहने पर भी घट का नीलरूप उसे छोड़ देता है, इसी प्रकार शरीर के रहने पर भी उसका चैतन्य गुण उसे छोड़ सकता है—यह नहीं कह सकते क्योंकि घट के पार्थिव होने से पाकज प्रक्रिया के कारण घटसत्ताकाल में नीलगुण के न रहने पर भी शरीर में इस प्रक्रिया का प्रभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि चैतन्य पाकज गुण नहीं है। चार्वाक तर्क प्रस्तुत करता है कि शरीर केवल पृथ्वी का कार्य नहीं अपितु पृथ्वी आदि चार भूतों का कार्य है और चैतन्य उनकी सम्मिलित प्रक्रिया का फल है, जैसे मदशक्ति कुछ द्रव्यों के सम्मिश्रण का फल है[11]। यह तथ्य सुनिश्चित है कि कुछ द्रव्यों के सम्मिश्रण से मादकता समुद्भूत हो जाती है किन्तु मादकता उस तत्त्व के प्रत्येक अंश में पायी जाती है। इस प्रकार यदि शरीर में चैतन्य का संचार माना जाय तो शरीर के प्रत्येक अवयव में चैतन्य की सत्ता माननी होगी। प्रत्येक अवयव में चैतन्य की सत्ता माननी होगी। प्रत्येक अवयव को चेतन मानने पर एक शरीर में अनेक चेतनों के होने से उन अनेक चेतनों की एकवाक्यता नहीं होगी, अतः यदि एक चेतन शरीर को सक्रिय बनाना चाहता है तो हो सकता है दूसरा चेतन उसी समय उसे (शरीर को) निष्क्रिय बनाना चाहे, एक चेतन उसे पूर्व दिशा की ओर संचालित करना चाहता है तो दूसरा उसे पश्चिम या अन्य किसी दिशा की ओर ले जाना चाहे, ऐसी दशा में उस शरीर की स्थिति क्या होगी, क्या वह किसी भी कार्य को करने में समर्थ हो सकेगा ? यह तथ्य भी वास्तविक है कि अनेक शिल्पियों के द्वारा एक भवन का निर्माण, वादक, गायक, नर्तक आदि अनेक व्यक्तियों के मण्डल के द्वारा एक रसात्मक गीत वस्तु का आविष्कार एवं अनेक पिपीलिकाओं के द्वारा एक निश्चित

दिशा में अपने स्वार्थ का संवहन देखकर अनेक चेतनों की एकवाक्यता में सन्देह प्रकट नहीं किया जा सकता तथापि उन अनेक चेतनों में एकरूपता की प्रवृत्ति लाने वाला कौन है? इस तथ्य की यदि गवेषणा की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वह तत्त्व वही है जिसे दूसरों की प्रवृत्ति, दूसरों की समीहा, दूसरों के ध्येय का भली प्रकार ज्ञान है और उसके अनुसार अपने को ढालने की क्षमता है। यह क्षमता जडमात्र निस्तत्त्व पाषाणखण्डों में, सूखी लकड़ियों में नहीं पायी जाती। अतः शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण से अतिरिक्त वह एक चैतन्य तत्त्व अवश्य मानना होगा जो कि इनमें से किसी का धर्म नहीं, गुण नहीं, वह एक स्वतन्त्र अधिष्ठान है जिसके विशाल वक्षःस्थल पर विश्व का विस्तृत स्थावर-जंगम जगत् अपने-अपने व्यवहार में संलग्न है। वह सर्वाधिष्ठान चेतन पुरुषतत्त्व है, तैर्थिकों ने उसे जीव, आत्मा, पुरुष, पुद्गल आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया है।

(२) बौद्धमत-समीक्षा

अवैदिक दर्शन सम्प्रदायों में सबसे अधिक सशक्त स्थिति बौद्धमत की है। इसकी दुर्धर्ष शक्ति का इसी बात से अनुमान किया जा सकता है कि यह एकाकी ही विगत दो हजार वर्ष से भी अधिक समय से वैदिक मतावलम्बियों को नाकों चने चबाता चला आ रहा है। वैदिक आचार्यों में यद्यपि परस्पर भी छुटपुट झड़पें होती ही रहती थीं किन्तु उन सबके प्रबल प्रहारों का केन्द्रबिन्दु बौद्ध दर्शन ही रहा है। शबर स्वामी, कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर जैसे प्रबुद्ध मीमांसकों ने बौद्धों पर कस-कस कर प्रहार किए। अष्टम शताब्दी तक के न्यायाचार्यों में उद्योतकर ने उन्हें (बौद्धों को) दबाने का पूर्ण प्रयास किया किन्तु उन्हें स्वयं ही लेने के देने पड़ गए और इतिहास साक्षी है कि उनकी जरती गौओं को बचाने के लिए वाचस्पति मिश्र को परिश्रम करना पड़ा।

इधर अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य से पूर्व कोई ऐसा प्रबल व्यक्तित्व आविर्भूत नहीं हुआ था जो तथागतमतावलम्बियों को चुनौती दे सके।[१२] शंकर तक आते-आते अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, चन्द्रकीर्ति, धर्मपाल, ईश्वरसेन, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्धमतानुयायी अपने सम्प्रदाय को अत्यन्त सुदृढ़ एवं सबल स्थिति प्रदान कर चुके थे। फिर भी आचार्य शंकर ने यथावसर उसके निरास में कोई कसर उठा न रखी—'सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः।'[१३] जी भर कर कोसने के पश्चात् भी चलते-चलते भी उसे बुरा-भला कह गये—'किं बहुना? सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते, तथा तथा सिकताकूपवद् विदीर्यत एव। न काञ्चिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः। अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।'[१४]

किन्तु दो संयोग ऐसे थे जिन्हें आने वाले आचार्य उपेक्षित न कर सके। प्रथम

संयोग यह था कि बौद्धों का एक शिविर विज्ञानाद्वैतवादी था और शंकर ब्रह्माद्वैतवादी थे। द्वितीय संयोग यह था कि शून्यवादियों ने शून्य को ऐसा तत्त्व माना था जो चतुष्कोटि—(सत्, असत्, सदसत्, न सन्नासत्)—विलक्षण, अनिर्वचनीय है—

न सन्नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥[१४]

इधर शंकराचार्य ने भी ब्रह्म की शक्ति माया को कोटित्रयशून्य अर्थात् सत्, असत् व सद-सत् तीनों की सीमा से बाहर, अनिर्वचनीय कहा है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो ।[१५]

इन्हीं दो बातों के कारण आचार्य शंकर को कुछ आचार्यों ने संशय की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया और कहना आरम्भ कर दिया कि यह तो वेदान्तियों के परिधान में कोई बौद्ध आ घुसा है तथा इस प्रकार शंकर को बौद्धमतावलम्बिता के आक्षेप से लाद दिया गया।[१६]

अतः शंकर के अनुयायियों, विशेषकर शांकरभाष्य के व्याख्याकारों का यह नैतिक कर्त्तव्य हो गया था कि अपने आचार्य को उक्त घोर कलंक से बचाएँ; ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक था कि शंकर के व्यक्तित्व के साथ-साथ अद्वैतवेदान्तसम्प्रदाय को भी वैदिक आचार्यों की मण्डली में सशंक, उपेक्षापूर्ण एवं हीन दृष्टि से देखे जाने का डर था। इस-लिए वाचस्पति मिश्र ने बौद्धों के उन्मूलन में अपनी अनुभवी प्रतिभा को विनियोजित कर दिया। वैसे आचार्य वाचस्पति अपने इस बौद्धविरोधी अभियान को 'भामती' की रचना से पूर्व ही प्रारम्भ कर चुके थे,[१७] किन्तु 'भामती' में अपनी सम्पूर्ण शक्ति से बौद्धों पर आक्रमण कर दिया, तभी तो अपने आचार्य एवं मान्य सम्प्रदाय की वैदिकता की वे रक्षा कर सकते थे। वाचस्पतिकृत बौद्धमत-समीक्षा के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

योगाचार एवं द्वैत मत की आलोचना

द्वैतवादियों ने प्रतीयमान प्रपंच को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रतीयमान होने के कारण सत् व वास्तविक सिद्ध हो रहे हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के मध्य की खाई गहरी होती देखकर वेदान्तियों ने यह कहना आरम्भ किया कि शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्प जैसे पदार्थ भी प्रतीयमान हैं किन्तु सत्य नहीं,[१८] अतः प्रतीयमानत्वमात्र वस्तुसत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं। ऐसे अवसर पर वेदान्तियों ने योगाचार की तर्क-प्रणाली से काम लेना आरम्भ किया और लंकावतार-सूत्र की विज्ञप्तिमात्र के साधक अंकुरों को पल्लवित करना आरम्भ किया। इस प्रकार द्वैतवादी तो परास्त हो गये किन्तु वेदान्त के महारथी एक अवांछनीय दिशा की ओर अग्रसर हो गये। योगाचारभूमि पर अद्वैतवेदान्त के बढ़ते चरण देखकर वाचस्पति मिश्र को चिन्ता हुई और उन्होंने मार्गावरोध खड़ा कर दिया तथा ब्रह्माद्वैत और विज्ञानाद्वैत

की सीमाओं का विश्लेषण आरम्भ कर दिया। उस समय के लिए यह एक परमावश्यक आदर्श प्रक्रिया थी। इसके लिए कतिपय अद्वैतवादियों ने भी वाचस्पति मिश्र को कुछ भला-बुरा कह डाला किन्तु उसकी चिन्ता किये बिना उन्होंने विज्ञानाद्वैतवादियों का उन्मूलन आरम्भ कर दिया।

विज्ञान से बाहर वस्तु की कोई सत्ता नहीं, वह असत् मात्र है—इस सिद्धान्त को ही 'आत्मख्याति' नाम से अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त का निराकरण अख्यातिवादी ने किया।[२] आत्मख्यातिवादियों के वक्तव्य पर प्रश्न उठाया गया कि ग्राह्य जगत् यदि अत्यन्त असत् है, तब उसका भान कैसे होता है और उसका भासक कौन है? उत्तर मिला कि विज्ञानक्षण ही उसका भासक है। इस पर प्रश्न किया गया—विज्ञान और उसके विषय का ग्राह्य-ग्राहक-भाव-नियम कैसे हुआ? असद्ग्राह्य के साथ ग्राहक का कार्यकारण-भाव या तादात्म्य सम्बन्ध होना चाहिए। किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर ग्राहक-ग्राह्य का निरूपण कैसे होगा? योगाचार-भूमि से आवाज आयी कि किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं फिर भी विज्ञान स्वभावतः उस विषय का भासक होता है और यह स्वभाव उसे अपने पूर्व समानान्तरप्रत्यय (विज्ञान) क्षण से प्राप्त होता है।[३]

वाचस्पति मिश्र ने आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में प्रश्नों की झड़ी लगा दी—ग्राह्य असत् है? उसकी असत्ता में क्या प्रमाण? और उसके साथ बिना किसी सम्बन्ध के ज्ञान उसका भासक कैसे हो गया? विचित्र है यह विज्ञानक्षण की पक्षपातिता। समानान्तर प्रत्यय-परम्परा को यह स्वभाव विषय-कल्पना के पूर्व कहाँ से प्राप्त हुआ? मौनावलम्बन के अतिरिक्त अब ग्राह्यासद्वादी के लिए कोई चारा न रहा। जीता-जागता विश्व असत् के गर्भ में जाने से बच गया। वाचस्पति मिश्र ने सुदृढ़रूप में यह ध्वनित कर दिया कि योगाचारसम्प्रदाय का विज्ञान क्षणिक है, ग्राह्य आकार आकारी (साकार) है, नित्य ग्राह्यसापेक्ष है। अन्तःकरण के चित्क्षणों को छोड़कर विज्ञानक्षण और कुछ भी नहीं। हमारा ब्रह्म नित्य, निराकार, कूटस्थ, तत्त्व, ग्राह्यनिरपेक्ष, स्वतन्त्र, सच्चिदानन्दस्वरूप, एकमात्र तत्त्व है। इस प्रकार ब्रह्माद्वैत की सीमा से बहुत दूर विज्ञानाद्वैत जा पड़ा। विज्ञानाद्वैतवादिता की पूतिगन्ध से रहित, प्रच्छन्नबौद्धरूपता के कलंक से असंस्पृष्ट ब्रह्माद्वैतवाद अपने नैसर्गिक वर्चस्व को सुरक्षित रख सका।

इधर द्वैतवाद की विभीषिका से भी बचना था। अतः मध्यम मार्ग की गवेषणा की गई, बौद्धों की मध्यमप्रतिपत् नहीं, जैसा कि साधारण द्वैतजगत् इसके लिए संशयालु है कि विज्ञानवादियों से दूर हो जाने पर भी माध्यमिक शून्यवाद का राजपथ ब्रह्माद्वैत-वादियों का चंक्रमणपथ बन गया था। किन्तु द्वैतवादियों का यह केवल भ्रममात्र है क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने मरुमरीचिनिचय जैसे विपरीत प्रत्यय-प्रवाह को असन्मूलता से बचाकर सन्मूलता प्रदान की किन्तु उसका विषय बाधित होने के कारण एवं सर्वबाधा-वधि अधिष्ठान तत्त्व की सत्यता और स्थिरता दिखाकर द्वैतवाद एवं शून्यवाद के प्रभाव-क्षेत्र पर विचरण करता हुआ भी ब्रह्माद्वैतवाद वैसे ही शीघ्रता से अत्यन्त दूर निकल गया जैसे कि शत्रुसेना से घोर संग्राम करता हुआ विक्रान्त योद्धा एक क्षण में शत्रुभूमि को लाँघ कर अपने साम्राज्य में विजय वैजयन्ती फहरा रहा हो।

शून्यवाद समीक्षा

माध्यमिक बौद्ध के शून्यवादपक्ष का निराकरण भाष्यकार ने यह कहकर उपेक्षित कर दिया है कि शून्यवादपक्ष किसी भी प्रमाण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अतः बिना प्रयास के ही उसका खण्डन हो जाता है, तब उसके निराकरण में किसी प्रकार के योगदान की आवश्यकता नहीं।[२२] शून्यवाद क्या है? वह सर्वप्रमाण-प्रतिषिद्ध कैसे है? बिना प्रयास के उसका निरास क्योंकर होगा? इस प्रकार के सभी प्रश्नों का विशद विवेचन वाचस्पति मिश्र ने करते हुए लंकावतारसूत्र-सूचित[२३] शून्यवाद का वही स्वरूप स्थिर किया है जिसके लिए आजकल के प्रायः पाश्चात्य गवेषक आचार्य शंकर पर आरोप लगाया करते है कि शून्य का अर्थ वे नहीं जानते थे। किन्तु उन्हें वाचस्पति के द्वारा प्रस्तावित मूल-माध्यमिक भाषा में ही शून्यवाद का स्वरूप देखना चाहिए। शून्यवाद प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति—इस चतुर्वर्ग का विद्रोही ही नहीं, किसी प्रमाण को सहन भी नहीं करता। मल्लिषेण ने शून्यवाद के अघटित स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है कि बिना प्रमाणों के शून्यवाद की सिद्धि कैसे होगी? प्रामाणिक मर्यादा के बाहर कुछ कहना कब तक अपना या अपने विषय का स्वरूप बनाये रख सकता है?[२४]

शून्यवाद के स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रमाणवार्त्तिक में कहा गया है—

'इदं वस्तु बलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः।
यथा-यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥[२५]

शब्द-सामर्थ्य के समान वस्तु का भी एक निश्चित सामर्थ्य होता है, स्वभाव होता है, स्वरूप होता है—इस धारणा के विरुद्ध शून्यवाद का अत्यन्त विद्रोहात्मक पक्ष है। उसका कहना है कि किसी भी वस्तु का स्वरूप सत् या असत् की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि सत् मानने से उसका बाध या अन्यथाभाव सम्भव नहीं और असत् मानने से किसी प्रकार की कार्यक्षमता नहीं रहती। वादिगुणों के द्वारा स्थापित प्रमाणप्रक्रिया से सत् या असत् ही स्वरूप बताया जा सकता है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने न्यायभाष्यकार के शब्दों में कहा है—**सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते।**[२६]

अर्थात् सत् की सत्ता और असत् की असत्ता ही वस्तु का स्वरूप माना जाता है जिसे प्रमाणों के द्वारा व्यवस्थापित करते हैं। इसी का नाम विचारासहत्व है। किन्तु किसी वस्तु के वास्तविक स्वभाव को जानने के लिए वस्तुस्वभाव को जब परखा जाता है तब वह सर्वथा विचारासहत्व ही ठहरता है। पदार्थों की गहराई में जितना ही अधिक उतरा जाय, उसका वह रूप सर्वोपाख्या से दूर होता है। यही अनुपाख्यरूपता या विचारासहनीयता शून्य तत्त्व है, यही तथता है, यही सर्व वस्तुओं का मौलिक स्वरूप माना जाता है।

वाचस्पति मिश्र के कथन का आशय है—जलगत माधुर्य के आधार पर उसे मधुर कहा जाता है, इसी प्रकार प्रत्येक धर्मी अपने विशेष धर्म के द्वारा निरूपित हुआ करता है। धर्म को ही स्वभाव माना जाता है। 'स्वभाव' शब्द 'स्वस्य भावः धर्मः'—इस अर्थ में निष्पन्न हुआ है। धर्म का धर्मी के साथ सम्बन्ध कुछ लोगों ने भेद, कुछ ने अभेद, कुछ ने भेदाभेद माना है। भेदाभेद शून्यत्व का भी—शून्यत्व भी एक धर्म है, स्वभाव है, जिसके आधार पर शून्य स्वलक्षण तत्त्व का उपाख्यान किया करते हैं। विचारासहत्व भी एक स्वभाव है जो कि अपने में स्थिर है। यदि रथ को रथ हम इसलिए नहीं कह सकते कि रथ नाम की वस्तु विचारों से सिद्ध नहीं होती, तो उसी प्रकार शून्यता का भी अस्थिर, असिद्ध स्वरूप हो जाने पर शून्य को शून्य कैसे कह सकेंगे ? इस प्रकार की अस्थिरता को असीम बना देने पर मनुष्य का व्यावहारिक जगत् से लेकर आध्यात्मिक जगत् तक का समस्त व्यवस्थापन असम्भव हो जाता है। अतः इस प्रकार के शून्यवाद से क्या लाभ कि जिससे विश्व अव्यवस्थित होकर शून्य हो जाय ? फलतः शून्यवादी को भी विचारासहनीयता का कुछ मर्यादा-बन्धन अवश्यक करना होगा। कुछ प्रमाणों की सत्ता एवं उन प्रमाणों से प्रमित पदार्थों को अवश्य मानना होगा। उनमें से किसी प्रमाण के द्वारा शून्यता को भी प्रमापित करना होगा किन्तु शून्यवादी इसके लिए तैयार नहीं। अतः विश्व की विचारानर्हता के साथ स्वयं अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन एवं साधन की उसे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।

वाचस्पति मिश्र ने शून्यवादी की निषेधप्रियता पर आक्षेप करते हुए कहा है[२७] कि किसी वस्तु का निषेध करने के लिए भी आवश्यक है कि किसी सत्याधिष्ठान में आरोपित वस्तु का निषेध करे। शुक्तिरजतादि स्थलों पर यही देखा जाता है कि शुक्ति आदि सत्याधिष्ठानों में आरोपित रजतादि का निषेध किया जाता है, निरधिष्ठाननिषेध सम्भव नहीं। अतः शून्यवादी को भी प्रमाण और प्रमेय की सत्ता का निषेध करने के लिए किसी सत्याधिष्ठान की खोज करना आवश्यक है। किन्तु वैसा करना उसकी शक्ति के बाहर है। अतः शून्यवाद एक ऐसे शब्दों का खोखला-सा कलेवर मात्र रह जाता है, जिसका अर्थ है—कुछ भी नहीं।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद की आलोचना

बौद्धजगत् के सभी निकाय प्रतीत्यसमुत्पादवाद के पक्षपाती पाये जाते हैं। केवल पक्षपाती ही नहीं, उसने उसे जगत्-सर्जन-प्रक्रिया का एक मात्र वैज्ञानिक सापेक्ष हेतु-प्रत्ययाश्रित केन्द्र माना है। सूत्रकार ने इस विषय में केवल इतरेतर प्रत्ययत्व अर्थात् परस्पर की निर्भरता ही दिखाई है[२८] जो कि बौद्धपक्ष का गुण पक्षान्तर में दोष रूप से प्रतीत होता है। भाष्यकार ने प्रतीत्यसमुत्पादवाद का बाह्य कलेवर दूर से प्रस्तुत करते हुए चेतन की निरपेक्षता के कारण उसकी असंघटिताकारता सूचित कर दी है।[२९]

किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उस कलेवर का समीप से ही नहीं, अन्तःप्रविष्ट होकर गम्भीर अध्ययन किया है और उसकी ऐसी अत्यन्त स्पष्ट एवं सौगतपक्ष-पोषिणी व्याख्या प्रस्तुत की है कि उस प्रकार का विवेचन और विश्लेषण आकर ग्रन्थों

एवं उनके अनुव्याख्यानों में भी उपलब्ध नहीं होता। वाचस्पति मिश्र के द्वारा सजाये गये प्रतीत्यसमुत्पाद के विमलपरिमल माल्यवर का थोड़ा-सा स्वरूप प्रदर्शित करना अनुचित न होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो प्रकार के शृंखलास्तम्भ प्रदर्शित किये गये हैं—(१) हेतुमत् की प्रथम शृंखला (२) प्रत्यय और प्रत्ययी की अपर धारा। अर्थात् प्रतीत्य-समुत्पाद दो कारणों से उत्पन्न होता है—(१) हेतूपनिबन्ध से तथा (२) प्रत्ययोपनिबन्ध से। कार्य की उत्पत्ति में जिस प्रकार हेतु की अनिवार्यता है उसी प्रकार प्रत्यय की भी। हेतु और प्रत्यय, दोनों में केवल इतना अन्तर है कि हेतूपनिबन्ध में हेतु एकाकी ही उसी प्रकार के दूसरे हेतु को जन्म दे डालता है, जैसे कि बाह्य वस्तुओं में अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प और पुष्प से फल की सृष्टि होती है तथा अध्यात्म में जैसे अविद्या हेतु से संस्कार, संस्कारहेतु से विज्ञान, विज्ञानहेतु से नामरूप, नामरूपहेतु से षडायतन, षडायतनहेतु से स्पर्श, स्पर्शहेतु से वेदना, वेदनाहेतु से तृष्णा, तृष्णाहेतु से उपादान, उपादानहेतु से भव, भवहेतु से जाति, जातिहेतु से जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख, दौर्मनस्य आयास प्रकाश में आते हैं। दूसरा कारण प्रत्ययोप-निबन्ध है। प्रत्ययोपनिबन्ध सजातीय-विजातीय सामग्री-सापेक्ष होकर कार्यक्षण को जन्म देता है, एकाकी नहीं, जैसे मृत्तिका, जल, वायु, उष्मा आदि प्रत्ययवर्ग मिलकर बीज को वह अन्तिम क्षण प्रदान करते हैं जिससे अंकुर उत्पन्न होता है। इस कारण-समुदाय में पृथ्वी धातु से अंकुर में काठिन्य, जल से स्निग्धता, तेज से परिपक्वता, वायु से प्रादुर्भाव-सामर्थ्य जिससे कि मंजरी का बहिर्निर्गमन होता है और आकाशधातु से अनावरणरूपता प्राप्त होती है। और ऋतु के प्रभाव से बीज को कोमलता, प्रौढ़ता, परिपक्वता उत्तरोत्तर प्राप्त होती जाती है। इसी प्रकार शरीर में पृथ्वी धातु से काठिन्य, जल से स्निग्धता, तेज से परिपक्वता, वायु से प्रसवार्हता, आकाशधातु से अनावृतरूपता प्राप्त होती है। और ऋतु के प्रभाव से शरीर में प्रौढ़ता आदि परिणाम प्राप्त होते हैं। हेतुओं और प्रत्ययों की परम्परा में किसी प्रकार चैतन्य की अपेक्षा नहीं देखी जाती, न उत्पादक में और न उत्पाद्य में। अतः चैतन्यनिरपेक्ष जड़रूप हेतु तथा प्रत्यय के प्रवाह से विश्व की सृष्टि हो जाती है।"

बौद्धों के इस प्रतीत्यसमुत्पादवाद या सापेक्षतावाद का खण्डन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[31] कि जब तक साक्षात् या परम्परा से चेतन का सहयोग प्राप्त न हो तब तक केवल जड़वर्ग क्रियाशील नहीं हो सकता। कुसूलस्थ बीज अंकुरोत्पादन में तब तक समर्थ नहीं होता जब तक कि कृषीवल खेत का कर्षण व परिष्कार नहीं करता। मृत्तिका या तन्तुओं से घट या पट तब तक उत्पन्न नहीं होते जब तक कि कुलाल या कुविन्द सक्रिय नहीं होते। इसी प्रकार चैतन्य-सहयोग के बिना अविद्या आदि हेतु या पृथ्वी आदि प्रत्यय अपना-अपना कार्य करने में सक्षम नहीं हो सकते। बौद्धगण चेतन या आत्मा की सत्ता नहीं मानते। उनके प्रतीत्यसमुत्पादवाद रूप का निर्वाह सम्भव नहीं। अतः पुद्गल, विज्ञान आदि शब्दों से प्रतिपादित तत्त्व अवश्य चेतन आत्मा सिद्ध होता है। उसके बिना पूर्व शरीर से प्रच्युति और उत्तर-शरीर में प्रतिसन्धि का होना सम्भव नहीं। दुःख, दौर्म-

गन्धादि की उपलब्धियाँ भी केवल जड़ विज्ञान नहीं कर सकता। काष्ठ को छिदाजन्य दुःख एवं दाहजन्य दुःख की उपलब्धि यदि हो जाय तब उसे कौन छिन्न या दग्ध कर सकता। यदि चैतन्य-सहयोग के बिना अविद्यादि हेतुचक्र के द्वारा ही कार्य का निर्वाह मान लिया जाय तब सभी शरीर एक जैसे होने चाहिए, उनमें अब अन्तर क्यों होगा? भोक्ता चेतन के अदृष्ट से अनुप्राणित होकर भूतप्रत्य या अविद्यादि हेतु अवश्य विचित्र शरीरों की रचना में सफल हो सकते हैं, किन्तु बौद्ध-सिद्धान्त में कोई भोक्ता या कर्ता नहीं माना जाता तब कौन किस कार्य में प्रवृत्त होगा और क्यों होगा? ज्ञान करने वाला जब कोई नहीं तब इच्छा भी कैसे होगी? प्रयत्नशील कौन होगा? क्रिया में प्रवृत्ति किसकी होगी? प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्पूर्ण चक्र अस्त-व्यस्त होकर रह जायेगा। यवबीज में यवांकुर ही क्यों? कदली-ग्रन्थि से वट, वटधाना से आम्र, आम्रबीज से मधूक, मधूक बीज से कपित्थ की उत्पत्ति की सम्भावना को स्वीकार किया जाना चाहिए। तब तो सृष्टि की व्यवस्था का समस्त चक्र विफल होकर रह जायगा।

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पादवाद की आलोचना में जो युक्तियाँ वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' निबन्ध में प्रतिपादित की हैं, उनके लिए वेदान्तजगत् सदैव उनका ऋणी रहेगा।

वैनाशिकसम्मत त्रिविध असंस्कृत धर्मों की आलोचना

वैनाशिकों के त्रिविध असंस्कृत धर्मों अर्थात् प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश के विषय में वैनाशिक प्रक्रिया की आलोचना करते हुए सूत्रकार ने केवल अप्राप्ति दोष दिया है।[१२] 'अप्राप्ति' शब्द का अर्थ शंकर ने किया है 'असम्भव'।[१३] वसुबन्धु के अभिधर्मकोष आदि में चर्चित प्रतिसंख्यानिरोध की अपेक्षा शंकरभाष्यवर्णित से स्वरूप कुछ भिन्न-सा प्रतीत होता है। शंकर के अनुसार अप्रतिसंख्यानिरोध वही है जिसे स्वाभाविक भंगुरता या क्षणविनाश समझा जाता है।[१४] यदि स्वाभाविक क्षणविनाश की अपेक्षा अप्रतिसंख्यानिरोध का कोई दूसरा स्वरूप है तब वह स्वरूप क्या है? उसका निरास किन युक्तियों से किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर वाचस्पति के शब्दों में खोजने से पहले प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध का मौलिक अर्थ जानने का एक लघु प्रयास किया जा रहा है।

वसुबन्धु ने सभी पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया है—(१) सास्रव (२) अनास्रव। सास्रव वे पदार्थ हैं जो रागद्वेषादि आस्रवों (मलों) से युक्त होते हैं। आस्रवों से रहित पदार्थ अनास्रव कहलाते हैं। मार्गसत्य को छोड़कर सभी हेतु प्रत्ययजनित संस्कृत धर्म सास्रव होते हैं। मार्गसत्य तथा त्रिविध असंस्कृत धर्म अनास्रव माने गये हैं। त्रिविध असंस्कृत धर्म हैं—(१) आकाश (२) प्रतिसंख्यानिरोध (३) अप्रतिसंख्यानिरोध। जिस प्रकार आकाश अनावृतिमात्र, असंस्कृत और अनुत्पन्न है, उसी प्रकार प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध—ये दोनों भी असंस्कृत हेतु प्रत्यय अनाश्रित या अनुत्पन्न माने जाते हैं। प्रत्येक सास्रव धर्म का पृथक-पृथक विसंयोग प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है।[१५] प्रतिसंख्या शब्द का अर्थ है सर्वातिशयिनी परा प्रज्ञा तथा उसके द्वारा

किया गया क्लेशों का निरोध प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है।[१५] भावी सास्रव धर्मों की उत्पत्ति का विरोधी अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि विद्यमान दुःख को (अज्ञान-नाश द्वारा) ज्ञान से नष्ट करना और भावी दुःख को उत्पन्न न होने देना, इन दो उद्देश्यों की सिद्धि करने के लिए वेदान्त जगत् अज्ञान का विनाश करना चाहता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञानजन्य दृष्ट दुःखों का विलोप होता है और अस्मिता, राग, द्वेष के न रहने के कारण भावी दुःखों का प्रादुर्भाव कभी नहीं होता। इन दोनों अवस्थाओं का नाम मोक्ष माना जाता है। एक यदि वर्तमान दुःख की निरोधावस्था है तो दूसरी भावी दुःख की अनवतारावस्था है। निरोध का अर्थ यदि वैशेषिकसम्मत ध्वंस पदार्थ माना जाता है तब वे दोनों ध्वंस फिर ध्वस्त नहीं होते। अतः नित्य मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इन दोनों अवस्थाओं को योग और क्षेम शब्दों से भी कहा जाता है। अनिवृत्त दुःख की निवृत्ति योग और उस निवृत्ति का संरक्षण अर्थात् किसी भी भावी दुःख को उत्पन्न न होने देना क्षेम कहलाता है।

अब सोचना यह है कि वैशेषिकसम्मत ध्वंस पदार्थ जन्य माना जाता है, बौद्धभाषा में उसे संस्कृत कह सकते हैं, तब कथित दोनों ध्वंस पदार्थ असंस्कृत कैसे होंगे ? यहाँ अवधेय यह है कि प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध दोनों में निरोध शब्द कुछ भ्रामक, कुछ अस्पष्ट मत-मतान्तरों के झीने आवरण से आवृत-सा प्रतीत होता है। बौद्ध-चिन्तन के अनेक स्तर और कहीं-कहीं पर विरोधी मतवाद इसके उत्तरदायी हैं। उनमें नित्य पदार्थ मानने वाला सर्वास्तिवाद पश्चाद्भावी माध्यमिक आदि के चतुर्दिक् झंझावात से किसी अज्ञात क्षेत्र (चीन) में विलुप्त-सा होकर रह गया। 'अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र' के अनुसार प्रतिसंख्यानिरोध निर्वाण का दूसरा नाम है।[३४] वह एक नित्य, स्थिर, शान्त पद है। जो पद प्रतिसंख्यारूप परा प्रज्ञा के द्वारा अभिव्यक्त मात्र हुआ करता है। संस्कारमर्यादा से अत्यन्त दूर वह पद है। और अप्रतिसंख्यानिरोध एक क्लेश-राशि का वह प्रागभाव है जिसका विनाश कभी नहीं होता। इस प्रकार दोनों नित्य स्थिर तत्त्व हैं, असंस्कृत हैं, अविशुद्ध हैं और मोक्ष की परिभाषा के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

'अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र' में कहा गया है कि "प्रतिसंख्यानिरोध सभी धर्मों में श्रेष्ठ धर्म सभी गन्तव्यों में सर्वातिशायी गन्तव्य, सब वस्तुओं में लोकोत्तर वस्तु, सभी विवेकों में सर्वश्रेष्ठ विवेक, सभी उपलब्धियों में महत्तम उपलब्धि है। किन्तु इस सर्वातिशायी धर्म, निर्वाण या प्रतिसंख्या निरोध का आश्रय क्या है? यह सृष्टि में व्याप्त होकर रहता है या उससे परे रहता है ?"

इसका उत्तर भी 'अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र' में दिया गया है—"प्रतिसंख्यानिरोध न तो स्कन्धों से पूर्णतः अभिन्न है और न पूर्णतः भिन्न, किन्तु इसका स्वभाव विभक्त स्कन्धों (सास्रव धर्मों) से भिन्न है।"[३८]

शांकरभाष्य के अनुसार बुद्धिपूर्वक भावों (पदार्थों) का विनाश ही प्रतिसंख्या निरोध का अर्थ है।[३९] किन्तु वाचस्पति मिश्र के मत से से 'प्रतिसंख्या' शब्द ही क्लेशादि भावों के विनाश को बतला देता है। अर्थात् सन्तमिमं क्लेशमसन्तं करोमि सन्तं क्लेशराशि

नाशयामि—इत्याकारिका जिस प्रज्ञा का क्लेशावरण के विनाशक्षण से पूर्व उदय होता है, वह क्लेशावरणनाशिका प्रज्ञा प्रतिसंख्या कहलाती है।[४०] इस प्रकार क्लेशावरण के विनाशक क्षण से पूर्व क्लेशावरणप्रतीपा बुद्धि प्रतिसंख्या है। उस पूर्वक्षण में विद्यमान बुद्धि के द्वारा उत्तरक्षण में होनेवाला क्लेशावरणों का विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है।

इस प्रकार प्रतिसंख्यानिरोधरूप निर्वाण सर्वास्तिवादियों का वही अनुत्पन्न अप्रध्वंसी, नित्य तत्त्व ही सिद्ध हो जाता है।

प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध आदि आलोच्य विषयों की यथावत् व्याख्या करने के पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने उनकी आलोचना इस प्रकार की है[४१]—प्रतिसंख्यानिरोध का विषय क्लेशावरणों की सन्तति है अथवा सन्तानी क्षण है। सन्तान का निरोध सम्भव नहीं क्योंकि हेतुफलभाव से अर्थात् कार्यकारणभाव से व्यवस्थित सन्तानी (क्षण) ही उत्पत्तिविनाशधर्म वाले हैं, न कि सन्तान। सन्तान का निरोध इसलिए भी नहीं बन सकता कि जिस अन्त्य सन्तानी (क्षण) के निरोध से सन्तान का निरोध होगा वह सन्तानी यदि किसी फल का आरम्भ करता है तो वह अन्त्य सन्तानी क्षण नहीं होगा, और यदि किसी फल का आरम्भ नहीं करता है तो वह अन्त्य सन्तानी अर्थ क्रियाकारिता-रूप सत्ता के अभाव से असत् कहलायेगा। इस असत् सन्तानी को पैदा करने वाला पूर्व सन्तानी भी असत् होगा और इस परम्परा से सभी सन्तानी असत् सिद्ध होंगे। इन असत् सन्तानियों (क्षणों) का समुदायरूप सन्तान भी असत् होगा तो फिर प्रतिसंख्या से किसका निरोध होगा ? यदि सजातीय सन्तानों के हेतुफल भाव को सन्तान मानकर उसके मध्य में विजातीय सन्तानी क्षण की उत्पत्ति ही सन्ताननिरोध माना जाये और इस विजातीय सन्तानी का उत्पादक क्षण ही सन्तान का अन्तिम क्षण माना जाये तो रूप-विज्ञान-प्रवाह में रसादि विज्ञान के उत्पन्न होने पर रूप-विज्ञान सन्तान का उच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार सन्तानोच्छेद कथमपि सम्भव नहीं।

विज्ञान की क्षणप्रध्वंसिता की आलोचना

विज्ञान की क्षणप्रध्वंसिता के खण्डन में सूत्रकार ने कहा—'अनुस्मृतेश्च' (ब्र० सू० २।२।२५) अर्थात् स्थिर पक्ष में ही स्मृतिज्ञान सम्भव हो सकता है—क्षणिक पक्ष में नहीं। आचार्य शंकर इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं[४२] कि अनुभव के पश्चात् होनेवाले ज्ञान को अनुस्मृति शब्द से कहा जाता है। वह (अनुस्मृति) तभी हो सकती है जबकि अनुभव करनेवाला व्यक्ति ही स्मरण करनेवाला हो क्योंकि 'अ' के द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण 'ब' नहीं कर सकता। यदि दोनों ज्ञानों का कर्ता एक नहीं तब 'अहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामि'—इस प्रकार का करण नहीं बन सकता। दूसरी बात यह भी है कि अनुस्मृति का अर्थ प्रत्यभिज्ञा भी होता है और प्रत्यभिज्ञा ज्ञान पूर्वानुभवकर्ता व्यक्ति को ही हुआ करता है, क्योंकि अनुभव और स्मरण दोनों में एक ही 'अहम्' अर्थ अनुस्यूत प्रतीत होता है। वैनाशिक यदि कहना चाहे कि अनुभवकर्ता ज्ञानक्षण का सजातीय और सदृश क्षणान्तर का अनुस्मर्ता हो सकता है, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि सादृश्यग्रहण दो सदृश पदार्थों के एक काल में दर्शन से हुआ करता है। इसकी सिद्धि के लिए यदि कोई

पूर्वोत्तर क्षण का ग्रहीता एक माना जाता है तब उसे स्थिर मानना होगा और इस प्रकार क्षणभंगवाद समाप्त हो जायेगा।

सूत्रकार के अनुस्मरणदोष से बढ़कर प्रत्यभिज्ञा दोष पर भाष्यकार क्यों गये, इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने यह स्मरण दिलाया है कि सादृश्यनिबन्धन-स्मरण की उपपत्ति करके बौद्ध विद्वानों ने उस दोष का निराकरण[२३] कर दिया था। प्रत्यभिज्ञा का उपपादन सादृश्य के आधार पर सम्भव नहीं क्योंकि पूर्व-उत्तर क्षण और उनके सादृश्य को विषय करने वाले किसी तृतीय स्थिर विज्ञान को मानना होगा। ऐसा मानने पर क्षणभंगवाद समाप्त हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने सूत्र-भाष्य से भी आगे बढ़कर क्षणभंगवाद की तीखी आलोचना कर डाली है।[२४] ज्ञान, इच्छा, यत्न और प्रवृत्ति—ये चारों पदार्थ किसी विषय में एक ही आत्मा के देखे जाते हैं। किसी वस्तु विशेष का जिसे अनुभव हुआ है उसे ही स्मरण होता है, उसके ग्रहण के लिए वही यत्नशील होता है और वही उसे प्राप्त करता है जैसाकि स्वयं बौद्धाचार्यों ने प्रमाण का व्यापार माना है। प्रदर्शन, प्रवर्तन और प्रापण तीनों ही प्रमाण के व्यापार माने जाते हैं किन्तु क्षणिक विज्ञान पक्ष में द्रष्टा कोई और, प्रयतमान कोई दूसरा और प्रवर्तमान कोई तीसरा, प्रापक चौथा, यह प्रक्रिया सर्वथा लोकविरुद्ध है। यदि कहा जाये कि सभी ज्ञानों के विषय दो प्रकार के होते हैं—ग्राह्य और अध्यवसेय,[२५] उनमें ग्राह्य विज्ञान का आकार होता है किन्तु अध्यवसेय बाह्य हुआ करता है, तब तो स्मरण आदि की उपपत्ति हो जाती है और प्रश्नोत्तर का भी निर्वाह हो जाता है और बाह्यार्थ प्रसिद्धि का भी सामञ्जस्य हो जाता है, तो यह भी नहीं कह सकते[२६] क्योंकि अध्यवसेयाकार ग्राह्याकार से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो वह ज्ञानाकार न होकर विषयस्थानीय भिन्न पदार्थ हो जाता है, यदि अभिन्न है तब स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, प्रश्न-प्रतिवचन आदि की एकवाक्यता का निर्वाह नहीं हो सकता। 'सोऽयं देवदत्तः' आदि विभिन्न शब्दों के द्वारा एक तत्त्व का उपस्थापन सम्भव नहीं। बौद्ध रीति से किसी भी शब्द का सम्बन्ध स्वलक्षण के साथ न होकर सामान्य लक्षण के साथ हुआ करता है, जैसाकि मीमांसकगण व्यक्ति के साथ शब्द का सम्बन्ध जोड़ने में आनन्त्य और व्यभिचार आदि दोषों की प्रसक्ति बतलाकर आकृति या जाति में शक्ति माना करते हैं, उसी प्रकार अनन्त व व्यभिचरित स्वलक्षण के साथ शब्द का सम्बन्ध कैसे होगा? सामान्य लक्षण के साथ ही शब्द का संगतिग्रहण सम्भव हो सकता है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—

> **अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।**
> **तेषामतः स्वसंवित्ति र्नाभिजल्पानुषंगिणी॥**

अतः 'तत्' पद और 'इदम्' पद—दोनों उस एक स्वलक्षण तत्त्व को कहने में सर्वथा असमर्थ हैं, फिर तो प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति बौद्ध सिद्धान्त में कथमपि नहीं हो सकती। वसुबन्धु ने आत्मा और धर्म का भी ज्ञान में जो उपचार, आरोप या अध्यास माना है वह भी सम्भव नहीं क्योंकि अध्यास में आधार का ज्ञान परम आवश्यक है। शुक्ति का ज्ञान न होने पर रजत का अध्यास, रज्जु का ज्ञान न होने से सर्पाध्यास आदि कभी देखे नहीं

जाते। आधार का ज्ञान और आधेय का स्मरण एक व्यक्ति को ही होना चाहिए। बौद्ध-सिद्धान्त में एक क्षण दो वस्तुओं का ग्रहण नहीं कर सकता। तब आरोप कैसे सम्भव होगा? धर्मारोप और आत्मारोप या इसी प्रकार के किसी अन्य आरोप पदार्थों का सामञ्जस्य तभी बन सकता है जबकि कोई सत्याधिष्ठान सम्भव हो सके। इस प्रकार के अधिष्ठान की सत्ता भी योगाचार नहीं मान सकता। अबाधित अधिष्ठान के बिना आरोप या भ्रमज्ञान या तो होगा ही नहीं या सदैव के लिए स्थिर रह जायेगा, क्योंकि सत्या-धिष्ठान के ज्ञान से आरोपित की निवृत्ति हो सकती है, उसके न होने पर भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी? योगाचार मत में ज्ञान की सत्ता भी परतन्त्र मानी जाती है, परमार्थ नहीं। अतः उसे भी अधिष्ठान नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने योगाचार मत की तीखी आलोचना कर डाली है। अपने पूर्ववर्ती धर्मोत्तराचार्य तक के प्रायः सभी बौद्धाचार्य इनकी आलोचना-दृष्टि से अछूते नहीं रह पाये हैं। कहीं-कहीं पर योगाचार के साथ सौन्त्रान्तिक प्रक्रिया का सम्मिश्रण वाचस्पति मिश्र ने जानबूझकर किया है, जैसेकि ग्राह्य और अध्यवसेय आकारों का स्पष्टीकरण करते हुए न्यायबिन्दु की व्याख्या में धर्मोत्तराचार्य प्रतिपादित शैली का अन्तर स्पष्ट दिखायी देता है, क्योंकि धर्मोत्तराचार्य समानसन्तति के ज्ञानीय क्षणान्तर को अध्यवसेय आकार मानते हैं और वाचस्पति मिश्र ने उनके स्थान पर बाह्य वस्तु को अध्यवसेय कह दिया है, जैसाकि सौन्त्रान्तिकों की दृष्टि है, योगाचार की नहीं।

कुछ ऐसा जान पड़ता है कि सर्वास्तिवाद का वर्गीकरण उस समय तक असंकीर्ण नहीं हो पाया था। वसुबन्धु के व्याख्याता यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' में अपने को सौन्त्रान्तिक कहते हुए भी योगाचार की परम्परा का अनुसरण किया है। इस समय के समान उदयन के समय भी ऐसे विद्वानों की विरलता हो रह गयी थी जो कि उनके समान बौद्धसिद्धान्ता-भिज्ञान में पटुता रखते हों। 'आत्मतत्त्वविवेक' की व्याख्या करते हुए रघुनाथ शिरोमणि ने 'ज्ञान श्री'[८८] शब्द की व्याख्या रत्नकीर्ति के गुरु ज्ञानश्री के लिए न करके यौगिक शब्द मानकर 'ज्ञानमेव श्री र्धनम् एषां ते ज्ञानश्रियः, विज्ञानैकधनाः' कर डाली है।[८९] उदयना-चार्य तक के विद्वानों का निर्भ्रान्त परिबोध उत्तरोत्तर शिथिल-सा होता गया, जैसाकि स्वयं उदयनाचार्य ने कह दिया था—

'ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्'

विज्ञानवाद-समीक्षा

विज्ञानवादी बाह्य वस्तु का अपलाप करके केवल विज्ञान की सत्ता सिद्ध करता है।[९०] बाह्यवस्तु का निरीक्षण और परीक्षण वाचस्पति मिश्र ने इस रूप में किया है जिससे कि भाष्य का पूरक रूप 'भामती' को बनाया जा सके। शबर स्वामी ने कहा है कि यदि ज्ञान और ज्ञेय को थोड़ी देर के लिए हम अभिन्न मान भी लें और यह अनिवार्य हो जाये कि दोनों में से एक तत्त्व मानना होगा तब भी ज्ञान का अपलाप भले ही कर दें, विषय का नहीं कर सकते।[९१] इसी दृढ़ता की ओर संकेत करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'उपलब्धेः'।[९२] वाचस्पति मिश्र ने कहा है[९३] कि प्रमाणों के आधार पर ही सदसत् की

व्यवस्था की जाती है। दृष्ट के आधार पर अदृष्ट की कल्पना शास्त्रकार किया करते हैं। लौकिक प्रकाश को देखकर उसकी प्रकाशकता के समान प्रकाशक भाव की कल्पना विज्ञान में की जाती है। लौकिक प्रकाश के न होने पर या न मानने पर विज्ञानगत प्रकाशता का निरूपण कभी नहीं हो सकता। स्वप्नदर्शन के आधार पर यह कहा जाता है कि विज्ञान से भिन्न विशेष की सत्ता मानना निरर्थक है। किन्तु स्वप्न में पदार्थों का भान तभी हो सकता है जबकि जाग्रत् में उनका अनुभव किया गया हो। कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट कर दिया है कि जाग्रत्प्रपंचदर्शन से जन्य संस्कार स्वाप्नपदार्थप्रतिभान में सहायक होते हैं। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति—इन चारों की व्यवस्थित कक्षाएँ एक में नहीं समा सकती। विज्ञानवादी के पास एक ही विज्ञानक्षण है, उसे यदि प्रमाता मानता है तब अवशिष्ट तीन विधाओं का समाधान कैसे होगा? यदि विज्ञान को प्रमिति मानते हैं तब दूसरे भेदों की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। वित्ति (विज्ञान) की सत्तामात्र से वेदना (अनुभूति, उपलब्धि) सम्भव नहीं।[२४] किन्तु बाह्य विषय अपने रूप में लाकर या अपने रूप का प्रतिबिम्ब डालकर ही उसे अनुभूतिस्वरूपता प्रदान करता है। विषय के न होने पर ज्ञान नहीं जैसा है, उसकी सत्ता किसी काम की नहीं।

एक ज्ञानरूपी दर्पण जब कर्ता, कर्म और साधन—तीनों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है तब कहीं वह विषय-प्रकाशन में समर्थ होता है। एकमात्र विज्ञान किसी अन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। तब किसके लिए, किस साधन के द्वारा और किस वस्तु का प्रकाश करेगा। कर्ता, कर्म और करण—तीनों के स्थानों की पूर्ति एकमात्र क्रिया नहीं कर सकती। न उसका उदय ही हो सकता है और न प्रकाश। स्वप्नदृष्टि द्रष्टा, साधन और दृश्य के न होने पर किसको और क्योंकर होगी? भ्रमस्थलों पर भ्रमज्ञान भी विषय, अधिष्ठान एवं ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता। प्रकाशस्थल पर विषय की विद्यमानता न होने के कारण ही उसे भ्रम कहा जाता है किन्तु सभी ज्ञान ऐसे नहीं होते। अबाधित वस्तु का ग्रहण, भ्रम नहीं, यथार्थ मानना होगा। ज्ञान-प्रकाशक ज्ञान को भी यदि विज्ञानवादी मिथ्या मानता है तब विज्ञान भी बाधित हो जाता है। विज्ञानमात्र की भी सिद्धि कैसे होगी?

सहोपलम्भनियम के आधार पर आचार्य दिङ्नाग और उनके अनुयायियों ने ग्राह्य-ग्राहक का अभेद माना था।[२५] किन्तु सहोपलम्भनियम भी विघटित हो जाता है, कारण कि जिन दो पदार्थों का अव्यभिचरितसहचार पाया जाता है, ऐसे समनियत पदार्थों का अभेद कथंचित् माना जा सकता है, किन्तु ग्राह्य और ग्राहक का न दैशिक अव्यभिचार है और न कालिक। दोनों के भिन्न-भिन्न देश हैं। काल भी क्षणिक पक्ष में एक नहीं होता। अतः जब दोनों प्रकार का व्यभिचार उपलब्ध होता है तब सहोपलम्भनियम व्यवस्थित नहीं रह सकता। उसके अव्यवस्थित हो जाने पर ग्राह्य-ग्राहक का अभेद कैसे सिद्ध होगा?

'एकोऽयं स्थूलो बाह्यो घटश्चित्रश्च'—इस अनुभव में एकता, स्थूलता आदि विषय के धर्म प्रतीत होते हैं। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर स्थूलत्व आदि आकार ज्ञान का सम्भव नहीं हो सकता। स्थूलता अवयवप्राचुर्य या वैपुल्य की देन है। विज्ञान सावयव नहीं, अवयवों का उपचय या वैपुल्य नहीं। अतः स्थूलता ज्ञान का आकार नहीं। इसी

प्रकार बाह्यरूपता आन्तरिक विज्ञान का आकार नहीं बन सकती। अचित्र ज्ञान की चित्र-रूपता भी सम्भव नहीं।[३९] अतः—

एकत्वस्थूलत्वचित्रत्वादेरनात्मनः ।
असतो वा सतो वापि कथं विज्ञानवेद्यता ॥

अर्थात् एकत्व आदि की व्यवस्था करने के लिए बाह्य विषय मानना अनिवार्य है।

विज्ञान की स्वयंप्रकाशता की समीक्षा

विज्ञानवादी का कहना है कि पदार्थ का भान करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। किन्तु अप्रकाशित ज्ञान विषय का प्रकाश नहीं कर सकता, अतः ज्ञान का प्रकाशित होना आवश्यक है।[४०] एक ज्ञान का प्रकाश यदि दूसरे ज्ञान पर निर्भर रखा जाय तब दूसरे ज्ञान का प्रकाश तीसरे ज्ञान पर, तीसरे का चौथे पर—इस प्रकार अनवस्था की अनन्त गुहा में प्रवेश करना होगा। अतः इस दोष से बचने के लिए ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानना होगा।[४१] निराकार ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता, अतः ज्ञान को साकार भी मानना पड़ता है। तब विषय निराकार रह जाता है। निराकार विषय की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। इसलिए विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त सर्वमान्य सिद्धान्त है। ज्ञान की स्वयं-प्रकाशता वेदान्तियों को भी अभीष्ट है। चैतन्य-रूपज्ञान स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश नहीं। इसी प्रकार बौद्धों का ज्ञान भी यदि स्वयंप्रकाश है तो क्या दोष?

वाचस्पति मिश्र बौद्धतर्कपद्धतियों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने उत्तर दिया कि वेदान्तिगण चैतन्यज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं किन्तु वृत्तिज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं मानते अपितु साक्षिभास्य मानते हैं। बौद्धों का ज्ञान भी वृत्तिज्ञानमात्र है, क्योंकि नित्य चैतन्य कूटस्थ ज्ञान क्षणादि भेद से भिन्न नहीं माना जा सकता, नहीं तो विकारी हो जायेगा। इस प्रकार वृत्तिज्ञान अवश्य प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष साक्षिप्रत्यक्ष है, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं। प्रमाता ज्ञान का कर्ता होता है, और ज्ञान घटादि के प्रकाश में साधन होता है। कर्ता और साधन—दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता और न साध्य और साधन को ही एक माना जा सकता है। 'देवदत्तः कुठारेण काष्ठं छिनत्ति'—इस स्थल पर कर्ता देवदत्त, छिदाक्रिया का साधन कुठार, छिदाक्रिया का आश्रय काष्ठ एवं छिदाक्रिया—ये चारों तत्त्व भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। किन्तु विज्ञानवादी के मत से ग्राहक, ग्रहण, ग्रह और ग्राह्य, ये चारों अभिन्न माने जाते हैं जो कि अत्यन्त अव्यावहारिक और असमंजस है। ज्ञान साधन है, प्रमाता पुरुष कर्त्ता होता है और उस ज्ञान का विषय घटादि ज्ञेय कहा जाता है। कर्त्ता आत्मा को ज्ञान का साक्षात् प्रत्यक्ष हो जाता है। ज्ञान जड़ होने पर भी चैतन्य-तादात्म्य-समन्वित होने के कारण साक्षात् अवभासित हो जाता है और विषयावभास का नियामक बनता है। बौद्धों का कहना ठीक है कि ज्ञान का जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता, उससे विषय का प्रकाश सम्भव नहीं। किन्तु उस ज्ञान का प्रत्यक्ष न तो उसी ज्ञान से होता है और न ज्ञानान्तर से होता है किन्तु साक्षी से होता है।[४२] अतः कर्त्ता, कर्म, करण, क्रिया—चारों व्यावहारिक भिन्न-भिन्न तत्त्व वेदान्त की पद्धति से सिद्ध हो जाते हैं, बौद्ध रीति से नहीं। अतः विज्ञानवादी बौद्धों का पक्ष अत्यन्त अव्याव-

हारिक और अनुपादेय है।

(३) जैनमत-समीक्षा

जैन-तत्वमीमांसा करते समय वाचस्पति मिश्र ने प्राकृत से लेकर संस्कृत साहित्य तक को ध्यान में रखा है। आलोच्य विषय का निरूपण कितना स्पष्ट और सांगोपांग होना चाहिए, इस विषय में वाचस्पति के शब्द आदर्श हैं। आर्हत तत्त्व-प्रणाली को वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

पंचास्तिकायों[1] में जीवास्तिकाय के तीन भेद होते हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य-सिद्ध। संसारी जीव बद्ध और मुक्त कक्षाओं में माने जाते हैं और अर्हत् नित्य सिद्ध होता है। पुद्गलास्तिकाय के ६ प्रकार होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, स्थावर और जंगम। धर्मास्तिकाय शास्त्रीय संवित् प्रवृत्ति के आधार पर अनुमित होता है, जैसे तप्तशिलाधिरोहण जैसी बाह्य क्रिया को देखकर साधक के अदृष्ट धर्माभ्युदय का अनुमान किया जाता है। धर्मास्तिकाय शरीर की ऊर्ध्वगति के बोध से जाना जाता है अर्थात् जीव की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति मानी जाती है। ऊर्ध्वगति का विरोधी स्थिति है, इसके द्वारा अधर्म का अनुमान किया जाता है। आशय यह है कि बन्धन से मुक्त होते ही जीव पक्षी के समान आकाश में ऊपर चला जाता है, जब तक नहीं जा रहा है तब तक उसमें अधर्म का गुरुत्व अवरोधक माना जाता है। आकाशास्तिकाय लोकाकाश व अलोकाकाश रूपों में विभक्त किया जाता है। लोकाकाश वह आकाश है जिसमें साधारण बद्ध जीव निवास कर रहे हैं और अलोकाकाश उसके ऊपर बहुत दूर स्थित है जहाँ सिद्ध अर्हतगण रहते हैं। वहाँ लोक-स्थिति नहीं मानी जाती। आस्रव, संवर और निर्जर नाम की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि जीव की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—सम्यक् प्रवृत्ति और मिथ्या प्रवृत्ति। मिथ्या प्रवृत्ति को आस्रव कहा करते हैं, तथा सम्यक् प्रवृत्ति में संवर और निर्जरा आ जाते हैं। इन्द्रिय प्रवृत्ति को आस्रव कहा जाता है क्योंकि पुरुष को विषयोन्मुख बनाने के कारण इसका नाम आस्रव रखा गया है क्योंकि जैन-सिद्धान्त में इन्द्रियों के द्वारा पौरुषेय ज्योति विषयों का स्पर्श कर उनके आकार में परिणत हो जाती है। कुछ लोग कर्मों को आस्रव कहा करते हैं क्योंकि उनका आस्रव (गमन) कर्त्ता की ओर होता है। यह मिथ्या प्रवृत्ति बन्धन का हेतु मानी जाती है। संवर और निर्जर दोनों ही सम्यक् प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं। उनमें शम, दम, गुप्ति, समिति आदि रूप प्रवृत्तियों को संवर कहा करते हैं क्योंकि उनके द्वारा आस्रव के द्वार का संवरण (अवरोध) किया जाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से संचित मलों को दूर करने के लिए तप्तशिलाधिरोहणादि कर्म को निर्जर कहते हैं क्योंकि उसके द्वारा पुण्य-पाप का निर्जरण किया जाता है। इस प्रकार 'आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्, आस्रवः कर्मणा बन्धो निर्जरः तद्विमोचनम्' जैसी बौद्धपरिभाषाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। जैनमत के बन्धन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आस्रव के हेतुभूत अष्टविधकर्म भी बन्धन कहलाते हैं। उन कर्मों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—घातिकर्म और अघातिकर्म। घातिकर्म चार प्रकार के होते है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्त-

राय । इसी प्रकार अघातिकर्म भी चार प्रकार के होते हैं—वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क। शरीराकारपरिणति को वेदनीय कर्म कहा करते हैं क्योंकि उसके द्वारा निमित शरीर से तत्त्ववेदन किया करते हैं। शुक्रशोणित की संकीर्णता या मिलनकर्म को आयुष्कर्म कहा करते हैं और उस मिलित तत्त्व का देहापरपरिणाम की शक्ति का जागृत होना गोत्रिक कर्म कहलाता है। उसके पश्चात् बुद्बुद् आदि अवस्थाओं के आरम्भक कर्म को नामिक कर्म कहते हैं। सम्यक् ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं होता, इस प्रकार का विपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। जैन दर्शन का अभ्यास मोक्ष का हेतु नहीं होता, इस प्रकार के कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। विविध दार्शनिकों के द्वारा प्रदर्शित मोक्ष-मार्गों में मोह हो जाना मोहनीय कर्म कहलाता है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त साधनों के विघ्नकारक कर्म अन्तराय कहलाते हैं। श्रेयोमार्ग के घातक होने के कारण इन चारों को घातिकर्म माना जाता है। कथित आठों प्रकार के कर्म पुरुष के बन्धक होने के कारण बन्ध कहलाते हैं। समस्त क्लेशसंस्कारों के विनष्ट हो जाने पर सुखैकतानता-स्वरूप केवलज्ञान का उदय हो जाने पर अलोकाकाश में स्थिति का नाम मोक्ष है।[६१]

कथित जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध, मोक्ष नाम के सातों पदार्थ किस रूप में व्यवस्थित हैं, उनकी इयत्ता, कार्य-क्षमता निश्चित है अथवा नहीं आदि प्रश्नों का उत्तर देने में जैनगण सप्तभंगीनय का सहारा लिया करते हैं अर्थात् किसी वस्तु के कुल सात पार्श्व हो सकते हैं : (१) स्याद् अस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्याद् अस्ति च नास्ति च । (४) स्यादवक्तव्यः (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च। इन वाक्यों में 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-द्योती निपात[६२] माना जाता है। इन वाक्यों का कब और कहाँ प्रयोग होता है—इसका स्पष्टीकरण जैन ग्रंथों में इस प्रकार पाया जाता है—

तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ॥
क्रमेणोभयवांछायां प्रयोगः समुदायभृत् ।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ॥
आद्यावाच्यविवक्षायां पंचमो भंग इष्यते ।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभंगसमुद्भवः ॥
समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भंग उच्यते ।[६३]

अर्थात् किसी वस्तु की सत्ता का विधान करते समय निश्चित रूप से 'अस्ति' ऐसा न कह-कर 'स्यादस्ति', निषेध को कहने के लिए 'स्यान्नास्ति', उभयस्वरूपता दिखाने के लिए 'स्यादस्ति च नास्ति च' कहा जाता है, कथित तीनों अवस्थाओं की अनिर्वचनीयता स्पष्ट करने के लिए उनके साथ 'अवक्तव्यः' शब्द जोड़कर तीन प्रकार और हो जाते हैं और सप्तम केवल अवक्तव्यत्व पक्ष एक अस्तित्व व नास्तित्व की विवक्षा में होता है क्योंकि एक साथ एक वस्तु में अस्तित्व व नास्तित्व का कथन नहीं किया जा सकता।

जैनों की कथित तत्त्व-व्यवस्था पर आपत्ति करते हुए सूत्रभाष्यप्रदर्शित मार्ग का

ही अनुगमन वाचस्पति मिश्र ने किया है कि जगत् का व्यवहार निश्चयात्मक या व्यव-
सायात्मक बुद्धि के आधार पर चला करता है, अनिश्चयात्मक ज्ञान से नहीं। जैन-सिद्धांत
निश्चित रूप से न अपने तत्त्वों की व्यवस्था कर सकता है, न उनकी अर्थक्रिया पर दृढ़ता-
पूर्वक विश्वास करता है। ऐसी अवस्था में उसके मोहनीय कर्मों की कथा पूरे जैन-दर्शन
को अपने में समेट लेती है, जबकि 'शास्त्रं मोहनिवर्तनम्' कहा गया है अर्थात् शास्त्र मोह
को दूर किया करता है, किन्तु जैन शास्त्र इसके विपरीत मोह को जन्म दे डालता है।
अतः उसे न तो शास्त्र कहा जा सकता है और न उसके आधार पर किसी प्रवृत्ति को
प्रोत्साहन ही मिल सकता है। मार्गदर्शक जब तक निश्चित रूप से मार्ग प्रदर्शित नहीं
करता, केवल अनिश्चयात्मक शब्दों में कह देता है कि सम्भव है यह मार्ग लक्ष्य तक जाय,
जा भी सकता है और नहीं भी, तो इस अनिश्चित वक्तव्य के आधार पर श्रोता प्रवृत्त
नहीं हो सकता। विक्रेता जब तक वस्तु के स्वरूप और उसके मूल्यों को निश्चित नहीं
बतलाता, तब तक ग्राहक उस दुकान पर वस्तुओं का क्रय नहीं करेगा। इसी प्रकार पूरा
व्यावहारिक जीवन अनिश्चितता के गर्भ में प्रविष्ट होकर समाप्त हो सकता है। अतः
अनवधारणात्मक आत्मज्ञान के जनक वाक्यों का प्रयोग किसी दार्शनिक पथ का प्रदर्शन
करने में सर्वथा असमर्थ है। प्रतिवाद का उपसंहार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है
कि सत्ता और असत्ता परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, वस्तुओं की नाना रूपों में प्रतीति कुछ और
है किन्तु विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तु की एक काल एक स्थान पर एक साथ विद्यमानता
या निर्वक्ति किसी प्रकार सम्भव नहीं है। इसलिए 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' के समान सभी
पदार्थ सन्देहास्पद हो जाते हैं। सप्त भंगों में सप्तत्व संख्या का निश्चय, उनके स्वरूप का
निर्धारण और निर्धारण करने वाला पुरुष और साधन सभी सन्देहग्रस्त हो जाते हैं।
जैन-सिद्धान्त के प्रमाण-प्रमेयों का अवधारण समाप्त हो जाता है। ऋषभदेव जैसे तीर्थंकर
अस्थिर अस्पष्ट शास्त्र का उपदेश करके तीर्थंकर कैसे कहला सकते हैं?[५४]

(४) न्यायवैशेषिकसम्मत परमाणुकारणतावाद-समीक्षा

पूर्वमीमांसा में शिष्ट-विरोध का प्रसंग आया है, जैसे कि 'शिष्टाकोपे विरुद्ध-
मिति चेत्'[५५] अर्थात् शिष्ट व्यक्तियों के द्वारा यदि किसी प्रकार का विरोध उपस्थित न
हो तब उस क्रिया को भी धर्म माना जा सकता है। इस पर आचार्य कुमारिल भट्ट ने यह
सन्देह उठाया है—

> के शिष्टा ये सदाचाराः सदाचाराश्च तत्कृताः।
> इतीतरेतराधीननिर्णयत्वादनिर्णयः॥[५६]

अर्थात् शिष्ट पुरुष कौन है? यदि कहा जाय कि जो सदाचार का पालन करता है उसे
शिष्ट कहते हैं, तब प्रश्न उठता है कि सदाचार किसे कहते हैं? यदि कहा जाय कि
शिष्ट पुरुषों के आचरणों को सदाचार कहा जाता है तब अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता
है। दूसरी बात यह भी है कि पुराणों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में शिष्ट महापुरुषों के
आचरण भी कई बार अवांछनीय देखे गये हैं। जैसे प्रजापति के मन में अपनी पुत्री के प्रति
अपवित्र विचार उत्पन्न हुए, इन्द्र ने अहिल्या के साथ कुत्सित व्यवहार किया, वशिष्ठ ने

पुत्रशोक में आत्मघात का प्रयास किया, विश्वामित्र ने चाण्डाल से वैदिक यज्ञ कराया, कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करके भी महाराज विचित्रवीर्य की रानियों में सन्तति उत्पन्न की। इसी प्रकार भीष्मपितामह जैसे वर्णाश्रमपक्षपाती महापुरुष का अत्याश्रमी रहना, राम का अपनी धर्मपत्नी की अनुपस्थिति में भी यज्ञ करना, अंगभंग होने के कारण यज्ञ का अनधिकारी होने पर भी धृतराष्ट्र का यज्ञ करना और वह भी पाण्डवों के द्वारा अर्जित धन से। युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी ने अश्वत्थामा के विषय में झूठ बोला, कृष्ण और अर्जुन जैसे वैदिक धर्म के दृढ़ स्तम्भों ने मदिरा का पान किया, कृष्ण ने भगिनीसदृश मातुलकन्या रुक्मिणी से अवैध विवाह किया। अतः शिष्ट शब्द के अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं।

कुमारिल भट्ट ने शिष्ट की परिभाषा करते हुए कहा है कि वेदविहित कर्मानुष्ठान करने वाले व्यक्तियों को शिष्ट माना जाता है और वे लोग धर्मबुद्धि से जो आचरण करते हैं उसे सदाचार कहते हैं।[६७]

अब हमें 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः'[६८] इस सूत्र के सन्दर्भ में देखना है कि कथित शिष्ट-पुरुषों के द्वारा सांख्य-सिद्धान्त के साथ-साथ और कौन-सा मत अपरिगृहीत है। भगवान् शंकराचार्य ने शिष्ट पुरुषों में मनु और व्यास की गणना करके उनके द्वारा अपरिगृहीत सांख्यसम्मत प्रधानकारणतावाद को निराकरणीय बतलाया है।[६९] किन्तु पुरातन पद्धति के अनुसार योगभाष्यकार व्यास ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ही है, तब इनके द्वारा अपरिगृहीत प्रधानकारणतावाद नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र के हृदय में सम्भवतः यही तथ्य विद्यमान था और भगवान् व्यास स्वयं अपने मुख से अपने आप को शिष्ट कहकर पुकारें, यह शोभा भी नहीं देता। अतः वाचस्पति मिश्र ने शिष्ट के रूप में प्रत्यक्ष-वेद-स्वीकृत मनु शब्द[७०] के साथ आदि शब्द जोड़कर कुछ सौशील्य का पालन-सा भी कर दिया है।[७१]

विशेष रूप से वाचस्पति मिश्र परमाणुकारणतावाद को अपरिग्राह्य बताते हुए भी उस वाद को शिष्ट-सा कहते प्रतीत होते हैं। उन्होंने उसकी विशिष्टता प्रधानकारणतावाद से इस प्रकार बताई है कि प्रधानकारणतावाद में कार्य-कारण का अभेद आ जाता है एवं व्यापक प्रधान से परिच्छिन्न महद् अहंकार आदि की उत्पत्ति बताई जाती है, ये दोनों मान्यताएँ तथ्य से बहुत दूर की हैं। स्पष्ट तथ्य यह है कि कारण कार्य की अपेक्षा अल्पपरिमाण का तथा उससे भिन्न होता है। पट की अपेक्षा तन्तु अल्पपरिमाण वाला होता है, घट की अपेक्षा कपाल स्वल्प परिमाण वाला होता है। अतः कारण-परम्परा में कार्य-परम्परा की अपेक्षा स्वल्पता का तारतम्य होते-होते परमाणु को कारण मानना नितान्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[७२] यह है विशिष्टता परमाणुकारणतावाद की।

किन्तु इतनी विशिष्टता के रहने पर भी वाचस्पति मिश्र की आलोचनात्मक दृष्टि से वह बच न सका। स्वयं एक उद्‌भट नैयायिक होते हुए भी एक जरठ वेदान्ती की भूमिका में उसकी भी आलोचना कर ही डाली कि जब हमने वेदान्तवाक्य-प्रतिपादित प्रकृतिकारणतावाद का ही निराकरण कर डाला तब वेदबाह्य तार्किकों की क्या गणना।

यहाँ पर श्री हर्ष के इस कथन को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा कि 'क्व ममत्वं मुमुक्षू-
णामनिर्वचनीयवादिनाम्'—अनिर्वचनीयवादी वेदान्तिपुंगवों में भी न्याय जैसे द्वैतमतों
की क्या महत्ता ?[92] वाचस्पति जैसा आलोचक, और फिर उसकी दृष्टि से कोई बच जाय,
यह कैसे सम्भव है।

(५) सांख्य-योग-मत-समीक्षा

सांख्य और योग की समीक्षा के प्रसंग में जब हम सूत्रकार की स्थिति देखते हैं तो पाते हैं कि सांख्य की तुलना में योग की आलोचना अत्यल्प शब्दों में की गई है। योग-शास्त्र की आलोचना में सूत्रकार ने केवल इतना ही संकेत कर दिया है कि सांख्य-सिद्धान्त का निराकरण करने से ही योग का भी निराकरण हो जाता है।[93] किन्तु भाष्यकार ने उससे एक बात अधिक कही है कि यदि प्रथम निराकरण से ही दोनों शास्त्रों का निरा-करण हो जाता है तो योग-निराकरण के लिए नवीन अधिकरण की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि सांख्य और योग का बहुत बड़ा अन्तर यह है कि वेदान्त-वाक्यों में भी योग के परिपोषक बहुत से वाक्य विद्यमान हैं, जैसे कि 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २।८), 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधार-णम्' (काठ० २।६।११), 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' (काठ० २।६।१८)। इन वाक्यों से मुमुक्षुगणों को सन्देह हो सकता है कि योगशास्त्र भी ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए आवश्यक है। अतः वह भी वेदान्तशास्त्र के समान ही उपादेय है। किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' आदि वेदान्त-वाक्यों ने ही वेदान्तातिरिक्त शास्त्रों का निराकरण किया है। तब क्या योगशास्त्र सर्वथा निराकरणीय है—इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है कि इस अविरोधाध्याय में योगशास्त्र के उसी अंश का हम विरोध करेंगे जो वेदान्तविरुद्ध पड़ता है।[94] अतः योगशास्त्रीय प्रधानकारणतावाद निराकरणीय है। इससे यह स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि अविरोधी अंश उपादेय है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए बता दिया है[95] कि
योग के अविरोधी अंश को प्रमाण या उपादेय मानने पर उसका प्रधानकारणतावाद
अवश्य ही हमें प्रभावित करेगा, ऐसी आशंका है। अतः अविरोधी अंश को भी हम अपने
क्षेत्र में कोई अवसर नहीं देना चाहते। मीमांसकमूर्द्धन्य कुमारिल भट्ट के सामने भी यही
एक विषम समस्या उपस्थित हुई थी कि बौद्धादि आगमों के अविरोधी अंश को मान
लेना चाहिए, जैसे कि अहिंसादि की उपादेयता। उसका उत्तर देते हुए कुमारिल भट्ट ने
कहा था—

'प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे॥
क्वचिद् दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः।
जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम्॥

अर्थात् वानर और पिशाच तभी तक दूर रहते हैं जब तक कि उन्हें कहीं से प्रवेश का अवसर नहीं मिलता। यदि थोड़ा भी उन्हें कहीं से घुसने का मार्ग दे दिया गया तो अपने आप ही वे पूरे क्षेत्र पर छा जायेंगे और फिर उनके मार्ग में पड़कर कौन जीवित रह सकेगा ? अतः वाचस्पति मिश्र का यह दृढ़ विचार पाया जाता है कि योगशास्त्र के अविरोधी अंश भी प्रमाण नहीं हैं और न उपादेय हैं। वेदान्त-शास्त्रों में जहाँ कहीं सांख्ययोग शब्दों का प्रयोग या उनके यम-नियम आदि प्रमेय की प्रतिरूपता पायी जाती है वह सांख्ययोगशास्त्रों से सर्वथा भिन्न वेदान्तोपयोगी वस्तु है, जैसे 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'[७७] इस वाक्य में आये हुए सांख्यपद का अर्थ है—'संख्या सम्यग् बुद्धिर्वैदिकी तया वर्तन्त इति सांख्याः। एवं योगो ध्यानम्'[७८] अर्थात् 'सांख्य' शब्द का अर्थ सम्यग् बुद्धि अर्थात् वेदान्तलब्ध तत्त्वज्ञान एवं 'योग' का अर्थ निदिध्यासन है। इन शब्दों का सांख्ययोगशास्त्र एवं उनके सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः बौद्ध, जैन और कापालिक जैसे शिष्टपुरुषानादृत, कतिपय पशुप्राय पुरुषों के द्वारा परिगृहीत आगमों के समान सांख्ययोगशास्त्र भी पूर्णरूपेण निराकरणीय एवं आलोचनीय हैं।[७९]

प्रधानकारणतावाद की आलोचना

परमाणुवाद एवं प्रधानकारणतावाद का उपक्रम करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—

> **ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।**
> **न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति सम्भवः॥**[८०]

अर्थात् जगत् का रचयिता कौन है, यह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी छोटी-मोटी वस्तु का निर्माता कौन होता है। देखा जाता है कि जिस व्यक्ति को वस्तु के उपादान का ज्ञान है और जो कार्योत्पत्ति की प्रक्रिया में समर्थ है—वही वस्तु की रचना किया करता है। तन्तुओं का या मृत्तिका का जिसे ज्ञान नहीं और जिसमें उनके संयोजन की शक्ति नहीं, वह कदापि घट-पट जैसे कार्यों की रचना नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि जिसमें ज्ञान-शक्ति, क्रियाशक्ति और अवरोधशक्ति—ये तीनों शक्तियाँ समुचित मात्रा में विद्यमान हैं, वही जगत् की रचना कर सकता है। इस प्रकार की शक्तियों का केन्द्र एवं स्रोत सांख्य-सम्मत प्रधान या वैशेषिक प्रकीर्तित परमाणुतत्त्व होता है। प्रधान तत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की संवलित दशा का नाम होता है।[८१] सत्त्व को ज्ञानशक्ति कहा जाता है, रजस् को क्रियाशक्ति और तमोगुण को नियन्त्रण या अवरोधशक्ति।[८२] ये तीनों शक्तियाँ पूर्णरूपेण से प्रधान में विद्यमान हैं, ब्रह्म में नहीं। ब्रह्म निर्धर्मक, निर्गुण, असंग, असंहत तत्त्व है। अतः जगद्रचना का सामर्थ्य प्रधान में ही हो सकता है, ब्रह्म में नहीं।

सांख्य के इस वक्तव्य की आलोचना सांख्यशास्त्र के मर्मज्ञ वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार की है—

'पौर्वापर्यपरामर्शाद्यदाम्नायोऽञ्जसा वदेत्।
जगद्बीजं तदेवेष्टं चेतने च स अञ्जसः ॥'[83]

अर्थात् जगत् की रचना कैसे हुई, किसने की, इसका अनुभव न सांख्याचार्य को हुआ है और न किसी दूसरे दार्शनिक को। केवल श्रुति, स्मृति आदि शब्दप्रमाणों के आधार पर ही निश्चय किया जाता है कि जगद्रचयिता कौन है। लौकिक व्यवहार के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जगद्रचयिता ज्ञानक्रिया आदि शक्तियों से सम्पन्न होना चाहिए, किन्तु वह प्रधान तत्त्व है, यह कदापि सम्भव नहीं। सृष्टिरचना का प्रसंग जहाँ-जहाँ चला है वहाँ पूर्व और अपर के प्रकरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगद्-रचना चेतन का कार्य है, जड़ का नहीं। कुलाल-व्यापार के बिना मृत्तिका से घट या कुविन्द की चेष्टा के बिना तन्तुओं से पट का निर्माण होते नहीं देखा जाता। अतः चेतन का सान्निध्य समीप या दूर का अवश्य होना चाहिए। 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'[84] आदि प्रसंगों में आत्मा का स्पष्ट उल्लेख एवं मुख्य रूप से प्रतिपादन हुआ है। सृष्टि का प्रथम अंकुर 'तदैक्षत बहु स्याम्'[85] 'स ईक्षां चक्रे'[86]—आदि शब्दों से अभिहित हुआ है। वह प्रथम ईक्षण आदि संकल्प प्रधान में कैसे सम्भव है? अतः ब्रह्म-चैतन्य या आत्मचैतन्य ही वह वस्तु है जिसने प्रथम संकल्प किया। वह एक तथ्य है कि वह अकेला, निर्विकार, असंग है, जगद्रूप से परिणत नहीं हो सकता और न जगत् का आरम्भ ही कर सकता है, किन्तु सत्त्व, रजस्, तमस्—इन तीन गुणों की संवलितावस्था माया या प्रधान तत्त्व के द्वारा वह जगत् की रचना करता है। यह जगत् माया का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त कहलता है।

सांख्याचार्यों का एक और आक्षेप है। वे कहते हैं कि कार्य-कारण में सादृश्य या समानरूपता का होना आवश्यक है, अतः जगत् का कारण वही हो सकता है जो जगत् के समान त्रिगुणात्मक जड़ वस्तु हो,[87] अतः जगत् की कारणता चेतन ब्रह्म में नहीं अपितु जड़ प्रधान में ही संघटित हो सकती है। इस आक्षेप का समाधान वाचस्पति मिश्र ने करते हुए कहा है—

'विवर्तस्तु प्रपंचोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥'[88]

अर्थात् परिणामी कार्य के लिए अपेक्षित हो सकता है किन्तु विवर्त कार्य के लिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं। जगत् ब्रह्म का विवर्त है न कि परिणाम। अतः जगद्रूप कार्य के साथ उसके अधिष्ठानरूप कारण ब्रह्म की समानता की अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह बात और कहना असंगत नहीं होगा कि सांख्य-प्रवर्तक महर्षियों ने प्रधानतत्त्व या मूल प्रकृति से जगत् की रचना अवश्य बतलाई थी किन्तु उसे अनाश्रित, स्वतन्त्र, चैतन्याधिष्ठाननिरपेक्ष मानने का आग्रह परवर्ती सांख्याचार्यों का है जो कि अधिक संगत प्रतीत नहीं होता।

पुरुषगतकर्तृत्वभोक्तृत्व-समीक्षा

सांख्यसिद्धान्त पुरुष को कर्त्ता नहीं मानता अपितु केवल भोक्ता मानता है।[८०] उसके अनुसार कर्तृत्व बुद्धि का धर्म है।[८१] इस कर्तृत्व—भोक्तृत्व की व्यधिकरणता की आलोचना करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'[८१] इस सूत्र की 'भामती' में, कर्ता ही भोक्ता होता है—इस सिद्धान्त के प्रदर्शक जैमिनिशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि पूर्वमीमांसा में कर्ता को ही भोक्ता माना गया है। कर्ता ही भोक्ता होता है—इस सिद्धान्त का प्रदर्शक जैमिनिवाक्य 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्'[८२] है अर्थात् शास्त्रफल स्वर्ग आदि प्रयोक्ता में अर्थात् कर्त्ता में रहते हैं क्योंकि शास्त्र अर्थात् स्वर्गादिबोधक विधिवाक्य कर्त्ता के फल के साधन हैं। अर्थात् स्वर्गादिरूप-फलप्राप्ति के लिए कर्त्ता द्वारा अपेक्षित उपाय का बोधन करते हैं। सांख्यसिद्धान्तानुसार बुद्धि को कर्त्री एवं पुरुष को भोक्ता माना जायेगा तो यह शास्त्र अर्थात् विधि जिस भोक्ता (पुरुष) का अपेक्षित उपाय है उसके कर्त्ता न होने से तथा जो कर्त्री बुद्धि है उसका अपेक्षित उपाय न होने से शास्त्र की संगति नहीं बैठेगी और शास्त्र असंगत होगा। अतः कर्त्ता व भोक्ता एक को ही मानना आवश्यक है।[८३]

(६) मीमांसकमत-समीक्षा

यज्ञादिकर्मों के फलप्रदानत्व की समीक्षा

भारतीय दर्शनों की यह सामान्य मान्यता है कि प्रत्येक कर्म की परिणति फल में होती है। शुभ कर्म का फल शुभ तथा अशुभ कर्म का फल भी अशुभ होता है। अतः शास्त्र शुभ कर्म करने का उपदेश देता है। अभीष्ट फल की प्राप्ति तथा अनिष्ट की अपाकृति के लिए भी शास्त्र ने कुछ विशिष्ट प्रकार के यज्ञादि कर्मों का विधान किया है, विशेषकर मीमांसाशास्त्र ने। अब एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यज्ञों के कर्त्ता—यजमान को इन कर्मों का फल प्राप्त कौन करायेगा ? मीमांसक कहते हैं कि यज्ञादि कर्म स्वयं ही फल प्रदान करते हैं। देवता शब्दमात्र हैं, उनसे अतिरिक्त देवता का शरीर नहीं होता, अतः वह न तो हवि का भक्षण कर सकता है और न प्रसन्न होकर यजमान को फल ही प्रदान कर सकता है। कर्म ही फल प्रदान करता है। यहाँ पर शंका हो सकती है कि कर्म तो जड़ पदार्थ है, वह कैसे फल प्रदान कर सकता है ? इसका उत्तर मीमांसक देते हैं कि जिस प्रकार मेघ आदि जड़ पदार्थ भी मनुष्य को फल देते हैं, इसी प्रकार जड़ कर्म भी फल दे सकते हैं।[८४]

इस मीमांसा-सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए सूत्रकार महर्षि व्यास ने बादरायण[८५] का साक्ष्य देते हुए कहा है कि जड़पदार्थ कर्म अकेला फल-प्रदान करने में सक्षम नहीं जब तक कि चेतन पुरुष की प्रेरणा से वह आबद्ध न हो।[८६] सूत्रकार के कथन को शंकर ने 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं तमधो निनीषते'[८७] इस श्रुति तथा 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन-

गीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हितान्॥'[९९]—इस गीतावाक्य से पुष्ट किया है।[९९]

सूत्रकार और भाष्यकार के आशय को सबल तर्कों के द्वारा स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने मीमांसकों की मान्यता का खण्डन किया है। वाचस्पति कहते हैं[१००] कि दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की कल्पना की जाती है। लोक में यह देखा जाता है कि कुलालादिचेतनपुरुष से अधिष्ठित होकर ही दण्डचक्र आदि घट का निर्माण किया करते हैं। उसी प्रकार कर्म या धर्माधर्म संस्कार तभी फल दे सकते हैं जबकि इनका अधिष्ठाता चेतन पुरुष हो। ईश्वर वह एक चेतन पुरुष है जिसके अधिष्ठातृत्व में मनुष्य के कर्म फल दिया करते हैं। यदि कहा जाय कि जल, वायु, विद्युत् आदि जड वस्तु भी फलप्रद देखी जाती है, अतः कर्म आदि जड़ वर्ग में फलप्रदानादि सामर्थ्य की कल्पना हो सकती है, तो ऐसा कहना नितान्त अनुचित है क्योंकि उनमें भी ईश्वर की प्रेरणा विद्यमान है।[१०१] वेदान्तदर्शन के देवताधिकरण में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है[१०२] कि यज्ञीय देवताओं के भी शरीर होते हैं और वे हवि का भक्षण किया करते हैं तथा प्रसन्न होते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से अधिकारी को कर्म का फल मिला करता है। अतः चेतन सहायता के बिना जड़वर्ग से कर्मफल की इच्छा रखने वाले लोगों का सिद्धान्त न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

वेद-प्रतिपादित प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों का पारस्परिक सन्तुलन कई बार बिगड़ जाया करता है। इसका कारण है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानवजीवन के इन चार पुरुषार्थों में प्रथम तीन का अस्तित्व प्रवृत्तिमार्ग पर तथा अन्तिम एक का अस्तित्व निवृत्तिमार्ग पर आधारित है। कामावचर या लोकाकाश के प्राणियों में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का प्राबल्य पाया जाता है। स्वाभाविक प्रवृत्तियां प्रवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर होती हैं। निरोधप्रवृत्तियां यत्नसाध्य हैं। अतः ऊर्ध्वस्रोतस्-भूमिका-समारूढ़ कतिपय सिद्ध व्यक्तियों पर आश्रित निवृत्तिमार्ग का कुछ विरलभाव रहना नैसर्गिक है। इसलिए व्यवस्थित वैदिक मर्यादा का सीमाबन्धन प्रवृत्तिमार्ग के विपुल प्राणियों के कारण सुरक्षित न रह सका। तथा कर्मप्रतिपादक प्रवृत्तिमार्गानुकूल वेदभाग ने सभी वर्णों और आश्रमों को अपना विषय बना लिया। समय-समय पर उसमें क्रान्तियां अवश्य हुई हैं किन्तु उन्हें दबाने का अन्तिम समय तक प्रयास किया गया। भिक्षुसूत्रों के प्रणयन, ज्ञान तथा तदनुकूल उद्बोधन से पूर्व पूर्वमीमांसा ने इस प्रकार की व्यूहरचना की थी कि उसमें बाहर कोई भी मनुष्य पैर नहीं रख सकता था। शनैः-शनैः निवृत्तिमार्ग के विचार सुदृढ़ होते गये। भिक्षु-सूत्रों की सशक्त तर्क-प्रणाली एवं विचार-वैशारद्य का पराभव सम्भव न देखकर प्रवृत्तिमार्ग के जरठ उपासकों ने कर्मत्यागप्रधान निवृत्तिमार्ग के दर्शन पर भी अपना जाल फैलाना चाहा। किन्तु इसके प्रबुद्ध नेताओं के द्वारा उनका सबल शब्दों में प्रतिवाद किया गया। कर्मसमुच्चयवाद की स्थापना एवं पुष्टि तथा समय-समय पर उसका प्रतिरोध इसी संघर्ष की एक कहानी है।

निवृत्तिमार्गानुगामी परिव्राजकवर्ग की निवृत्तिमार्गप्रशस्ति उतना महत्त्व नहीं रखती जितना कि प्रवृत्तिमार्गसमारूढ एक तटस्थ विद्वान् के विचार। यही विशेषता

आचार्य वाचस्पति मिश्र जैसे प्रवीण एवं दूरदर्शी विद्वान् में पायी जाती है। मीमांसा का प्रौढ पाण्डित्य होने पर भी तटस्थ विचार एवं पक्षपातहीन विचारशैली अपना कर पूर्व-उत्तर-मीमांसा की एकवाक्यता के बन्धन को वाचस्पति मिश्र ने तोड़ा। वेदान्त के आदर्श में कर्मांगता के दर्शन को भ्रम ठहराते हुए वेदान्त को स्वतन्त्रता प्रदान की। जो लोग वेदान्त दर्शन को कर्मानुष्ठान की सीमा के बाहर नहीं जाने देना चाहते थे, उनका प्रबल विरोध वाचस्पति मिश्र ने किया। इसीलिए कर्मसमुच्चयवाद का भी उन्होंने पुनः पुनः प्रतिरोध किया है और परिव्राजक-सम्प्रदाय के निवृत्तिमार्ग को प्रशस्त करने वाले तर्कों का पोषण किया है। उन्होंने वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान को स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का साधन माना तथा कर्म-उपासना में मोक्ष की साधनता का समर्थन किया है। ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है—इस विषय में उद्धृत 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३), 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१), 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।१५), 'एतावदरे खल्वमृतम्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादि वाक्यों की प्रमाणरूपता का वाचस्पति ने समर्थन किया है। जो लोग इन वाक्यों को 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' (जै० सू० ४।३।१)—इस जैमिनीय सूत्र के आधार पर अर्थवादमात्र मानते थे, उसका उन्होंने खण्डन करते हुए कहा कि वेदान्तवाक्यों में जिस नित्य शुद्धमुक्तस्वभाव-पुरुषतत्त्व का प्रतिपादन है वह कर्म का कर्त्ता कदापि नहीं बन सकता प्रत्युत कर्तृत्वादि से विरुद्धस्वरूप वाला है, उसका व उसके प्रतिपादक वेदान्तवाक्यों का समन्वय कर्मकाण्ड के साथ कैसे होगा? अतः यह मानने के लिए सभी को तैयार रहना चाहिए कि वेदान्तवाक्य स्वतन्त्ररूप से ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कराने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' जैसे अनारभ्य अधीन वाक्य के द्वारा प्रतिपादित पर्णता का निवेश क्रतु में ही माना गया क्योंकि पर्णता का आशय जुहू क्रतु का अव्यभिचारी है। इसके बिना किसी कर्म का सम्पादन नहीं हो सकता। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) जैसे वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन भी तभी कर्म का अंग हो सकता था जब कि दर्शन के विषयभूत आत्मा का अव्यभिचारी क्रतुसम्बन्ध होता, किन्तु अकर्त्ता, अभोक्ता पुरुष का किसी भी कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं। इसीलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर ब्रह्म को किसी भी प्रकार की विधि का अंग मानने का प्रबल विरोध किया है और ब्रह्मसंस्थ शब्द को भी यौगिक मानकर आश्रमत्रयपरक मानने वाले भास्करादि का भी डट कर विरोध किया है।

वेदान्तवाक्यों में प्रतिपत्तिविधिशेषता की आलोचना

वेदान्त के कुछ माननीय आचार्यगण प्राभाकर सिद्धान्त से प्रभावित थे। अतएव वे वेदान्त-वाक्यों का प्रामाण्य प्रतिपत्तिविधि के साथ एकवाक्यता-सम्पादन के द्वारा ही मानते थे। आचार्य शंकर के द्वारा उनका मत संक्षिप्त शब्दों में प्रदर्शित कर[११] निराकृत हुआ है।[१२] किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इस आलोच्य मत को निम्नरूप से उपस्थित

कर उसी प्रकार उसकी आलोचना भी की है। आलोच्य मतवाद का संग्राहक वाचस्पति का श्लोक इस प्रकार है—

'अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया ।
मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः ।।'[१०५]

अर्थात् सिद्धार्थों में स्वतन्त्र रूप से वैदिक शब्दों का संगतिग्रहण सम्भव नहीं क्योंकि लोक में पदों का संगतिग्रहण कार्यार्थ में होता है, न कि सिद्धार्थ में। दूसरी बात यह है कि वेदांत भी एक शास्त्र है, शास्त्र वही होता है जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप शासन का बोध कराता हो* अर्थात् इस प्रकार की आज्ञायें प्रसारित करे जिससे मानवकल्याण होता हो। कल्याणकारी मार्ग पर चलने के लिए विधिवाक्य ही माध्यम माने जाते हैं। अतः शास्त्र-मर्यादा की रक्षा करने के लिए भी आवश्यक है कि सभी वेदान्तवाक्य अपने किसी विधि-वाक्य के साथ मिलकर अर्थात् विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता द्वारा मानवकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शासन कार्यार्थ के प्रतिपादन से ही हो सकता है। तीसरी बात यह है कि सिद्धब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों में अर्थवत्ता भी नहीं है, क्योंकि जैसे 'रज्जुरियं न भुजंगः' इत्यादि वाक्यों से जैसे रज्जुरूप ज्ञान से सर्पजन्य भयकम्पादि की निवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार वेदान्तवाक्यों से ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सांसारिक धर्म शोकादि की निवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। श्रवण के पश्चात् मनन का उपदेश भी यह सिद्ध कर रहा है कि केवल श्रवण के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से कुछ नहीं होता अपितु कुछ कर्त्तव्य शेष रह जाता है। एतदर्थ वेदान्त-वाक्यों को ब्रह्मस्वरूप-बोधक न मानकर आत्मज्ञानविधिविषयक-कार्यपरक मानना चाहिए। अर्थात् 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' जैसे ज्ञानविधायक-कार्यपरक वाक्यों में ज्ञानविधिविषयक कार्य-परता स्पष्ट प्रतीत भी होती है। अतः यह एक स्थिर सिद्धान्त है कि कार्यार्थक वेदान्त-वाक्यों के द्वारा ही ब्रह्मनिश्चय करना चाहिए। यह वेदान्त के एकदेशी आचार्य का मत है। सम्भवतः यह वृत्तिकार बोधायन का ही मत होगा जिसकी परम्परा रामानुज आदि सम्प्रदायों में फैल गयी थी। प्राभाकर मीमांसा का प्राधान्य इस सिद्धान्त में प्रतीत होता है, इसको न्यायरत्नमाला के टीकाकार रामानुज[१०६] ने स्वयं स्वीकार किया है।—

गुरुतन्त्रनियन्त्रितोऽप्यहं बहुमानादिह पार्थसारथेः ।
विवृणोमि मतान्तराश्रितां स्थिरभावां नयरत्नमालिकाम् ।।"[१०७]

अर्थात् हम प्रभाकर गुरु के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इससे जाना जाता है कि वेदान्त एक-देशिमत उसी सिद्धान्त का अनुगमन करता था जिसकी रूपरेखा प्रभाकरप्रणीत शाबर-भाष्य की व्याख्या 'बृहती' में आज भी समुपलब्ध होती है।

इस मत की आलोचना करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—

"कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा ।
सिद्धबोधेऽर्थवत्तैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ।।"[१०८]

वेदान्त-वाक्यों को प्रतिपत्ति (ज्ञान) विधि का अंग बतलाने वालों की ओर से सबसे पहला आक्षेप यह किया गया था कि कार्य से भिन्न अर्थ में लोक में संगतिग्रणह सम्भव नहीं। उसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि सिद्धार्थ में भी पदों का संगतिग्रहण लोक में सम्भव है तथा दृष्ट भी है, क्योंकि कुतूहलभयादिनिवृत्त्यर्थक 'रज्जुरियं नैष भुजङ्गः' इत्यादि वाक्यों का संगतिग्रहण स्पष्ट ही सिद्धार्थ में है, न कि कार्यार्थ में। इसका कारण है कि उनके अर्थज्ञान के बाद भयादिनिवृत्ति के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की कार्यप्रवृत्ति नहीं अनुभूत होती। भूतार्थविषयक ज्ञान का अनुमान भी लोक में हर्षादि लिंगों के द्वारा होता है, जैसे कार्यताविषयक ज्ञान का अनुमान लोक में चेष्टादि लिंगों के द्वारा होता है। दोनों में अनुमापक हेतुओं का भेद है, अन्य कुछ नहीं। तथा 'रज्जुरियं नैष भुजंगः' इत्यादि सिद्धार्थविषयक वाक्यों से भयकम्पादिनिवृत्तिरूप प्रयोजन सर्वानुभूत है। सिद्धब्रह्मविषयक वेदान्तवाक्यों से भी संसार-निवृत्ति तथा मोक्ष-प्राप्ति रूप प्रयोजन विद्वानों को अनुभवसिद्ध है। अतः सिद्ध ब्रह्म के बोधक वेदान्त-वाक्यों को मानने पर भी अर्थवत्ता उनमें सिद्ध हो जाती है।[१०९]

इसी प्रकार सिद्धस्वरूप ब्रह्म के बोधक होने पर भी ब्रह्मज्ञान के परमपुरुषार्थरूप मोक्ष में कारण होने से वेदान्त-वाक्यों में हितशासनत्वरूप शास्त्रत्व सिद्ध है। क्योंकि मोक्ष में सर्वदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होने से वह हितरूप है और उसका शासन ब्रह्मज्ञान द्वारा वेदान्तवाक्य करते हैं। इस प्रकार वेदान्त-वाक्यों को सिद्ध ब्रह्म का बोधक मानने में किसी भी प्रकार की आपत्ति न होने से वेदान्त-वाक्यों को स्वार्थ-परित्याग कर प्रतिपत्तिविधि का अंग मानना सर्वथा असंगत है।

वेदान्तवाक्यों में विध्येकवाक्यता की आलोचना

वेदान्त-चिन्तकों ने विधिसम्पर्क के बिना भी वेदान्त-वाक्यों की प्रमाणता स्थापित की है। इस पर मीमांसक आक्षेप करता है कि वेदान्त-वाक्य विधिसम्बन्ध के बिना भी प्रमाण हैं तब अर्थवाद वाक्य भी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता स्थापित किये बिना भी स्वतन्त्र प्रमाण क्यों न होंगे? यदि ऐसा है तब 'विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'[११०] —यह जैमिनीय सूत्र व्यर्थ हो जाता है और अर्थवादाधिकरण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः कहना होगा कि अर्थवादवाक्य विधिवाक्य सम्बन्ध के बिना स्वतन्त्रतया प्रमाण नहीं हो सकते, तब वेदान्तवाक्य भी विधि-संस्पर्श के बिना स्वतन्त्र प्रमाण कैसे होंगे?

वाचस्पति मिश्र ने पूर्ववादी के वक्तव्य का अनुवाद करते हुए कहा है[१११] कि स्वाध्यायाध्ययनविधि ने अर्थवादघटित समग्र स्वाध्याय (वेदराशि) का अध्ययन बतलाया है। अतः स्वाध्यायगत एक अक्षर भी निरर्थक, निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। अर्थवाद वाक्यों का प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। अतः 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवादवाक्यों में कैमर्थ्याकांक्षा तथा 'बर्हिषि रजतं न देयम्' आदि निषेधवाक्यों में निषेध्य से निवृत्ति के लिए निषेध्य की निन्दा की अपेक्षा जागरित हो रही है। परस्पर-सापेक्ष, अतएव उभयाकांक्ष वाक्यों का 'नष्टाश्वदग्धरथ' सम्बन्ध के समान परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। अतः

अर्थवादवाक्यों में विधिवाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न होकर ही प्रामाण्य सुस्थिर होता है। किन्तु सिद्धब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्यों में प्रयोजनाकांक्षा नहीं कि जिसके लिए किसी प्रयोजनप्रतिपादक विधिवाक्य की गवेषणा करनी पड़े क्योंकि ब्रह्मज्ञान से मोक्षरूप-प्रयोजन वेदान्तवाक्यों में ही श्रुत है। अतः वेदान्तवाक्यों को स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा।

इसी प्रकार प्रभाकर के उस वक्तव्य का, जिसमें कि वेदान्तवाक्यों को उपासना-विधि के साथ एकवाक्यता स्थापित करने के पश्चात् प्रमाणता प्रदान की गई है,[११२] निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि ब्रह्मविद्या का फल नित्य तथा निर-तिशय मोक्ष है। वेदान्तवाक्यों में स्वाभाविक जीवब्रह्म की एकता (अभेद) का प्रतिपादन है। वह उपासनाविधि का फल (कार्य) नहीं है, क्योंकि वह नित्य होने से अकार्य है। अनादि अविद्या का अपनयन भी उपासनाविधि का कार्य नहीं क्योंकि उसका उपनयन अविद्या-विरोधिनी विद्या के उदय से होता है। विद्योदय भी उपासनाविधि का कार्य नहीं क्योंकि वह श्रवणमननपूर्वक भावनाजनितसंस्कारयुक्त अन्तःकरण से होता है, न कि उपासनाविधि से। विद्योदय के लिए उपासनाविधिजनित उपासनापूर्व को चित्त का सहकारी कारण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जीवब्रह्मैक्य साक्षात्कार उपासनापूर्व-निरपेक्ष वेदान्तार्थोपासनासंस्कार से ही निष्पन्न हो जाता है, उसमें उपासनाविधिजन्य उपासनापूर्व की अपेक्षा नहीं, जैसे षड्जादि स्वरों का साक्षात्कार अपूर्वानपेक्ष गान्धर्व-शास्त्रोपासनावासना से ही सम्पन्न हो जाता है, उसमें किसी अपूर्व की अपेक्षा नहीं होती। अतः वेदान्तवाक्यों की उपासनाविधि से एकवाक्यता स्थापित कर उन्हें उपासनाविधि का अंग मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।[११३]

स्फोटवाद की आलोचना

आलोचना करने के लिए स्फोटवाद का स्वरूप और आवश्यकता बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[११४] कि वाचक पद से ही किसी अर्थ का प्रतिपादन सम्भव होता है। अब देखना है कि वाचक पद का क्या स्वरूप है। 'गौः' इस पद में गकार, औकार और विसर्ग वर्णों के अतिरिक्त पद नाम की वस्तु उपलब्ध नहीं होती। अतः ये तीनों वर्ण मिलकर वाचक कहे जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक वर्ण क्षणिक है, उच्चरित होते ही प्रध्वस्त हो जाता है, दूसरे वर्ण के साथ उसका योग सम्भव नहीं और प्रत्येक वर्ण वाचक हो नहीं सकता क्योंकि उसे वाचक मान लेने पर केवल एक वर्ण के उच्चारण से ही अर्थप्रतीति होने लगेगी और दूसरे वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होगा; तथापि पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित संस्कारसहित अन्तिम वर्ण पद माना जाता है और वही वाचक है, जैसाकि शाबर भाष्य में प्रतिपादित है।[११५]

स्फोटवादियों का कहना है कि वाचकता शब्द का धर्म है, संस्कार का नहीं। संस्कार दो प्रकार का हो सकता है—एक तो पुण्य-पाप नाम से प्रसिद्ध अदृष्ट, दूसरा स्मृतिजनक भावनात्मक संस्कार। दोनों प्रकार के संस्कार वाचक नहीं होते। दूसरी बात यह भी है कि वर्णानुभव यदि संस्कार का जनक है तब विपरीताविपरीतोच्चरित वर्ण भी

उसी प्रकार संस्कार के द्वारा समान अर्थ के बोधक होने लगेंगे, किन्तु होते नहीं क्योंकि 'रस' और 'सर' दोनों का एक अर्थ नहीं होता।

तीसरी बात यह भी है कि संस्कार की कल्पना एक अदृष्ट की कल्पना है। कल्पना का आधार कार्य या अर्थबोध ही माना जा सकता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी प्रसक्त होता है। अर्थबोध हो जाने के बाद संस्कार की कल्पना और संस्कारों की सहायता से अर्थज्ञान माना जाता है। चौथी बात यह भी है कि संस्कार आत्मा में या अन्तःकरण में रहेंगे, अन्तिम वर्ण का श्रवण श्रोत्र में होता है, तब दोनों का साहित्य कैसे हो सकता है? अन्तिम वर्ण श्रवण के पूर्वकाल में होनेमात्र से यदि साहित्य माना जाता है तब दूसरे व्यक्ति के संस्कार उस काल में उत्पन्न होकर दूसरे व्यक्ति में अर्थबोध के जनक होने लग जायेंगे।

इस पक्ष में पाँचवां दोष यह भी है कि अनुभवजनित संस्कार अनुभूतार्थ के स्मारकमात्र होते हैं। अतः पूर्वपूर्वानुभवजनित संस्कार वर्णों का स्मरणमात्र करा सकते हैं, अर्थ का नहीं। अतः वर्णों से अतिरिक्त स्फोटतत्त्व स्थायी व व्यापक माना जाता है। वर्ण, पद और वाक्य उसी के व्यंजक माने जाते हैं। वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त स्फोट वर्ण-स्फोट, पद द्वारा अभिव्यक्त होने वाला पद-स्फोट तथा वाक्य से अभिव्यक्त होने वाला स्फोट वाक्यस्फोट कहलाता है। स्फोट ही मुख्य शब्द है, वही अर्थ का बोध कराता है और वर्णात्मक शब्द उसके केवल व्यंजक होने के कारण शब्द कहलाते हैं। इस प्रकार स्फोटवाद के साधन और उपालम्भ की चर्चा करते हुए वाचस्पति मिश्र ने विशदरूप से इसका प्रत्याख्यान किया है—

"यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥"[११३]

अर्थात् जब तक दृष्ट सामग्री से कोई कार्य सम्पन्न हो सकता हो तब तक अदृष्ट साधन की कल्पना नहीं की जाती। वर्णात्मक शब्दों से यदि अर्थबोध सम्भव हो तब इनसे अतिरिक्त किसी स्फोटतत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्णों पर जो नश्वरता का दोष दिया जाता है वह वैशेषिक मत में अवश्य होता है किन्तु वेदान्तानुमोदित कुमारिलभट्ट के मत में वह दोष नहीं, क्योंकि वे वर्णों को नित्य मानते हैं।[११४] पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित-संस्कारपक्ष में जो दोष दिया गया था कि उन्हीं वर्णों के द्वारा विपरीत या अन्यथा क्रम अवलम्बन करने पर भी वही अर्थबोध होना चाहिए अर्थात् 'सर', 'रस' पदों से समान बोध होना चाहिए, उस पर वेदान्तपक्ष का यह कहना है कि सभी वर्ण समान संस्कार को जन्म नहीं देते अपितु पौर्वापर्य-सीमा-रेखाओं से आबद्ध होकर विशेष-विशेष संस्कार के उत्पादक होते हैं, अर्थात् जितने जिस प्रकार के वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में सक्षम होते हैं—वे उस प्रकार के वर्ण उसी प्रकार के अर्थबोधोपयोगी संस्कारों को जन्म दिया करते हैं। अतः सांकर्यदोष निराधार है। जो यह कहा था कि वर्णानुक्रमजनित संस्कार वर्ण-स्मृति को छोड़कर दूसरा अर्थबोधरूप कार्य नहीं कर सकते, वह भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष संस्कारसहकृतइन्द्रियार्थसंनिकर्षघटित सामग्री से उत्पन्न होता है। यहाँ

पर जिस प्रकार संस्कार अपने नैसर्गिक स्मरणकार्य को छोड़कर विलक्षण कार्य प्रत्यक्ष के सम्पादक होते हैं, उसी प्रकार संस्कारसहित अन्तिम वर्ण की योग्यता अर्थज्ञान में क्यों नहीं मानी जा सकती ? पदस्फोट की अभिव्यक्ति स्फोटवादी को भी पूर्व-पूर्ववर्णजनित संस्कारविशिष्ट अन्तिमवर्णरूप पद के द्वारा माननी पड़ती है। अतः संस्काररूप अदृष्ट-कल्पना उभयमत-सम्मत है, स्फोट जैसे अननुभूत अदृष्ट पदार्थ की कल्पना स्फोटवादी को अधिक करनी पड़ती है। स्फोटवाद के पक्ष में प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होते—"अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"[११८] इत्यादि में भर्तृहरि ने शब्द-सृष्टि का प्रतिपादन किया है। अतः नित्यस्फोट की सृष्टि सम्भव नहीं। 'वाचा विरूपनित्यया' जैसे श्रुति-वाक्य भी वर्णात्मक शब्दों को ही नित्य सिद्ध करते हैं। इससे अतिरिक्त किसी की स्फोट-संज्ञा यदि करना अनिवार्य है, तब पूर्व-पूर्वजनित संस्कारसहित अन्तिमवर्ण को स्फोट नाम देकर सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि उसी से अर्थ परिस्फुटित होता है। अतः ध्वनि, वर्ण—इन दो प्रकार के शब्दों से अतिरिक्त स्फोट नामक शब्द की कल्पना अप्रामाणिक और अनुचित है।

(७) भास्करमत-समीक्षा

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में कालक्रम की दृष्टि से आचार्य शंकर के पश्चात् भास्कर[११९] का नाम आता है। इनकी स्थिति आचार्य शंकर और वाचस्पति मिश्र के मध्य मानी जाती है।[१२०] ये भेदाभेदवादी थे। अतः जहाँ भी अवसर मिला है, इन्होंने शंकर के अभेदवाद (अद्वैतवाद) का खण्डन कर भेदाभेदवाद की स्थापना की है, उसे युक्तियुक्त सिद्ध किया है। वस्तुतः भाष्य-रचना का उनका उद्देश्य ही शांकरभाष्य का खण्डन करना था।[१२१] शंकर के मायावाद की इन्होंने अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण शैली में आलोचना की है और अविद्या के आवरण को चिथड़े-चिथड़े कर डालने का प्रयास किया है। ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद की स्थापना के लिए इन्होंने जी-तोड़ कोशिश की है। जीवन्मुक्ति और कर्मत्याग के सिद्धान्तों का इन्होंने चुटकी ले-लेकर उपहास किया है।

किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस जरठ आचार्य पर जो भीषण आक्रमण किया है, वह देखते ही बनता है। भास्कराचार्य द्वारा शंकर के सिद्धान्तों का खण्डन व अपने मत की स्थापना तथा आचार्य वाचस्पति मिश्र के द्वारा उन आक्षेपों व मान्यताओं को धराशायी करने व शांकरवैजयन्ती को पुनः फहराने के लिए किया गया तर्क-संघर्ष दर्शन के अध्येता के लिए एक रोचक अध्याय प्रस्तुत करता है। यहाँ इस संघर्ष की एक विशद झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

(१) 'अथ' शब्द का अर्थ

भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[१२२] सूत्रस्थ 'अथ' शब्द का अर्थ करते हुए[१२३] बतलाया है कि यहाँ आनन्तर्य धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा का सम्भव नहीं किन्तु नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमादिषट् साधनसम्पत्ति,

मुमुक्षुता—इस साधनचतुष्टयसम्पत्ति का आनन्तर्य ब्रह्म-जिज्ञासा में सूपपन्न है। अतः साधन चतुष्टय-सम्पादन के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।[१२४]

आचार्य शंकर के इस आनन्तर्योपपादन को भास्कराचार्य ने असंगत ठहराते हुए कहा है[१२५] कि धर्म विचार और ब्रह्मविचार का आनन्तर्य असम्भव नहीं क्योंकि सूत्रकार ज्ञानकर्मसमुच्चय को मोक्ष का साधन मानते हैं, जैसाकि उनके 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेर-श्ववत्'[१२६] आदि सूत्रों से स्पष्ट है। आशय यह है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन'[१२७] इस श्रुति के द्वारा विहित यज्ञादि कर्मों की सहायता से ही तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन बन सकता है—एकाकी नहीं। सहायक यज्ञादि का ज्ञान धर्ममीमांसा के बिना सम्भव नहीं। अतः कर्मज्ञान के लिए धर्मविचार कर लेने के अनन्तर ही ब्रह्मविचार करना सम्भव और सुपपन्न होगा।

वाचस्पति मिश्र ने इस भास्करीय आक्षेप का निराकरण[१२८] करते हुए प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मज्ञान को किस अंश में यज्ञादि की अपेक्षा होती है—अपने कार्य के सम्पादन में अथवा अपना स्वरूप लाभ करने में ? प्रथम पक्ष उचित नहीं है क्योंकि कार्य चार प्रकार का होता है—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य। ब्रह्मसाक्षात्कार कूटस्थ, नित्य, सर्वव्यापी ब्रह्म का स्वरूप होने से विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य भी नहीं हो सकता।

द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं, ब्रह्म-विद्या की उत्पत्ति में भी यज्ञादि का उपयोग उक्त श्रुति से प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'विविदिषन्ति यज्ञेन···' अर्थात् यज्ञादि के अनुष्ठान से विविदिषा अर्थात् तत्त्वज्ञान की अभिलाषा का उदय होता है, तत्त्वज्ञान का नहीं। इस प्रकार कर्म का अनुष्ठान या कर्मज्ञान का साहाय्य सर्वथा बाधित और असंगत प्रतीत होता है। अतः धर्मज्ञान का या धर्मजिज्ञासा का आनन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा में नहीं हो सकता अपितु साधनचतुष्टय-सम्पत्-सम्पादन के अनन्तर ब्रह्मविचार प्रवृत्त होता है।[१२९]

भास्कराचार्य ने शमादि के आनन्तर्य में अस्वारस्य दिखाने के लिए कहा है कि शमादि न तो पूर्व प्रक्रान्त हैं और न उनका ब्रह्म-जिज्ञासा में किसी प्रकार का अगांभि-भाव ही सम्पन्न होता है।[१३०]

भास्कर के इस आक्षेप का परिमार्जन करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने उस श्रुति का स्मरण दिलाया है[१३१] जिसमें शमादिक का आनन्तर्य प्रतिपादित है—'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तोभूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति'[१३२] अर्थात् शान्त (निगृहीतमनस्क), दान्त (जितेन्द्रिय), उपरत (अनासक्त), तितिक्षु (सहन-शील) होकर आत्मा का दर्शन करे। 'ज्ञात्वा मुच्यते' के समान उद्देश्यतावच्छेदक व विधेय का कार्यकारणभाव माना जाता है। कारण और कार्य का पूर्वापर-भाव या आनन्तर्य अनिवार्य होता है। इस प्रकार ब्रह्म-जिज्ञासा में शमदमादिक का स्रोत आनन्तर्य ही विव-क्षित है, अध्ययन एवं कर्मावबोध का आनन्तर्य कहीं भी विवक्षित नहीं है।[१३३] दूसरी बात यह है कि वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म-विचार के लिए जैसे आर्षमार्गोपदेशक गृहस्थ गुरु की शरण आवश्यक है वैसे ही ब्रह्मविचार के लिए भी समुच्चयवादी को उसी गृहस्थ गुरु की शरण की अपेक्षा होगी, उसी के सान्निध्य में रहना होगा किन्तु वस्तुतः वहाँ ब्रह्म-विचार

सम्भव ही नहीं है, इसके लिए तो परिव्राजक ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की शरण लेनी होगी।[134]

अतः किसी भी दृष्टि से भास्करीय आक्षेप तर्कसम्मत नहीं ठहर पाता।

(२) 'अतः' शब्द का अर्थ

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में अतः शब्द का अर्थ प्रतिपादन करते हुए शंकर ने कहा है[135] कि स्वयं वेद कर्मजन्यफल की क्षयिता तथा ब्रह्मज्ञानफल मोक्ष की नित्यता बतला रहा है, इसलिए यथायोग्य साधन-सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा सम्भव है।

भास्कराचार्य ने इसका खण्डन करते हुए कहा है[136]—'अतः' पूर्व प्रकान्त अर्थ में हेतुता का बोधन करता है, न कि कर्मजन्यफल की क्षयिता आदि में। अपि च सभी कर्मों के फल को क्षयी मानना असंगत है। केवल कर्मजन्यफल के क्षयी होने पर भी ज्ञान-समुच्चित कर्म का फल क्षयी नहीं है। ज्ञानसमुच्चित कर्म का फल मोक्ष है और वह नित्य है।

भास्कराचार्य के इस आक्षेप का निवारण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है[137] कि जिस प्रकार विषभक्षण का परिणाम मृत्यु होता है, विषसमुच्चित अन्न के भक्षण का भी वही परिणाम (मृत्यु) होता है—विपरीत नहीं। इसी प्रकार जब अकेले कर्म का फल क्षयी है तो कर्मयुक्त ज्ञानादि का फल भी क्षयी ही होगा, अक्षयी नहीं।

समुच्चयवाद का निराकरण ऊपर किया जा चुका है। अतः ज्ञानकर्मसमुच्चय का फल निर्वाण है—यह नहीं कहा जा सकता। अतः आचार्य शंकर का कर्मफल-क्षयित्व-प्रतिपादन असंगत नहीं है।

(३) ज्ञान की आत्मचैतन्य-स्वरूपता

ज्ञान पदार्थ क्या है—इसका उत्तर शांकर वेदान्त इस प्रकार दिया करता है—अन्तःकरण विषय-देश में जाता है और विषय के आकार को ग्रहण करता है, अन्तःकरण का यह विषयाकार परिणाम ही वृत्ति कहलाता है। यह विषयाकारवृत्ति घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरण भंग करती है, यही वृत्ति प्रतिफलित या वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य-ज्ञान कहलाता है।

यहाँ भास्कर शंकर से सहमत नहीं है। उनका कहना है[138] कि प्रमिति, संवेदन, अनुभव—ये सब पर्याय हैं। रूपादिज्ञान क्षणिक है। आत्मचैतन्य नित्य है। नित्य और अनित्य की एकता कैसे हो सकती है? यदि विषय-प्रकाशकज्ञान आत्म-चैतन्यस्वरूप है तो ऐसी स्थिति में विषय का विस्मरण कदापि नहीं हो सकता। अतः आलोक और इन्द्रियादि की सहायता से उत्पद्यमान ज्ञान भिन्न है और आत्मचैतन्य भिन्न, दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता।

वाचस्पति ने 'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म' भाष्य के इस अंश का व्याख्यान करते हुए कहा है[139] कि ज्ञान पद से उसी वस्तु का ग्रहण यहाँ अभिमत है जिसके द्वारा प्राणी अपने जन्मजन्मान्तर के इस गाढान्धकार को निवृत्त कर आत्मज्योति के दर्शन करता है, अपने आत्मस्वरूप परमानन्दघन ब्रह्म की प्राप्ति करता है। यह

ज्ञान विशुद्ध चैतन्य ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। उत्पन्न, विरुद्ध, क्षणप्रध्वंसी वैनाशिक-विज्ञान-सन्तति से काम नहीं चल सकता। यह कहना अक्षरश: सत्य है कि उसकी उत्पत्ति और विलय सम्भव नहीं; किन्तु, अनौपाधिक स्वरूपज्योति यद्यपि उत्पत्ति-विनाश की सीमा से परे है तथापि वृत्तिरूप उपाधि के सम्बन्ध से उसे उत्पत्तिविनाशशील कहा जा सकता है। उसे ही अनुभवादि पदों के द्वारा अभिहित किया जाता है। इस प्रकार भास्करकृत शंकर की आलोचना युक्तिसंगत नहीं है।

(४) भेदाभेद

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इस सूत्र में प्रतिपादित जगत् की कारणता का सामंजस्य अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म को विवर्ताधिष्ठान और प्रपंच को ब्रह्माधिष्ठित मिथ्याकार्य बताते हुए किया है। भास्कराचार्य से इस पक्ष का खण्डन करते हुए ब्रह्म और जगत् का भेदाभेद स्थापित किया है। सुवर्ण और कुण्डलादि का भेदाभेद अनुभव-सिद्ध बताया है,[१४०] अर्थात् कार्य और कारण के भेद व अभेद दोनों को वास्तविक माना है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भास्करसम्मत भेदाभेद-पक्ष का निराकरण करते हुए कहा है[१४१]—कि वास्तविक भेदाभेद मानने पर कार्य और कारण का वास्तविक अभेद मानना होगा। ऐसी स्थिति में दूर से सुवर्णरूप कारण को देखने पर उससे अभिन्न कटक-कुण्डलादिरूप कार्य का ज्ञान हो जाने पर कटककुण्डलादि विशेष स्वरूप की जिज्ञासा अनुपपन्न होगी। इसी प्रकार ब्रह्माभिन्न प्रपंच का प्रत्यक्ष दर्शन होने से तदभिन्न ब्रह्म का ज्ञान भी हो जावेगा, अतः ब्रह्म की जिज्ञासा अनुपपन्न होगी। अतः भास्कराचार्य का भेदाभेद-पक्ष सर्वथा असंगत व विरुद्ध है। भेद और अभेद दोनों में से एक का परित्याग आवश्यक है। ऐसी स्थिति में भेद-पक्ष को काल्पनिक व मायिक मानना ही उचित है। कार्य और कारण का, प्रपंच और ब्रह्म का अभेद ही वास्तविक है, क्योंकि कल्पित या अध्यस्त वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। जिस प्रकार कल्पित सर्प रज्जु से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार कल्पित प्रपंच-रूप-कार्य अपने अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतएव अभेद वास्तविक है। इसी को 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह श्रुति सिद्ध कर रही है। इसी का नाम अभेदोपादानभेदकल्पना है। अर्थात् अभेद वास्तविक तथा भेद काल्पनिक है। सुवर्ण और कुण्डल सावयव हैं—अतः उनका भेदाभेद कथंचित् उपपन्न भी हो किन्तु कूटस्थ, नित्य, निरवयव ब्रह्म का परिणाम एवं भेदाभेद कदापि सम्भव नहीं। अतः भास्कर-पक्ष अत्यन्त असंगत है।

इसी प्रकार 'नेतरोऽनुपपत्तेः'[१४२] तथा 'भेदव्यपदेशाच्च'[१४३] सूत्रों के शांकर अर्थ पर कटाक्ष करते हुए भास्कराचार्य ने कहा है[१४४] कि कुछ लोगों (शंकर) ने अपने कपोल-कल्पित मत की रक्षा करने के लिए सूत्रार्थ को बिगाड़ कर जो इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है कि वस्तुतः ईश्वर से भिन्न कोई संसारी जीव नहीं है अपितु ईश्वर ही जीव है तथा 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'[१४५]—इस श्रुति में बोधित जीव व परमेश्वर के भेदव्यपदेश का निर्वाह उपाधि के द्वारा दोनों में भेद मानकर किया जा सकता है, जैसाकि घटाकाश, मठाकाश—इस प्रकार आकाश का भेद केवल उपाधिमात्र

से किया जाता है, यह (शांकर) व्याख्या युक्तियुक्त नहीं क्योंकि जब यथाश्रुत (वस्तुतः जीव व ईश्वर का भेद मानकर) सूत्र की व्याख्या में कोई दोष नहीं तब गौण भेद मानकर व्याख्या करना स्पष्ट अन्याय है। ईश्वर और जीव के भेदाभेद का समर्थन 'अंशो नानाव्यपदेशात्'[१४६] आदि सूत्रों की व्याख्या में किया जायेगा।

वाचस्पति मिश्र ने भास्करीय कटाक्ष के उत्तर में यहाँ केवल इतना ही कह दिया है[१४७] कि जीव व ईश्वर का भेदाभेद पक्ष पहले ही खण्डित हो चुका है। अतः जीव-ईश्वर में वास्तविक भेद न मानकर औपाधिक भेद मानना ही सम्भव है और न्यायसंगत भी।

(५) ब्रह्मज्ञान में कर्मता का निरास

ब्रह्मज्ञान उत्पाद्य, आप्य, विकार्य एवं संस्कार्य—इन चतुष्कोटि कार्यों की परिधि से परे है, शंकर के इस वक्तव्य की आलोचना करते हुए भास्कराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान में उत्पाद्य विकार्य एवं संस्कार्य—इस त्रिविधकर्मता का अभाव होने पर भी आप्यकर्मता का निराश नहीं किया जा सकता।[१४८]

वाचस्पति मिश्र ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि व्यापक वस्तु सदा ही प्राप्त है, अप्राप्त नहीं, अतः प्राप्यकर्मता की उपपत्ति ब्रह्मज्ञान में सम्भव नहीं।[१४९]

(६) 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि श्रुति में हिरण्यगर्भस्वरूपप्रतिपादन

आचार्य शंकर का कथन है कि 'रूपोपन्यासाच्च'[१५०]—इस सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।'[१५१]—यह श्रुति हिरण्यगर्भ का स्वरूप प्रस्तुत करती है।[१५२]

किन्तु भास्कर शंकर के साथ असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकरण-विरोध उपस्थित होता है। अपि च हिरण्यगर्भ में इस स्वरूप का आरोप किया जा सकता है, साक्षात् हिरण्यगर्भ के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं।[१५३]

वाचस्पति ने भास्कराचार्य के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए उसकी सफल आलोचना की है तथा शांकरमत को परिपुष्ट किया है। उनका कथन है कि यहाँ जायमानसन्निधिरूप स्थानप्रमाण से हिरण्यगर्भ की उपस्थिति और प्रकरणप्रमाण से ब्रह्म का प्रतिपादन सिद्ध होता है। अतः स्थान से प्रकरण का प्राबल्य होने के कारण यहाँ हिरण्यगर्भ की उपस्थिति नहीं हो सकती—भास्कराचार्य की ऐसी मान्यता नितान्त असंगत है, क्योंकि यहाँ प्रकरण से ब्रह्म की उपस्थिति होती है और वह स्थानप्रमाण से बलवान् है तथापि 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ...' इत्यादि रूप से इस सर्वभूतान्तरात्मा की विग्रहवत्ता का श्रवण होने से श्रुति-प्रमाण के द्वारा विग्रहधारी हिरण्यगर्भ का प्रतिपादन किया गया है, न कि देहेन्द्रियादिरहित प्रकरण-सिद्ध परमात्मा का, जो कि सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है क्योंकि श्रुति प्रकरण से भी बलवान् है। अतः 'अग्निर्मूर्धा...' आदि श्रुतियों को प्रकरण-बल से स्वार्थ का परित्याग कर परमकारण ब्रह्म-परक नहीं माना जा सकता।[१५४]

(७) 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' सूत्र का पूर्व पक्ष

'अक्षरमम्बरान्तधृतेः'[१५५]—इस अधिकरण में लोक प्रसिद्धि के अनुसार 'अक्षर' पद से उपस्थापित वर्णों में आकाशादि की धृति सिद्ध होती है और 'ओंकार एवेदं सर्वम्'[१५६]—इत्यादि श्रुतियों में ओंकार वर्ण को भी उपास्य बतलाया गया है (इसीलिए वाक्यपदीयकार ने 'अनादिनिधनं नित्यं शब्दतत्त्वं' यदक्षरम्। विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो मतः ।।' इस पद्य से अक्षररूप शब्दतत्त्व को जगत् का कारण बतलाया है और कारण में कार्य की धृति सिद्ध की है)। इस प्रकार वैयाकरणों के मत से आचार्य शंकर ने पूर्वपक्ष प्रस्तावित किया है और यह कहकर इस मत की आलोचना भी कर डाली है कि 'अक्षर' शब्द श्रुति में ब्रह्म का बोधक है, वर्णों का नहीं, ब्रह्म में आकाशादि का संस्थान भी सम्पन्न होता है।[१५७]

इस अधिकरण में पूर्वोत्तर पक्ष की शंकरीय भंगिमा का विरोध करते हुए भास्कर ने कहा कि यहाँ पूर्वपक्ष में 'अक्षर' शब्द के द्वारा सांख्याभिमत प्रधान की उपस्थिति की गई है तथा उसी का निरास किया गया है, व्याकरणमत को यहाँ घसीटना अप्रासंगिक है क्योंकि उसमें अक्षरशब्द-विशेषणत्वेन श्रूयमाण अलोहित, अस्नेह, अच्छाय आदि विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती।[१५८]

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भास्कर की शैली का अनुशीलन करते हुए उसके कथन का प्रत्याख्यान किया है कि जो लोग प्रधानविषयक पूर्वपक्ष उठाकर ब्रह्माक्षर-विषयक समाधान किया करते हैं वे 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः'—इस सूत्र से प्रधानवाद का निराकरण कैसे करते हैं—समझ में नहीं आता, क्योंकि प्रधान के भी आकाशादि का कारण होने से प्रधान में भी आकाशादिधारणता उपपन्न है। यदि कहा जाय कि धारण का अर्थ केवल अधिकरणता मात्र नहीं अपितु प्रशासनाधिकरणता है—तो 'अम्बरान्तधृतेः' ऐसा कहना निरर्थक सिद्ध होता है, तब तो 'अक्षरं प्रशासनात्' इतना ही सूत्राकार होना चाहिए। अतः यहाँ वर्णाक्षरतारूप पूर्वपक्ष का प्रतिक्षेप ही लिलक्षयिषित है।[१५९]

(८) जीवविषयक काशकृत्स्नीयमत-समीक्षा

'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'[१६०] इस सूत्र के भाष्य में शंकर ने, ईश्वर ही अविद्याकृत नामरूपोपाधि के कारण संसारी जीव नहीं कहलाता है अपितु उससे भिन्न ईश्वर का अंश जीव है, काशकृत्स्न के इस मत का खण्डन किया है तथा अपने इस सिद्धान्त को स्थापित किया है कि ईश्वर ही देह में प्रविष्ट होकर अवस्थित होने पर अविद्याकृत नामरूपोपाधि के कारण संसारी बन जाता है, अतः ईश्वर से भिन्न कोई संसारी जीव नहीं है।[१६१]

भास्कर ने शंकर की इस मान्यता की आलोचना करते हुए काशकृत्स्नीय मत का समर्थन किया है।[१६२]

आचार्य वाचस्पति ने भास्कर के वक्तव्य का अनुवाद करते हुए प्रबल युक्तियों के द्वारा उसका निराकरण किया है। उनका तर्क है[१६३] कि जिन लोगों ने काशकृत्स्न के मत पर ही आस्था रख कर जीव को परमेश्वर का अंश कहा है उनके मत में 'निष्कलं निष्क्रियं

शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इस श्रुति का विरोध उपस्थित क्यों नहीं होगा ? क्योंकि श्रुतिघटक 'निरञ्जन' पद कला अर्थात् अंश का निराकरण करता है, सांशता का प्रतिपादन नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि 'निरञ्जनम्' इत्यादि श्रुति जीव में परमात्मा की अवयवता का निराकरण कर रही है न कि अंशता का, तथा जीव उसी प्रकार परमात्मा का अंश है जैसे कि आकाश का अंश कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न प्रदेश (शब्द-ग्रहण के योग्य) एवं महावायु का अंश पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणभाग (जीवधारण के योग्य) माना जाता है, तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश महाकाश का अंश नहीं अपितु तद्रूप ही है। यदि कहा जाय कि कर्णमण्डलावच्छिन्न आकाश निश्चित रूप से महाकाश का अंश है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सांशता का निरूपक केवल कर्णशष्कुलीप्राप्त है, आकाश नहीं। इस प्रकार विवेकप्रज्ञा से काम लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि कर्णमण्डल अथवा आकाश के साथ उसका संयोग ही शब्दग्रहणयोग्यता का अवच्छेदक है, वह आकाश का अंश नहीं अपितु उससे अत्यन्त अभिन्न है। कर्णमण्डल का संयोग आकाश का धर्म होने से अंश माना जा सकता है, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि यदि वह संयोग आकाश का धर्म है तब सम्पूर्ण आकाश में उसकी प्रतीति होनी चाहिए। यह कदापि संभव नहीं कि निरवयव आकाश का धर्म सम्पूर्ण आकाश में न रहकर उसके किसी भाग में रहे। इसलिए यदि वह संयोग आकाश में है तब सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त करके ही रहेगा। यदि उसे व्याप्त नहीं करता तब यह मानना होगा कि वह आकाश में रहता ही नहीं। अतः निरवयव आधार में कोई वस्तु व्याप्यवृत्ति होने पर भी सर्वत्र उसकी प्रतीति इसलिए नहीं होती कि उसका निरूपक सम्बन्ध सर्वत्र नहीं होता, यह कहना भी सम्भव नहीं क्योंकि निरूपक सम्बन्ध भले ही सर्वत्र न हो, उसका सम्बन्धी आकाश तो सर्वत्र है, अतः शब्द सर्वत्र सुनाई देना चाहिए। कर्णशष्कुल्य-वच्छिन्न आकाश का महाकाश से भेद या अभेद ही हो सकता है, कोई दूसरा प्रकार सम्भव नहीं। अतः अनादि अविद्या के आधार पर ही निरंश में सांशता का आरोप मानना होगा, वास्तविक नहीं। यदि कहा जाय कि [अज्ञानमात्रविजृम्भित सर्पादि (का) आकार जब तक ज्ञात नहीं होता तब तक अर्थक्रियाकारी नहीं होता। और] असत् श्रोत्र शब्दग्रहण के योग्य कैसे होगा ? तो कहा जा सकता है कि पूर्व-पूर्व संस्कारों के द्वारा उत्तरोत्तर अध्यास की उपपन्नता का प्रतिपादन वेदान्तग्रन्थों में सर्वत्र देखा जाता है। कार्यकारण-भावानुपपन्नता कोई दोष नहीं, अनिर्वचनीय माया के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक समंजस है क्योंकि माया स्वयं अपने में एक अनुपपद्यमान अघटित संघटनात्मक एक ग्रन्थि है। सबसे बड़ा दोष भेदाभेद-पक्ष में यह है कि जीव-ईश्वर का वास्तविक भेद कभी दूर नहीं हो सकता, न उसके लिए कोई साहस ही किया जा सकता है। इस प्रकार मोक्ष और मुमुक्षुता की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इन सब आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए इसी एक तथ्य पर पहुँच जाते हैं कि आचार्य काशकृत्स्न का आशय आविद्यिक, परि-कल्पित, आध्यासित अंशांशिभाव के प्रतिपादन में ही था, वास्तविक भेद में नहीं। अतः वाचस्पति मिश्र द्वारा भास्कर की आलोचना अद्वैत वेदान्त की पर्याप्त सीमा तक रक्षा करने में सफल हुई है।

(९) ब्रह्मोत्पत्तिविषयक सन्देह की समीक्षा

'असम्भवाधिकरण'[१६४] में आचार्य शंकर ने ब्रह्म की उत्पत्ति का सन्देह उठाकर निराकरण करते हुए सूत्र से सिद्धान्तपक्ष का स्पष्टीकरण किया है। उनका कथन है कि ब्रह्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं, यदि उत्पत्ति मानी जाय तब सत् से ब्रह्म की उत्पत्ति होगी या असत् से ? असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं क्योंकि उपादान-उपादेय का वैजात्य नहीं होता। सत् से ब्रह्म की उत्पत्ति मानने पर उस सत् की उत्पत्ति और किसी सत् से, उस सत् की उत्पत्ति और किसी सत् से—इस अनवस्थारूप अनुपपत्ति के कारण सत् से ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं कह सकते।[१६५]

किन्तु भास्कराचार्य ने शंकर के इस मत का निराकरण करते हुए कहा है[१६६] कि सद्ब्रह्म की उत्पत्ति की आशंका कर उसके निराकरणरूप से सूत्र की योजना संगत नहीं है। ऐसा मानने पर ब्रह्म की उत्पत्ति में किसी हेतु के न होने से तन्निराकरणपरक सूत्र निरर्थक होगा क्योंकि 'स कारणं कारणाधिपाधिपः न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'[१६७] इत्यादि मन्त्रों से उसकी उत्पत्ति का अभाव सिद्ध है। अतः इस सूत्र की योजना गुण, दिक्, काल आदि पदार्थों की अनुत्पत्ति की आशंका कर उसके परिहार रूप में करनी चाहिए।

भास्कर के अनुसार सूत्र की योजना 'सतः असम्भवः तु अनुपपत्तेः' इस प्रकार है।[१६८]

वाचस्पति मिश्र ने भास्कर द्वारा शंकर पर किये गये आक्षेप का परिहार किया है और भास्करकृत सूत्र-योजना का भी निराकरण किया है। वाचस्पति का कहना है[१६९] कि यद्यपि 'न चास्य कश्चिज्जनिता...' इस श्रुति द्वारा ब्रह्म की अकारणता बतलाने से उसकी उत्पत्ति की आशंका सम्भव नहीं है तथापि जैसे आकाश और वायु में अमृतत्व तथा अनस्तमयत्व की बोधक श्रुतियाँ आकाशादि की उत्पत्तिबोधक श्रुतियों के बोध से गौण मानी गई हैं और उनका तात्पर्य केवल आपेक्षिक अमृतत्व और अनस्तमयत्व में माना गया है, उसी प्रकार ब्रह्म के अकारणत्व को बतलाने वाली श्रुति भी 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः...'[१७०] इत्यादि श्रुति के विरोध से गौण मानकर ब्रह्म की उत्पत्ति की आशंका बन सकती है, उसी का परिहार इस सूत्र में किया गया है। अतः शंकर पर भास्कर का आक्षेप संगत नहीं है।

इसी प्रकार भास्कर ने जो 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' की योजना प्रस्तुत की है। उसका भी निराकरण वाचस्पति मिश्र ने किया है[१७१] कि इस पाद में उत्थापित विरोधों का परिहार किया गया है। ब्रह्म के नित्य व अनुत्पन्न होने से उसकी उत्पत्ति सिद्धान्त-विरुद्ध पड़ती है। अतः उसकी उत्पत्तिरूप विरोध के परिहार की संगति इस पाद से मेल खाती है, किन्तु गुणादि के उत्पत्तिबोधक श्रुतिवाक्यों के न होने से उनकी अनुत्पत्ति की शंका के निरास में श्रुति-विरोध का परिहार न होने से प्रकृतिविरोधपरिहाररूप पाद के साथ इस अधिकरण की संगति उपपन्न नहीं होगी। अविरोधपाद के साथ संगति हो जाने पर भी सूत्रपदों को गुणादि की उत्पत्ति में जोड़ना क्लेशसाध्य-सा प्रतीत होता है। अपि

व 'सत्' शब्द स द्ब्रह्म का जैसा सहज बोध कराता है वैसा विद्यमान गुणादि का नहीं। 'तु' शब्द पूर्वपक्षनिवर्तक मध्य में गृहीत है। अत: 'सतोऽनुपपत्ते:' यह पूर्णतया हेतु का कलेवर प्रतीत होता है—प्रतिज्ञावाक्य में केवल असम्भव शब्द रहता है—'सतोऽसम्भव:' नहीं। किन्तु भास्कराचार्य ने 'सतोऽसम्भव:' इतना प्रतिज्ञा वाक्य माना है और अनुपपत्ति हेतु में अत्यन्त अप्रक्रान्त अद्वैतश्रुति को संगृहीत किया है जो कि अत्यन्त बद्ध व असमंजस-सा प्रतीत होता है। पूर्व के अधिकरणों में 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः' आकाशादि की उत्पत्ति के प्रतिपादक वाक्यों पर नैयायिक आदि का आक्षेप एवं सन्देह सम्भव है क्योंकि वह आकाशादि को नित्य मानता है। किन्तु गुणादि के उत्पत्ति-प्रतिपादक वेदान्तवाक्य ऐसे उपलब्ध नहीं होते जिन पर किसी विसंवादी को आक्षेप या सन्देह करने का अवसर प्राप्त हो। वेदान्तमीमांसा अधिकार संदिग्ध वेदान्त-वाक्यों की निर्णायिका (विशेष शैली) है। अत: स्वतन्त्र रूप से गुणादि की उत्पत्ति पर वेदान्त-विचार में तल्लीन मनीषा सहसा प्रकाश नहीं डाल सकती। अतः ऐसे अवसरों पर भास्कर जैसे आचार्यों की अघटित कल्पना की आलोचना वाचस्पति मिश्र ने की है। वैसा करना ब्रह्मजिज्ञासु की जागरूकता और सावधानता का परिचायक है।

(१०) अधिकरणविषयक मतभेद

'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च'[१६३] इस सूत्र में आचार्य शंकर ने कहा है कि पूर्वाधिकरण (तदभिध्यानाधिकरण) में आकाशादि के उत्पत्ति-क्रम, जिसका कि प्रतिपादन 'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तै० २।१) इन श्रुतियों में उपलब्ध होता है, पर विचार किया गया है और अब इस अधिकरण में लयक्रम पर विचार करना है।[१६३] यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि विचारणीय लयक्रम की उपस्थिति किस मार्ग से हुई? क्या किसी श्रुति-वाक्य ने उसका बोध कराया अथवा किसी प्रसंग से उसकी उपस्थिति हुई? इस जिज्ञासा का समाधान भास्कराचार्य के शब्दों में श्रौत उपस्थिति द्वारा ध्वनित होता है, क्योंकि सिद्धान्त-पक्ष में भास्कराचार्य ने लयक्रमोपस्थापक श्रुतिवाक्य का निर्देश किया है—'कथमन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ'। अतः इस श्रुतिवाक्य के द्वारा प्रतिपादित लयक्रम पर इस अधिकरण में विचार किया गया है।[१६४]

आचार्य वाचस्पति ने भास्कर की शैली का निराकरण करते हुए कहा है कि 'उत्पत्तौ महाभूतानां क्रमः श्रुतो नाप्यये, अप्ययमात्रस्य श्रुतत्वात्'।[१६५] आचार्य वाचस्पति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है कि भास्कराचार्य की शैली यह है कि इस अधिकरण में श्रुतिप्रतिपादित महाभूत-लयक्रम पर विचार किया गया है, किन्तु भास्कराचार्य की यह शैली दोषपूर्ण है क्योंकि इस अधिकरण में प्रसंगतः उपस्थित लयक्रम पर विचार किया गया है। इस प्रासंगिक चर्चा को श्रौतचर्चा का विषय बनाना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि भास्कराचार्य द्वारा उद्धृत श्रुतिवाक्य लयक्रम का विधायक नहीं अपितु कार्य से कारण के अनुमानमात्र का सूचक है। यहाँ लयक्रम का विधान नहीं किया। अत: लयक्रम श्रुति द्वारा उपस्थापित नहीं माना जा सकता।[१६६]

इसी प्रकार भास्कराचार्य ने इसी अधिकरण के पूर्व पक्ष में कहा है कि लयक्रम

का नियामक कोई श्रुतिवाक्य न होने के कारण लयक्रम में किसी प्रकार का नियम मानने की आवश्यकता नहीं।[१८३]

यह पूर्वपक्ष भी अत्यन्त असंगत है। इसकी असंगति बतलाते हुए भामतीकार ने कहा है कि उत्पत्तिक्रम ही लयक्रम का नियामक है, तब अनियम का सन्देह उठाया ही नहीं जा सकता।[१८४] आशय यह है कि समाधान या सिद्धान्तपक्ष में चलकर सूत्रकार ने कहा है कि 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च'[१८६]। यहाँ उपपत्ति लौकिक अनुभूति या उपलब्धि मानी गई है, किसी श्रौत उपपत्ति की ओर संकेत नहीं किया गया। इस प्रकार नियामिका श्रुति के न होने पर भी घटादि के लय की व्यवहारप्रसिद्ध प्रक्रिया नियत है कि प्रत्येक कार्य का अपने कारण में एवं उस कारण का अपने कारण में विलय नियमित रूप से पाया जाता है। इस प्रकार नियम के सम्भव होने पर उसके नियम की असम्भावना का पूर्वपक्ष में सन्देह उठाना उचित नहीं।

(११) अद्वैतवाद में कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण की अनुपपत्ति:

'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः'[१८८]—इस सूत्र में भास्कराचार्य ने शांकर सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए कहा है कि जो लोग जीव और ईश्वर में भेद नहीं मानते उनके मत से इस अधिकरण की रचना ही सम्भव नहीं।[१८९]

इस आक्षेप का समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—कि यद्यपि जीव और ब्रह्म का वास्तविक अन्तर सिद्धान्तपक्ष में नहीं माना जाता किन्तु आरोपित या आविद्यिक भेद को मानकर अधिकरणान्तर की रचना की जा सकती है।[१९०]

वाचस्पति मिश्र का हृदय यह है कि यदि जीव और ईश्वर का वास्तविक भेद वेदान्तविचार के लिए आवश्यक होता तब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[१९१] सूत्र में वेदान्त-विचार की पीठिका ही नहीं बन पाती क्योंकि अधिकारी के बिना अनुबन्धचतुष्टय सम्भव नहीं होते। बिना अनुबन्ध के किसी शास्त्र का आरम्भ नहीं किया जा सकता। अधिकारी साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु जीव माना गया है, किन्तु जीव और ब्रह्म का भेद न होने के कारण गम्य-गमकभाव, प्राप्य-प्रापकभाव, ज्ञातृ-ज्ञेयभाव, अधिकारी-अधिकार्यभाव नहीं बन सकते। ब्रह्म से भिन्न जब कोई अधिकारी ही नहीं है तब किसके लिए ब्रह्म का उपदेश और विचार सार्थक होगा। उपदेष्टा आचार्य भी ब्रह्म-स्वरूप है तब कौन उपदेष्टा, कौन उपदेश्य और किसके विषय में उपदेश। समस्त व्यवहार विलुप्त हो जायेगा। इस रहस्य को अपने हृदय में रखकर श्रुति कहती है 'आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा...।'[१९४] वास्तविक दृष्टि को ध्यान में रखकर ही गौड़पादाचार्य ने कहा है—

> 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
> न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'[१९५]

पारमार्थिक दृष्टिकोण से न कोई संसार का निरोध है, न उत्पत्ति है और न कोई मुक्त है। केवल सांवृतिक दृष्टि से जगत् और उसके व्यवहार का जैसे निर्वाह किया जाता है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर के सांवृतिक भेद को मानकर वेदान्तविचार का

उपक्रम किया गया है। मध्य-मध्य में उसी दृष्टिकोण से विचार होता चला आया है। अतः भास्कराचार्य को बहुत पहले ही यह सोच-समझ कर उक्त आक्षेप कर देना चाहिए था—यहाँ तक का वेदान्त-विचार कर लेने के पश्चात् अब भास्कराचार्य को इस प्रकार का आक्षेप नहीं करना चाहिए।

(१२) पूर्वपक्ष की असम्भावना

'अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः'[१८६] इस सूत्र में भास्कराचार्य ने कहा है कि इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म का सर्वगतत्व प्रतिपादित हो रहा है—इसमें किसी प्रकार के पूर्व-पक्ष या शंका-ग्रन्थ की सम्भावना नहीं।[१८७]

भास्कराचार्य की इस सूत्रार्थानभिज्ञता का स्मरण दिलाते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है[१८८] कि यहाँ बहुत बड़ी शंका यह होती है कि जब एकमात्र अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही है तब उसे सर्वगत कैसे कहा जाय क्योंकि सर्वगत वही वस्तु है जिसका कि विश्व की सर्व वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित हो। किन्तु ब्रह्म से भिन्न 'सर्व' पदार्थ कुछ भी नहीं, तब इसे सर्वगत कैसे कहा जाए? अतः ब्रह्माद्वैतवाद में 'सर्वगत' सर्वथा अनुपपन्न है। इस सन्देह को दूर करते हुए सूत्रकार ने कहा है—ब्रह्म से भिन्न वास्तविक कोई वस्तु न होने पर भी अनिर्वचनीय प्रपंच विद्यमान है, जिसे सर्वशब्द से कह सकते हैं। अतः सर्व अनिर्वचनीय पदार्थों की तादात्म्यापत्ति ही ब्रह्म में सर्वव्यापकता है। अभिप्राय यह है कि इस सूत्र में अधिकरण के पञ्चाङ्ग की निष्पत्ति अद्वैत पक्ष में ही होती है—द्वैताद्वैत भेदाभेद आदि पक्षों में नहीं। भास्कराचार्य का भेदाभेद-पक्ष है—जिसमें इस सूत्र का सामंजस्य सम्भव नहीं। कल्पतरुकार ने इसका विवेचन स्पष्ट रूप से किया है।[१८९]

(१३) जडकर्मफल प्रवृत्ति

फलाधिकरण'[१९०] में भास्कराचार्य ने शांकर मत की आलोचना करते हुए कहा है कि कुछ लोगों (शंकर) का यह कथन कि अन्तर्यामी (ईश्वर) का अनुग्रह-व्यापार फल-प्रदान करने में प्रयोजक सिद्ध होता है तथा उसके व्यापार के बिना जडकर्मफल नहीं दे सकते, सर्वथा अनुचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है, ईश्वर का व्यापार भी नित्य है, न तो वह किसी विशेष पुरुष के द्वारा उत्पन्न किया जाता है और न किसी विशेष पुरुष से उसका सम्बन्ध है अपितु सभी पुरुषों से उसका सम्बन्ध होने के कारण सबका फल प्राप्त होता है। अतः अन्तर्यामी के व्यापार को नियोग मानकर उसे फल के प्रति कारण मानना उचित नहीं।[१९१]

वाचस्पति मिश्र ने भास्कर की आलोचना का उत्तर देते हुए कहा है कि कर्म-जन्य अदृष्ट का सम्बन्ध कर्ता के साथ ही होता है। ईश्वर का अनुग्रह सब प्राणियों पर समान होने पर भी अदृष्टविशेष का फल पुरुषविशेष को ही मिलेगा, सबको नहीं। ईश्वर का अनुग्रहविशेष भी सर्वपुरुषसाधारण नहीं होता किन्तु औपाधिक रूप से पुरुषविशेष-सम्बन्धी और अनित्य होता है।[१९२]

(१४) साम्परायाधिकरण में भास्कर व्याख्यान की आलोचना

सांपरायाधिकरण[१६३] के 'छन्दत उभयाविरोधात्'[१६४] सूत्र का अर्थ भास्कराचार्य ने इस प्रकार किया है—'परकीय स्वकृत दुष्कृत अन्य में कैसे संक्रान्त होते हैं—इसके उत्तर में सूत्रकार ने कहा 'छन्दत:' अर्थात् संकल्प से ऐसा हुआ करता है। अर्थात् विद्वान् का जो शुभ चाहते हैं उन्हें उसके सुकृत, और जो उसका अशुभ करना चाहते हैं उन्हें दुष्कृत की प्राप्ति होती है—ऐसा शास्त्रप्रमाण के आधार पर माना जाता है क्योंकि धर्माधर्म की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, और युक्तियाँ काम नहीं देती। ज्ञानी के सुकृत और दुष्कृत उसके मित्रों तथा शत्रुओं में संक्रान्त होते है, उसमें श्रुति प्रमाण है कि वे देवगण हम लोगों की अन्य के द्वारा किये हुए पाप से रक्षा करें।[१६५] इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अन्यकृत कर्म की अन्य पुरुष में प्रसक्ति होती है।[१६६] स्मृतिकाकार ने भी कहा है कि शप्यमान व्यक्ति का पाप शापदाता को प्रभावित करता है। मनुस्मृति[१६७] भी इस प्रकार युक्तियुक्त हो जाती है कि अपने प्रियजनों को सुकृत एवं अपने अप्रियजनों को दुष्कृत देकर विद्वान् ध्यानयोग के द्वारा सनातन में लीन हो जाते हैं।'[१६८]

भास्कराचार्य के इस व्याख्यान की आलोचना करते हुए भामतीकार ने कहा है कि जो लोग, दूसरे विद्वान् के सुकृत-दुष्कृत दूसरे व्यक्ति में कैसे चले जाते हैं—इस शंका के उत्तररूप में सूत्र की व्याख्या करते हैं, उनका यह व्याख्यान असंगत प्रतीत होता है क्योंकि प्रकृत अधिकरण से उसकी कोई संगति नहीं बैठती। उसकी संगति के लिए शांकरभाष्य में उद्धृत वाक्य ही उस अर्थ का निर्णायक है, वाक्यान्तर उदाहरण नहीं बन सकते।[१६९]

(१५) विद्वान् में गतिविषयक शंका

'गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध:'[१७०]—इस सूत्र के विवरण में भास्कराचार्य ने कहा है कि यदि विद्वान् का पुण्य भी निवृत्त हो जाता है तब गति किसलिए ? इस आशंका का उत्तर दिया जाता है—गति की सार्थकता दोनों प्रकार से होती है—दुष्कृत की निवृत्ति से भी और सुकृत की निवृत्ति से भी। जहाँ पुण्य की निवृत्ति नहीं होती तब उसके फल का अनुभव करने के पश्चात् संसार में आवृत्ति हो सकती है तथा ऐसी अवस्था में अनावर्तनश्रुति[१७१] का विरोध उपस्थित होता है, अत: दुष्कृत के समान सुकृत का भी प्रक्षय होता है।[१७२]

भास्कराचार्य के इस व्याख्यान का अनुवाद करके वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि उन लोगों ने अनाशंकनीय शंका प्रस्तुत की है क्योंकि विद्या के प्रसग में गतिविषयक शंका को क्या अवसर ? यदि पुण्य क्षय हो गया तो किसलिए इसकी गति ? यह गति पुण्य-निबन्धना नहीं अपितु विद्या-निबन्धना है। अत: वृद्ध आचार्यों का उपवर्णन ही युक्ति-संगत है।[१७३]

(१६) कर्मत्यागसमीक्षा

'सर्वापेक्षाधिकरण'[१७४] में भास्कराचार्य ने शांकरभाष्य का निराकरण करते हुए

वैदिक कर्म का विधान विद्वान् के लिए जीवनपर्यन्त किया है और कर्मत्यागात्मक चतुर्थ आश्रम को सर्वथा प्रमाणविरुद्ध बतलाते हुए कहा है सर्वापेक्षा शब्द का अर्थ है 'सभी आश्रम वालों के लिए यज्ञादि की अपेक्षा' है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन'[१९९] इस श्रुति के द्वारा अपवर्गसाधनभूत ज्ञान का यज्ञादि को अंग उसी प्रकार बताया गया है जैसे दशपूर्णमास में प्रयाजादि को अज्ञातज्ञापक होने के कारण उक्त विविदिषावाक्य को, 'दध्ना जुहोति' के समान विधि माना जाता है। 'विविदिषन्ति' शब्द में 'सन्' प्रत्ययवाच्य 'इच्छा' ज्ञान का अंग है, अतः ज्ञान यहाँ अंगी है, उसी के उद्देश्य से तृतीया श्रुति ने यज्ञ का विधान किया है। वह ज्ञान यज्ञादि के द्वारा सक्षम एवं अज्ञानध्वान्तनिवर्तक बना दिया जाता है, जैसे उदय क्रिया के द्वारा सूर्य को अन्धकारनिवर्तन का सामर्थ्य प्रदान किया जाता है। ज्ञानस्वरूप की उत्पत्ति में यज्ञादि कर्म का उपयोग कदापि नहीं क्योंकि श्रवणमननादि को ही उसका उत्पादक माना जाता है। अतः जैसे शमदम आदि का जीवनपर्यन्त विद्वान् में बना रहना आवश्यक है, उसी प्रकार यज्ञादि कर्म का भी। मध्य में यज्ञादि कर्म का त्याग वांछनीय नहीं। कुछ लोग जो यह कहा करते हैं कि पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति को अपनाना चाहिए, इस प्रकार के श्रुत्यर्थ के द्वारा सर्वकर्म का त्याग आवश्यक है, उनका कथन असंगत है क्योंकि गृहस्थाश्रम से आश्रमान्तर की प्राप्ति स्मृतियों में प्रतिपादित है। श्रुति ने उसी को दृष्टिकोण में रखकर आश्रमान्तर का विधान किया है, सर्वकर्म का त्याग नहीं। यदि स्मृत्यनपेक्ष स्वतन्त्र कर्मत्याग और भिक्षा-ग्रहण का विधान माना जाय तब बौद्ध और जैन शास्त्रों में प्रतिपादित भिक्षाचरण भी श्रौत माना जा सकता है। वैदिक स्मृतियों में कर्म करते हुए भी त्रिदण्ड का धारण विदित है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का—

> 'तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
> ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
> अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
> प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥'[२०६]

यह मंत्र प्रमाणरूप में उद्धृत कर कहा जाता है कि सर्वकर्मत्याग अपेक्षित है। यह कथन भी संगत नहीं क्योंकि 'अत्याश्रमी' का अर्थ कर्मत्यागपरायण आश्रम नहीं अपितु पूजितार्थ 'अति' शब्द के योग से 'पूजिताश्रमी' 'अत्याश्रमी' शब्द का अर्थ है। इससे त्रिदण्डग्रहणाश्रम भी विवक्षित है, जहाँ कर्म का त्याग नहीं किया जाता, क्योंकि—

> 'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
> नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥'[२०७]

इस श्रुतिवाक्य के द्वारा वेदान्तरहस्य का प्रदान पुत्र और शिष्य से अतिरिक्त व्यक्ति को प्रदान करने का निषेध किया गया है। इससे भी यह ध्वनित होता है कि वेदान्ततत्त्व का उपदेश कर्मनिष्ठा के क्षेत्र में सीमित है। और जो 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही

भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरेव व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्पन्नाग्निरनग्निको वा'[१०८] जाबालोपनिषद् के इस वाक्य के द्वारा परिव्रज्या का विधान देखकर कर्मत्याग की ओर संकेत प्रदर्शित किया जाता है, वह भी अनुचित है। परिव्रज्या का अर्थ कर्मत्याग नहीं अपितु कर्म करते हुए भी त्रिदण्ड धारण करना है। उक्त श्रुति में यज्ञोपवीत पद का जो पाठ किया जाता है, वह संदिग्ध है या प्रक्षिप्त है। ऐसा लगता है किसी अत्यन्त दुर्विदग्ध व्यक्ति के द्वारा यह वाक्य बनाकर प्रक्षिप्त किया गया है—इसलिए श्रुतियों या स्मृतियों में कहीं भी कर्मत्याग का प्रतिपादन नहीं। कर्मत्यागविधायक स्मृतियां तो सांख्यशास्त्रीय प्रधान की प्रतिपादक श्रुतियों के समान ही अप्रमाण या अपस्मृतियां हैं।

भेददर्शन और कर्म का त्याग कर जो मुक्ति की इच्छा करते हैं, उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सब कुछ यदि त्याग दिया तो शौच, स्नान, भिक्षाटन आदि क्रिया का विधान भी विरुद्ध हो जाता है। यदि आप ब्रह्मरूप हो गये तब शौच, स्नानादि से क्या प्रयोजन ? क्षुधा और पिपासा ब्रह्म में होती नहीं, यदि आप में है तो आप ब्रह्म नहीं। तथ्य तो यह है कि जब तक उपासना का अवलम्बन न किया जाएगा तब तक क्लेशबीजप्रदाह सम्भव नहीं, जैसाकि भगवान् व्यास ने कहा है—

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्बध्यते पुनरिति ॥'

केवल ज्ञान में अपवर्गसाधनयोग्यता [सम्भव नहीं जब तक कि लौकिक और वैदिक कर्म का साहाय्य प्राप्त नहीं किया जाता। आप अपने में औपाधिक कर्तृत्व मानते हैं। औपाधिक का अर्थ है—यावदुपाधिविद्यमान शरीर रूप उपाधि जब तक विद्यमान है तब तक कर्मकर्तृत्व से छुटकारा नहीं मिल सकता। यदि आप जीवनकाल में ही मुक्त हो गये तब तो सर्वज्ञ हो गये होंगे, बताइये मेरे मन में क्या है ? सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होता है, अग्नि से वृक्ष की उत्पत्ति कर दिखाइए, तब समझा जायगा कि आप सर्वशक्तिमान् हैं। अतः हमारा यह उपदेश मानिये कि जीवितावस्था में कर्मत्याग कदापि नहीं करना चाहिए। कर्म मोक्ष का साधन है। ज्ञान और कर्म समुच्चित रूप से मोक्ष के लिए उपादेय हैं। कर्म वैसे ही मोक्ष का साधन है जैसे कि आप ज्ञान को मानते हैं। 'धर्मेण पापमपनुदति', 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'[१०९] जैसी माता के समान हितैषिणी श्रुतियों ने कर्म के द्वारा ही अज्ञानादि की निवृत्ति का उपदेश दिया है।[११०]

भास्कर ने इस समुच्चयवाद का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने प्रश्न प्रस्तुत किया है[१११] कि आप कर्म की उपयोगिता ज्ञान की उत्पत्ति में मानते हैं अथवा ज्ञान की कार्यक्षमता में ? कर्म की उत्पत्ति में विविदिषा उत्पाद के द्वारा कर्म भी अपेक्षित होते ही हैं—ऐसा मान लेने पर भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि मोक्ष-सिद्धि में यदि समान रूप से ज्ञान व कर्म अपेक्षित होते तो समुच्चय में मोक्ष की साधनता होने के कारण समुच्चयवाद सिद्ध होता, किन्तु ऐसा नहीं है। मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है और ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म का उपयोग इस प्रकार माना जाता है कि कर्म का

अनुष्ठान करने पर अन्त:करण की शुद्धि, शुद्धान्त:करण में विविदिषा की उत्पत्ति, विविदिषु शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान एवं तत्त्वंपदार्थपरिशोधन करता है, उसके पश्चात् महावाक्य के द्वारा उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ज्ञान की कार्यक्षमता है मोक्ष को उत्पन्न करना। उस क्षमता में कर्म की सहायता न तो अपेक्षित है और न उसकी अपेक्षा का प्रतिपादक कोई वाक्य ही उपलब्ध है। आशय यह है—अविद्या की निवृत्ति से मोक्ष का लाभ होता है और अविद्या की निवृत्ति अपने विरोधिभूत ज्ञान या ब्रह्मविद्या से ही हुआ करती है—कर्म से नहीं क्योंकि कर्म स्वयं अविद्यात्मक है और उसी से उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं। अत: कर्म का जीवनभर रहना न आवश्यक है और न सम्भव। किन्तु शमदमादि कर्मापेक्षित भेद-भावना पर अनाश्रित होने के कारण विद्वान् के जीवनपर्यन्त उनका बना रहना सम्भव हो जाता है, क्योंकि विद्वान् का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि वह शमदमादि के नियन्त्रण में ही अपनी शारीरिक क्रियाओं को आबद्ध कर देता है। इस प्रकार कर्म के लिए भास्कर का ऐसा आग्रह करना कि उनका विद्वान् के जीवनपर्यन्त बना रहना आवश्यक है, एक अबोध विजृम्भणमात्र है।

(१७) सगुणोपासक द्वारा सगुणब्रह्मावाप्ति

छान्दोग्योपनिषद् में 'स एनान् ब्रह्म गमयति'[१५२] यह एक वाक्य आया है। उस पर विचार करने के लिए विचार के दो केन्द्रबिन्दु स्पष्टत: झलक रहे हैं कि वह अमानव पुरुष किन साधकों को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, उपासकों को? अथवा विद्वानों को भी? किस ब्रह्म की प्राप्ति कराता है—कार्यब्रह्म की या शुद्ध ब्रह्म की? आचार्य शंकर अपनी प्रांजल भाषा में उन ग्रन्थियों का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य पर पहुँचे हैं[१५३] कि सगुणोपासक को ही विशिष्ट लोकगामी सगुण ब्रह्म-प्राप्ति करने का क्रम उक्त श्रुतियों में वर्णित है, क्योंकि प्राप्ति का अर्थ है एक देश से वियोजित कर देशान्तर में प्रतिष्ठापित करना। सगुण ब्रह्म और उसके उपासक के लिए दोनों सम्भव हैं। इस पृथ्वीलोक से ले जाकर साधक के सूक्ष्म शरीर को उसके उपास्य सगुण ब्रह्म के लोक में प्राप्त कराया जा सकता है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म का साक्षात् करने वाले परावरज्ञ सर्वात्मक ब्रह्मवेत्ता का न किसी देश से वियोजन सम्भव है और न देशान्तर से संयोजन। विशुद्ध निर्गुण परब्रह्म विश्वव्याप्त है—किसी सीमित देश में नहीं कि जहाँ पर ले जाने की आवश्यकता हो। अतएव विद्वान् के सूक्ष्म शरीर का विलय उसी स्थल पर हो जाता है जहाँ कि उसका प्राणान्त होता है—

'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते'।[१५४]

शांकरभाष्य की इस व्यवस्था पर तिग्मदीधिति भास्कर की वक्र दृष्टि पड़ती है और वे एक लम्बा-सा वक्तव्य दे डालते हैं।[१५५] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि यदि विद्वान् को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करायी जा सकती तब सगुण उपासक को भी कैसे कराई जा सकेगी? दोनों पक्षों की इतिकर्तव्यता एक जैसी है क्योंकि सगुण विद्या में भी वही ब्रह्म उपास्य है। वह सर्वगत है और कल्याणगुणगणों का निलय है, जैसे आकाश

विभु है और उसका गुण शब्द है। तत्त्ववेत्ता उसी का ही साक्षात्कार करता है। सर्वगत ब्रह्म को सगुण उपासक भी कैसे प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह सर्वगत है, नित्यप्राप्त है। यदि किसी उपाधि की सीमाओं में सीमित कर प्राप्य-प्रापक भाव का समर्थन किया तो विद्वान् के लिए भी वही मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

भास्कराचार्य की इस अघटित, अनृतसंहित एवं असंगत वाणी पर श्री वाचस्पति मिश्र ने जो कुछ आक्षेप-प्रतिक्षेप किया है, वह इस प्रकार है[२१६]—कार्यब्रह्म अप्राप्त होने के कारण प्रापणीय है, परब्रह्म नित्यप्राप्त होने के कारण कदापि नहीं प्राप्त किया जा सकता। आशय यह है कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का साक्षात्कार करने के पूर्व जीवात्मा वस्तुतः अपरिच्छिन्न होने पर भी अविद्या, काम, कर्म आदि पाशों से निगडित होने के कारण परिच्छन्न-सा होता है और उसका उपास्य ब्रह्म भी स्वतः निर्गुण अनवच्छिन्न होने पर भी उसकी दृष्टि में सगुण, परिच्छिन्न और लोकविशेष में निवास करने वाला होता है। अतः वह उपासक उपासना के बल पर एक देश से देशान्तर ले जाया जा सकता है। अद्वैत ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार प्राप्त करने वाले तत्त्ववेत्ता के लिए न कोई अन्य गम्य रह जाता है, न उसकी गति रहती है। अतः भास्करभणित निदर्शन अत्यन्त असंगत और असम्बद्ध है। विद्वान् में भिन्न शरीर की निवृत्तिपर्यन्त ही संसारी धर्मों का सम्बन्ध रहता है। तत्पश्चात् न लिंगशरीर का और न संसारी धर्मों का सम्बन्ध रहता है। अतः उसकी गति सम्भव नहीं। उसकी उत्क्रान्ति का निषेध भी किया गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते।' तत्त्व-साक्षात्कार और ब्रह्मप्राप्ति दोनों की समानकालता श्रुत है—'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'।[२१७] ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर मोक्ष के लिए और कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता जिसके लिए उसे और अधिक उपासना की आवश्यकता हो तथा उसके फल की प्राप्ति के लिए प्रयास करने की आवश्यकता पड़े।

(१८) जीवन्मुक्तिसमीक्षा

भास्कराचार्य ने जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए कहा है कि अविद्यानिवृत्ति को मोक्ष मानना सम्भव नहीं क्योंकि जीवित विद्वान् में अविद्यानिवृत्ति की सम्भावना नहीं होती। अतः जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं। विद्या का उदय होने पर अविद्या की निवृत्ति मानी गई है। वह अविद्या क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसमें प्रमाण क्या है? अविद्या का आधार कौन है?—इन प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक नहीं मिल पाता। मायावादी माया को ही अज्ञान कहा करते हैं। कुछ लोगों ने माया व अविद्या को भिन्न कहा है। अविद्या प्रतिपुरुष एक है या अनेक? यह अविद्या अनेक है तो अविद्या पदार्थ बन जायगी और उसकी अनिर्वचनीयता की हानि होगी। यदि एक है तो एक साथ सबकी मुक्ति का प्रसंग उपस्थित होगा।

यदि ईश्वर में अविद्या मानें तो यह सम्भव नहीं क्योंकि ईश्वर में अविद्या मानने पर ईश्वरता का ही व्याघात होगा। अविद्या को जीवाश्रित भी नहीं मान सकते क्योंकि जीव को वेदान्त अवस्तु मानता है और अवस्तु अविद्या का आश्रय बन नहीं सकती।

अन्ततोगत्वा अनात्म देहादि में आत्मत्व-प्रतिपत्ति तथा ब्रह्मस्वरूप की अप्रतिपत्ति को ही अविद्या मानना होगा और इस अविद्या की सम्यक् ज्ञान द्वारा निवृत्ति माननी होगी। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने पर उसका यावज्जीवन अभ्यास करने से वह सम्यग्ज्ञान परिपक्व होकर मुक्तिक्षम होता है, यही शास्त्र से ज्ञात होता है। सम्यक् ज्ञान यद्यपि दृष्टार्थक है तथापि वह सम्यक् ज्ञान अपुनर्जन्म का कारण है, यह बात केवल शास्त्र से समधिगम्य है, अन्यथा सम्यक् ज्ञान के द्वारा तिरोभूत अविद्याशक्ति भी पुनः उद्भूत हो सकती है, जिस प्रकार सुषुप्ति और प्रलय में तिरोभूत अविद्याशक्ति जाग्रत् दशा में तथा पुनः सृष्टि में प्रादुर्भूत हो जाती है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित सकल-कर्मक्षय सम्यक् ज्ञान के अभ्यास पर ही निर्भर है और इसी के लिए प्रतिवेदान्त 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' 'ओमित्येवात्मानं ध्यायथ' इत्यादि उपासनाओं का विधान है। अतः यह निश्चित है कि तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा आत्मस्वरूप विषयक ज्ञान उत्पन्न होने पर भी यावज्जीवन समान प्रत्यावृत्तिरूप उपासना करना आवश्यक है।

जो लोग यह मानते हैं कि ब्रह्मज्ञानी का उपासना तथा आश्रम कर्मों का अधिकार नहीं रहता, वह भी केवल सिद्धान्तमात्र है, क्योंकि मुक्ति के लिए अनेक जन्मों में प्रवृत्त अज्ञानजन्य स्वाभाविक कर्मवासना, मल आदि के अपकर्ष की आवश्यकता है। अतः उनकी निवृत्ति के लिए अभ्यास आवश्यक है। यदि ब्रह्मज्ञानी का कर्मों में अधिकार नहीं होता तो भोजन, शौच, आचमन आदि में भी उसकी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि वह जीवन्मुक्त ब्रह्मरूप बन गया है, अतः किसी भी कर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् कुछ कर्म का परित्याग कर दिया जाय, कुछ का नहीं, यह अर्धजरतीन्याय उचित नहीं। यह तो शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन कर स्वच्छन्द कल्पना है। अतः जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त असंगत है।

दूसरी बात यह है कि 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'[११८] आदि श्रुतियों में समान-कर्तृक पूर्वकालार्थक 'क्त्वा' प्रत्यय का प्रयोग सिद्ध कर रहा है कि ब्रह्मज्ञान के उत्तरकाल में मोक्ष की प्राप्ति होती है, समान काल में नहीं। उत्तरकाल की अवधि निर्धारित करने के लिए 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'[११९] आदि श्रुतियों ने संकेत किया है कि जब तक शरीर है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उसके पश्चात् ही हुआ करती है। अतः जीवनकाल में विद्वान् मुक्त नहीं हो सकता, जीवन्मुक्ति की सिद्धि नहीं होती।

भास्कर के व्याख्यान का प्रत्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं* कि ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्मभाव श्रुतिसम्मत है। विद्या और ब्रह्म की प्राप्ति की समानकालता श्रुति ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है— "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डक०, ३।२।९), "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तैत्तिरीय०, २।९), "तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मीति तत्सर्वमभवत्" (वाज-सनेयिब्रा० उ० १।४।१०), "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।" (ईशावास्य०, ७) इस प्रकार श्रुति ने ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मरूप मोक्ष की प्राप्ति में पौर्वापर्य नहीं बतलाया है। यदि ब्रह्मज्ञानी को मुक्त नहीं मानेंगे तो उक्त श्रुतियों से विरोध की प्रसक्ति होगी।

विद्वान् को उपासनादि तथा आश्रम कर्म उस अवस्था में अनपेक्षित होते हैं क्योंकि वे उपास्य-उपासक, ब्रह्म-क्षत्र आदि भेद पर आश्रित होते हैं। शम, दम आदि किसी भेद-भावना पर आश्रित न होने के कारण विद्वान् में बने रह सकते हैं क्योंकि उसकी शारीरिक क्रियाओं का शम, दम आदि के नियंत्रण में आबद्ध रहना उसका स्वभाव बन चुका होता है। प्रारब्ध कर्मों का क्षय न होने से शरीर-धारण तथा तदपेक्षित शौच, आचमन आदि क्रियाओं की विद्यमानता उसमें सूपपन्न है। अतः किसी प्रकार की शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता।

अविद्या की आधारता, एकता या अनेकता आदि के विषय में पहले ही पर्याप्त कहा जा चुका है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि अनिर्वचनीयता ही अनादि अविद्या का स्वरूप है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र ही यह सिद्ध कर रहा है कि जीव को ब्रह्म का ज्ञान नहीं है अर्थात् उसमें ब्रह्मविषयक अज्ञान है, अविद्या है। अतः जीव अविद्या का आधार है।[२२०]

(१९) प्राणमयादि शब्दों में स्वार्थिक मयट् प्रत्यय का निराकरण

आनन्दमयाधिकरण[२२१] में 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः', 'तस्माद् वा एतस्माद् अन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः', 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः', 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'—इन औपनिषद वाक्यों[२२२] में विद्यमान मयट् को आचार्य शंकर ने विकारार्थक माना है।[२२३] इसी प्रकार 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तैत्ति० २।५), इस श्रुति के आनन्दमय शब्द में विद्यमान 'मयट्' प्रत्यय का भी 'विकार' अर्थ आचार्य शंकर को अभिप्रेत है।

भास्कराचार्य ने शंकर के उपर्युक्त अभिमत से असहमति प्रदर्शित करते हुए कहा है, इस प्रकार का अर्थ न तो श्रुति को अभिप्रेत है और न सूत्रकार को ही, यह तो सर्वथा मनःकल्पित और हेत्वाभासविजृम्भित है। 'अन्नमय' शब्द में विद्यमान मयट् प्रत्यय अवश्य ही विकारार्थक है किन्तु प्राणमयादि शब्दों में उसका 'विकार' अर्थ कदापि नहीं है। 'प्रायः' पाठ की परिपाटी की दुहाई देकर प्राणमयादिशब्दस्थ मयट् प्रत्यय का 'विकार' अर्थ करना उचित नहीं क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सभी मयट् प्रत्ययों का एक ही अर्थ हो। प्रकरण, सन्दर्भ एवं अन्यान्य परिस्थितियों का जैसा अनुरोध होता है, उसके अनुसार शब्दार्थ का निर्णय किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में मयट् प्रत्यय का प्रयोग स्वार्थ में ही विवक्षित है।[२२४]

भास्कर के उक्त आक्षेप का परिहार भामतीकार ने आनन्दमयाधिकरण के प्रारम्भ में ही कर डाला है। उनका कहना है कि प्राणमय मनोमय आदि शब्दों में 'मयट्' का 'विकार' अर्थ मान करके ही सामञ्जस्य किया जा सकता है। प्राणरूपोपाधि से अवच्छिन्न आत्मा को प्राणों का विकार और मनोऽवच्छिन्न आत्मा को मन का विकार माना जा सकता है। मयट् प्रत्यय का जब विकार अर्थ उपलब्ध हो रहा है, तब उस अर्थ की उपेक्षा कर प्राणमयादि शब्दों में स्वार्थपरक मयट् प्रत्यय को मानना सर्वथा अनुचित है।*

यहाँ वाचस्पति की दृष्टि सर्वथा युक्तियुक्त है। 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः

तु प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'—इस व्याकरण-नियम के आधार पर प्रत्यय का अर्थ प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रधान माना जाता है। प्रत्ययार्थ की वहीं अविवक्षा होती है जहाँ और कोई गति नहीं रहती। जैसे 'चिन्मयः', 'देवता' आदि शब्दों में प्रत्ययों का कोई अर्थ-विशेष सम्भव नहीं होता। चेतन पुरुष का विकार चिन्मय शब्द से और देव शब्द का भाव देवता शब्द से कहा जाना सम्भव नहीं। अतः ऐसे स्थलों पर अवश्य मान लिया जाता है कि प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त अर्थ-समर्पण नहीं कर सकता, अतः स्वार्थमात्र-परक है। प्रस्तुत प्रसंग में प्राणमयादि शब्दों में मयट् प्रत्यय विकारार्थक होकर जब सार्थक हो सकता है तब उसे निरर्थक मानना सर्वथा अनुचित है।

(२०) वृत्तिकार के उपास्यकर्मदेशसिद्धान्त की समीक्षा

आनन्दमयाधिकरण में ही वृत्तिकार उपवर्षाचार्य ने 'उपास्यकर्मदेश' सिद्धान्ततः प्रतिपादित किया है। निर्गुण ब्रह्म भी उपास्य हो सकता है—वृत्तिकार का अपना यह सिद्धान्त है। किन्तु इसकी असम्भावना दिखाते हुए शंकराचार्य ने ज्ञेय ब्रह्म का निर्देश माना है।

वृत्तिकार के सिद्धान्त के प्रतिरोधाधिकार को भास्कर का प्रखर वर्चस्व सहन नहीं कर सका। शांकर अपराध को स्मृतिपटल पर लाया गया और 'केचिदिमं सिद्धान्तं दूषयित्वा पुच्छं ब्रह्म प्रतिपादनाय यतन्ते'[२२५]—यह कह भी दिया गया। भास्कर का आक्षेप है कि शंकर 'आनन्दमय' को ब्रह्म न मानकर आनन्दमयकोश के अन्दर ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं जिसका प्रतिपादन 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस रूप से उसी प्रकरण में किया गया है और इसी अनुरोधवश वे (शंकर) 'पुच्छ' को 'आनन्दमय' का अवयव न मानकर अधिकरणपरक मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने पर 'पुच्छ' शब्द के मुख्यार्थ का उल्लंघन मानना होगा। अतः आनन्दमय से भिन्न ब्रह्म न मानकर आनन्दमय को ही ब्रह्म मानना चाहिए।

वाचस्पति मिश्र ने इस विवाद को शिष्ट परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया है तथा दोनों पक्षों के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए अनुरोध किया है कि इस तथ्य का विश्लेषण हंस-विवेक के प्रकाश में किया जाय—'कृतबुद्धय एव विदांकुर्वन्तु।'[२२६] उनका कथन है कि आनन्दमय कोश के अन्दर आनन्दमय से भिन्न ब्रह्म को मानने पर केवल 'पुच्छ' शब्द के मुख्यार्थ का बाध ही मानना पड़ता है, अर्थात् उसे अधिकरणपरक मानना होता है जबकि आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर तथा पुच्छ को अवयववाची स्वीकार करने पर भी 'पुच्छ' शब्द के मुख्यार्थबाध से मुक्ति मिलना तो दूर, साथ ही 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' में ब्रह्मपद, आनन्दमय पद तथा आनन्द पद—इन तीनों के मुख्यार्थ का भी उल्लंघन और गले पड़ जायगा क्योंकि आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर पुच्छ के अवयववाची होने से तद्-विशेषणीभूत 'ब्रह्म' शब्द को भी ब्रह्मावयवपरक मानना होगा तथा इस प्रकार ब्रह्म शब्द के मुख्यार्थ का लंघन होगा; यदि 'आनन्दमय' ही ब्रह्म है तो तत्रस्थ विकारार्थक मयट् प्रत्यय का उल्लंघन होगा क्योंकि ब्रह्म विकारी नहीं अविकारी है। इसी प्रकार इस प्रकरण में 'आनन्द आत्मा' श्रुतिस्थ 'आनन्द' शब्द के मुख्यार्थ का बाध होगा तथा उसे आनन्दमय-

परक मानना होगा। इसी प्रकार आनन्दमय को ब्रह्म (आत्मा) मानने वाले भास्करादि के पक्ष में उपर्युक्त तीन दोष और आ जाते हैं। अतः 'आनन्दमय' ब्रह्म नहीं अपितु तद्भिन्न 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' में निर्दिष्ट ब्रह्म ही ब्रह्म है, यह सिद्धान्त सूपपन्न है। इसी आशय से कहा है—

"प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलंघनम्।
पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम्॥"

इसी तथ्य को वेदान्तकल्पतरूकार ने भी स्पष्ट किया है।[११७]

(२१) 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द का अर्थ

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'[११८] इस श्रुति में विद्यमान 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द के अर्थ के विषय में कर्मकाण्डी विद्वानों तथा कर्मत्यागी विद्वानों में मतभेद रहा है। कर्मकाण्ड-वादियों के अनुसार 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द किसी वस्तुविशेष में रूढ नहीं है, जैसे 'अश्वकर्ण' शब्द शालवृक्ष में रूढ़ होता है जैसाकि निघण्टु में कहा गया है।[११९] अश्वकर्णशब्दगत प्रकृति और प्रत्यय से उस अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार यदि 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द अवयवार्थ-निरपेक्ष किसी पद विशेष में रूढ है, तब ब्रह्मसंस्थ नाम के पद की प्राप्तिमात्र से अमृतत्व (मोक्ष) का लाभ हो जाता है। वैसा हो जाने पर 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'[१२०] आदि वाक्यों का विरोध प्रसक्त होता है। अतः, भास्कर कहते हैं, 'ब्रह्म-संस्थ' शब्द को पाचकादि शब्दों के समान यौगिक मानना होगा तथा इसका अर्थ होगा—'ब्रह्मणि संस्था यस्य सः' अर्थात् ब्रह्म में जिसकी निष्ठा हो उसे ब्रह्मसंस्थ कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचारी भी हो सकता है, गृहस्थ भी और वानप्रस्थ भी। इन्हीं तीन आश्रमों में ब्रह्मसंस्थता जब सुलभ हो जाती है, तब ब्रह्मसंस्थ नाम के चतुर्थ आश्रम की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तथा कर्मत्याग का उपदेश सर्वथा अनुचित है।

कर्मकाण्ड के पक्षधर भास्करादि विद्वानों के निर्णय को चुनौती देते हुए वाचस्पति मिश्र की दृष्टि है[१२१] कि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१)—इस श्रुति के आगे तीनों धर्मस्कन्धों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि यज्ञ, अध्ययन तथा दान—यह पहला धर्मस्कन्ध है, तप द्वितीय धर्मस्कन्ध है तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक एकान्ततः आचार्यकुल में वास तृतीय धर्मस्कन्ध है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों के असाधारण धर्मों का निरूपण किया गया है। इसके आगे 'त्रय एते पुण्यलोका भवन्ति'—यह बतलाकर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २।२३।१)—इस रूप से चतुर्थ ब्रह्मसंस्थ आश्रम का निरूपण किया गया है। ब्रह्मसंस्थ शब्द को, ब्रह्म में जिसकी निष्ठा है, इस प्रकार यौगिक मानने पर ब्रह्मसंस्थता किसी आश्रमविशेष का धर्म नहीं कहलायेगा अपितु तीनों आश्रमों का साधारण धर्म होगा, जो प्रकृतविरुद्ध होगा क्योंकि प्रकृत में इससे पूर्व तीनों आश्रमों के विशेष धर्मों का प्रतिपादन हुआ है, न कि आश्रमान्तर साधारण धर्मों का। तप शब्द को संन्यासी का असाधारण धर्म मानकर तप शब्द से ही संन्यास का ग्रहण उचित नहीं है क्योंकि भिक्षु का असाधारण धर्म कायक्लेशप्रधान तप नहीं है अपितु इन्द्रियसंयम

है जिसका तप से ग्रहण नहीं हो सकता। ब्रह्मसंस्थ शब्द को यौगिक मानने पर आश्रमों के चार होने पर भी केवल तीन आश्रमों की प्रतिज्ञा तथा निरूपण भी संगत नहीं। तीसरी बात यह भी है कि ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों का निरूपण करने के पश्चात् 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्'—इस श्रुति के द्वारा अमृतत्वभाक् ब्रह्मसंस्थ का पुण्यलोकभागी तीनों आश्रमियों से भेदव्यपदेश किया गया है। यह भेदव्यपदेश भी ब्रह्मसंस्थ को यौगिक मानकर आश्रमत्रयपरक मानने पर सम्भव नहीं। अतः ब्रह्मसंस्थ शब्द को अश्वकर्णादि के समान रूढ मानकर सन्यास आश्रम का वाचक ही मानना चाहिए। ब्रह्मसंस्थता संन्यास का असाधारण धर्म है जिस प्रकार यज्ञादि गृहस्थ का, आचार्य कुलवसित्व ब्रह्मचर्य का तथा तप वानप्रस्थ का है। शंकर ने ब्रह्मसंस्थ को संन्यासपरक सिद्ध करते हुए 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) इस श्रुति का उदाहरणरूप से उपन्यास किया है तथा न्यास शब्द से कर्मसंन्यास का ग्रहण किया है।[२३] भास्कर ने इसका निराकरण करते हुए न्यास शब्द को ब्रह्म का वाची बताया है[२४], न कि कर्मसंन्यास का, और कहा है कि भाष्यकार का यह उदाहरण समीचीन नहीं है। वाचस्पति ने भास्कर के इस कथन को असंगत ठहराते हुए कहा कि उपर्युक्त श्रुति का अर्थ भास्कर समझा ही नहीं। श्रुति का तात्पर्य यह है कि सर्वसंगपरित्याग न्यास है और उस न्यास को ब्रह्मा इसलिए बतलाया गया है कि ब्रह्मा औरों से उत्कृष्ट होता है। न्यास (संन्यास) भी औरों से उत्कृष्ट है, अतः उसे ब्रह्मा गया है। न्यास किससे उत्कृष्ट है, यह बात श्रुति में ही बता दी गई है कि 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) अर्थात् संन्यास अवर तपों से उत्कृष्ट है। अतः उत्कृष्ट होने से संन्यास को ब्रह्म कहना उचित है। इस प्रकार का न्यास भिक्षु का असाधारण धर्म, है न कि अन्य आश्रमियों का। अतः ब्रह्मसंस्थ से संन्यासाश्रमी का ग्रहण ही उचित है।

(८) पाशुपतमत-समीक्षा

(क) ईश्वर की आलोचना

मायाविशिष्ट चेतन में जगत् की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता का समर्थन करने के लिए वेदान्तिगण ईश्वर की केवल निमित्तकारणता का निरास किया करते हैं। सूत्रकार महर्षि व्यास ने भी 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (ब्र० सू० २।२।३७) सूत्र की रचना इसीलिए की। आचार्य शंकर ने सूत्रकार के भावों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं पाशुपतसम्मत ईश्वर में जगत् की केवलनिमित्तकारणता का असामञ्जस्य दिखाया है।

वाचस्पति मिश्र ने कुछ और आगे बढ़कर ईश्वर, उसके स्वभाव और जगत् के साथ उसके सम्बन्धों की असमञ्जस चर्चा इस ढंग से की कि फिर उसके परिमार्जन की आवश्यकता न हो (क्योंकि 'भामती' के पश्चात् सम्भवतः किसी ग्रन्थ या द्वैतवाद के किसी

ग्रन्थ पर कुछ लिखने का समय सुलभ न हो सके)। उक्त सूत्र की 'भामती' के शब्दों और भावों के अनुसार ही जैनाचार्यों ने ईश्वर का खण्डन किया है और कहा है कि ईश्वर एक है, नित्य है, स्वतन्त्र है, जगत् का कर्ता है—इस प्रकार के अनुपपन्न सिद्धान्त उन्हीं व्यक्तियों के हैं जो कि वर्द्धमान महावीर के अनुशासन के बाहर हैं।[१३४] हेमचन्द्राचार्य के इस वक्तव्य का विवरण करते हुए मल्लिषेण ने वाचस्पति मिश्र के ही शब्दों में[१३५] में कहा है[१३६] कि ईश्वर यदि करुणा से अनुप्राणित होकर विश्व की रचना करता है तब उसे सुख एवं सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए, दुःख एवं दुःखी प्राणियों की नहीं। दूसरी बात यह भी है कि करुणा का उदय दुःखमय प्रपञ्च के अवलोकन के पश्चात् होता है और करुणा का उदय हो जाने पर जगत् की रचना होगी—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष भी है। प्राणिकर्मों के अधीन यदि यदि सुख-दुःखमय जगत् की रचना करता है, तब ईश्वर का ईश्वरत्व (स्वतन्त्रता) समाप्त हो जाता है।

(ख) अंशांशिभाव-समीक्षा

अंशाधिकरण[१३७] में ब्रह्म और जीव का अंशांशिभाव सूत्रों में समर्थित-सा प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने औपाधिक अंशांशिभाव का प्रतिपादन करते हुए सूत्राक्षरों की योजना किसी-न-किसी प्रकार की है। वाचस्पति मिश्र ने अवसर पाकर भास्कराचार्य एवं उनके पूर्ववर्ती वृत्तिकार आदि विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित भेदाभेदवाद की गम्भीर आलोचना कर डाली है। उनका कहना है कि अग्नि और उसके स्फुलिंग, सूर्य और उसकी रश्मियों का जैसे अंशांशिभाव सम्बन्ध होता है, उस प्रकार ब्रह्म और जीव का अंशांशि-भाव सम्भव नहीं। तार्किक पद्धति के आधार पर तन्तु अंश है और पट अंशी। पट का आश्रय तन्तु है, पट तन्तुओं के अधीन माना जाता है। इसी प्रकार जीव यदि अंश है और ब्रह्म अंशी तो ब्रह्म का आश्रय जीव एवं जीव के अधीन ब्रह्म आदि असंगत कल्पनाएँ प्रसक्त हो जाती हैं। अतः 'ममैवांशो जीवलोके...'[१३८] आदि स्मृति-वाक्य जीव और ब्रह्म का अंशांशिभाव केवल औपाधिक रूप से ही प्रतिपादित करते हैं, मुख्य रूप से नहीं। अंशांशिभाव का मुख्य रूप से प्रतिपादन मानने पर इस पक्ष में सावयवत्व, अनित्यत्व, सादित्व, सान्तत्व आदि दोष प्रसक्त होते हैं। अतः जैसे विविध पात्रों में भरे हुए जल में सूर्य और चन्द्र के जैसे अनेक प्रतिबिम्ब दिखायी देते हैं और उनमें अंशांशिभाव व्यवहृत होता है, उसी प्रकार अनन्त अज्ञानों में ब्रह्म के अनेक जीवरूप प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं और उनमें अंशांशिभाव व्यवहृत होता है। ब्रह्म और जीव दो भिन्न तत्त्व नहीं अपितु ब्रह्म ही उपाधियों से ग्रस्त होकर जीव कहलाता है। अतः जीव-ब्रह्म का तन्तु-पट आदि के समान अंशांशिभाव नितान्त असम्भव है।[१३९] भेदाभेदवादियों ने मुख्य रूप से जीव को परमाणु-परिमाण का मानकर व्यापक ब्रह्म का अंश सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह उपनिषद्-विरुद्ध और अयुक्त प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने भी भेदाभेद की चर्चा उठाकर उसका प्रतिवाद किया है। सम्भवतः उनसे पहले वृत्तिकार आदि विद्वानों का वह मत रहा होगा। किन्तु स्वरसतः उपनिषद्-वाक्य उसके पक्ष में प्रतीत नहीं होते। अतएव वाचस्पति ने अंशांशिवाद की खरी आलोचना कर डाली है।[१४०]

(आ) 'भामती' के आलोचक

वाचस्पत्य मत की कतिपय आलोचनाएँ भी आगे चलकर हुईं, जो उसकी अनुप्रेक्षणीयता और सुदृढिमा की सूचक हैं। स्थाली-पुलाकन्याय से कुछ परवर्ती वेदान्ताचार्यों द्वारा की गई वाचस्पत्य व्याख्यान की आलोचनाएँ संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

१. प्रकटार्थकार

शांकरभाष्य का एक व्याख्यान प्रकटार्थविवरण के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्ता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है।[२४१] इसका निर्माण-काल इतिहासवेत्ताओं ने १२वीं शताब्दी निश्चित किया है।[२४२] प्रकटार्थकार ने वाचस्पति के मत पर कुछ गम्भीर आक्षेप किए हैं। यथा—

(१) अविद्याश्रय

'सोऽकामयत' 'तदैक्षत' आदि श्रुतिवाक्यों को प्रस्तुत कर उन्होंने प्रश्न उठाया है कि उक्त श्रुतियों में 'तत्' पद से किसका ग्रहण किया गया है—ईश्वर का या जीव का? वाचस्पति के मत से ईश्वर का ग्रहण सम्भव नहीं क्योंकि कोई भी शक्ति अपने आश्रय में कार्य को जन्म दिया करती है, जैसे दाहशक्ति अग्नि के आश्रित ही दाहादि कार्य किया करती है। सुवर्ण अपने आश्रयभूत अवयवों में कटकादि कार्य को जन्म दिया करता है, अन्यत्र नहीं। तार्किक सिद्धान्त में आत्मा में रहने वाले पुण्य-पाप आत्मा में ही अपना सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न करते हैं, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार अविद्या भी अपने आश्रय में प्रपंच को जन्म दे सकेगी, अन्यत्र नहीं। प्रपंच की पहली सृष्टि जिसे ईक्षण कहा जाता है, उसका जन्म जीव में माना जाए या ईश्वर में? वाचस्पति ईश्वर में नहीं मान सकते क्योंकि वे ईश्वर को अविद्या का आश्रय नहीं मानते। अविद्या का आश्रय है जीव। अतः ईक्षण जीवाश्रित हो सकता है, जीव ही उस ईक्षण का कर्ता माना जा सकता है। ईक्षण से लेकर महाभूतपर्यन्त एवं भौतिक सृष्टि का कर्ता जीव ही बन जाता है। फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता? दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वाचस्पति अनीश्वरवादी है, उन्होंने ईश्वर का अपलाप कर दिया है, उसे निरर्थक सिद्ध कर दिया है। उनके मत से ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है। अतः उनसे पूछा जा सकता है कि ईश्वर की क्या आवश्यकता?[२४३] प्रकटार्थकार की इस शंका को परिमलकार ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[२४४]

प्रकटार्थकार के इस आक्षेप का परिहार करते हुए कल्पतरुकार ने इंगित किया है[२४५] कि जब वाचस्पति मिश्र ईश्वर या ब्रह्म को अज्ञान का विषय मानते हैं, तब वह अज्ञान अपने विषय में सृष्टि उत्पन्न कर सकता है, आश्रय में नहीं, जैसे कि दर्शकों के अज्ञान का विषय ऐन्द्रजालिक होता है तथा वहाँ इन्द्रजाल या माया का कार्य ऐन्द्रजालिक में ही देखा जाता है, दर्शकों में नहीं, इसी प्रकार जीवाश्रित अज्ञान का कार्य ईश्वर में वाचस्पति मिश्र यदि मानते हैं, तब क्या दोष?

यहां पर विचारणीय है कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, कृति और अज्ञान सविषयक पदार्थ माने जाते हैं। अज्ञान को छोड़कर सभी सविषयक पदार्थ अपने आश्रय और विषय दोनों में कार्य के उत्पादक होते हैं, जैसे देवदत्तगत फल का ज्ञान फल की इच्छा को जन्म देता है, वह इच्छा देवदत्त में ही उत्पन्न होती है, विषयभूत फल मे नहीं। किन्तु वही ज्ञान ज्ञाततारूप कार्य को फल में प्रसूत करता है। इस प्रकार ज्ञान कुछ कार्य अपने आश्रय में एवं कुछ कार्य अपने विषय में उत्पन्न करता रहता है। इच्छा कृति को जन्म देती है। वह कृति उसी इच्छुक में पाई जाती है। किन्तु फल तोड़ा जाता है, इच्छा ने टूटने की क्रिया अपने विषयभूत फल में उत्पन्न की। द्वेष अपने आश्रय में यदि क्रोध को जन्म देता है, तब शस्त्रप्रहार अपने विषय शत्रु पर होता है। कृति घटादि को जन्म देती है कपालों में, जबकि क्रिया को जन्म देती है शरीर में, वह अपने आश्रय में बहुत कम कार्य को जन्म दिया करती है। यदि कार्य पद से परिणामात्मक कार्य का ग्रहण किया जाए तब भी अन्तःकरण अपने परिणाम को घटादि विषय पर जन्म किया करता है और परोक्षवृत्ति को प्रमाता में ही। इसी प्रकार प्रत्येक कारण कार्य को जन्म देता है; किन्तु यह नियम नहीं होता कि एकान्ततः अपने आश्रय या विषय में ही कार्य को जन्म दे, अपितु योग्यता के आधार पर कार्य को जन्म दिया जाता है। वह कार्य कभी स्वाश्रयाश्रित होता है और कभी स्वविषयाश्रित। इसी प्रकार अविद्या अपने प्रपच को जन्म अपने विषयीभूत ईश्वर में ही यदि देती है, तब किसी प्रकार वाचस्पत्यमत असगत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार का समाधान करते हुए अप्पयदीक्षित ने कहा है कि जिस प्रकार शुक्ति का ज्ञान अपने विषयभूत शुक्ति में रजतकार्य को जन्म देता है, उसी प्रकार जीवाज्ञान भी अपने विषयभूत ईश्वर में प्रपंच को जन्म दे डालता है।[२४६]

(२) 'कुशा' शब्द-लिंग-निर्णय

'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्' (ब्र० सू० ३।३।२६) सूत्र को 'कुशाछन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्'[२४७] इस भाष्य-पंक्ति में कुशा और छन्द के मध्य में दीर्घ 'आ'-कार का प्रश्लेष करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है— "छन्द एवाच्छन्दः, आच्छादनादाच्छन्दो भवति।"[२४८] इस पर कटाक्ष करते हुए प्रकटार्थकार ने कहा है—"अत्र समिधः कुशा इत्युच्यन्ते। औदुम्बरा इति विशेषणात् समिद्वाची कुशाशब्दोऽन्य एव स्त्रीलिंग इति लिंगानभिज्ञानाद् वाचस्पतिः पदं चिच्छेद"[२४९] अर्थात् 'कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्' इस पंक्ति में 'कुशा' शब्द को स्त्रीलिंग रखा गया है। स्तोत्रगत ऋचाओं की आवृत्ति का परिगणन करने के लिए पलाश की लकड़ियों के छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर रख लिए जाते हैं। उन्हीं टुकड़ों को कहा जाता है—कुशा। यह 'कुशा' शब्द स्त्रीलिंग होता है। सम्भवतः वाचस्पति मिश्र को इस शब्द का ज्ञान नहीं था। इसीलिए दीर्घाकार का प्रश्लेष पहले छन्द के पहले आङ् जोड़कर उन्होंने किया है।

प्रकटार्थकार के इस जघन्य आक्षेप पर क्रोध प्रकट करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है—

पदवाक्यप्रमाणाब्धेः परं पारमुपेयुषः ।
वाचस्पतेरियत्यर्थेऽप्यबोध इति साहसम् ॥[२५०]

अर्थात् पदशास्त्र (व्याकरण), वाक्यशास्त्र (मीमांसा), प्रमाणशास्त्र (न्याय)—इन तीनों शास्त्रोदधियों के पारंगत आचार्य वाचस्पति के ऊपर इस प्रकार प्रकटार्थकार द्वारा समुद्भावित लिंगानभिज्ञता का तुच्छ लांछन सर्वथा अनुचित एवं दुःसाहसपूर्ण कार्य है। यहाँ प्रसिद्ध दर्भवाची 'कुशा' शब्द का प्रयोग कुशसम्बन्ध से ही समिधाओं में लाक्षणिक रूप से हुआ है। अर्थात् समिद्वाची 'कुशा' शब्द 'कुश' शब्द से पृथक् नहीं है। किन्तु लक्षणया दर्भवाची 'कुश' शब्द ही समिधाओं के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे यज्ञसम्बन्ध से गार्हपत्य में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग।[२५१]

(३) मुक्तजीव की अपुनरावृत्ति

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।२२)—इस सूत्र में सूत्रकार एवं भाष्यकार के अभिप्राय के अनुसार अनावृत्त अतएव अविद्यासंस्पर्शरहित ब्रह्म की प्राप्ति से जीव कृतकृत्य हो जाता है, फिर वह संसार में नहीं आता क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९)—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो जाता है। श्रुति ने कहा है—'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) ब्रह्मीभूत जीव फिर संसार में नहीं आता। यहाँ देखना यह है कि किस प्रकार के ब्रह्म का स्वरूप होकर जीव आवृत्ति से छूट जाता है। सभी ने एकमत से निर्णय किया है कि अविद्यारहित ब्रह्म का स्वरूप हो जाने पर आवृत्ति नहीं होती। अविद्यारहित ब्रह्म ही मुक्तोपसृप्य बताया गया है, जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (ब्र० सू० ४।४।१९)। श्रुति भी उसी का साक्ष्य प्रदान कर रही है—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) अर्थात् ब्रह्म के एक चरण या चतुर्थांश में माया और मायिक प्रपंच स्थित है। उसको छोड़कर त्रिपात् भाग मायारहित विशुद्ध माना जाता है। उसी विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर जीव नित्यमुक्त हो जाता है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र के मत में ब्रह्म जीवाश्रित अविद्या का विषय होने के कारण कभी भी मायातीत, त्रिगुणातीत, अविद्यामलरहित संभव नहीं। जीव मोक्षावस्था में भी उसी ब्रह्म का स्वरूप होगा जो कि दूसरे जीवों के अज्ञान का विषय है। अतः अविद्या और ब्रह्म की प्राप्ति होने से मुक्त की अनावृत्ति न होकर आवृत्ति ही होगी, इस प्रकार का आक्षेप वाचस्पति मिश्र के मत पर प्रकटार्थकार ने किया है—"वाचस्पतेस्तु स्वाविद्यानाशेन ब्रह्मीभूतस्यापि ईशितृत्वं न व्यावर्तते, जीवाविद्याभिरेव ब्रह्मणः सर्वांश-(सर्वदर्शि)-त्वाभ्युपगमात्। तदा च 'यत्र नान्यत्पश्यति' 'यत्र त्वस्य' इत्यादिश्रुतिविरोधः। जीवाश्च पुनः ब्रह्मणा जगदाद्युत्पत्तीः कल्पयन्तीति तद्भावापन्नस्य पुनर्देहाद्यात्मतापत्तावपुनरावृत्तिश्रुतिबाधः।"[२५२] अर्थात् वाचस्पति मिश्र ने 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञता का ईश्वर में सामञ्जस्य करते हुए कहा है कि जीवाश्रित अज्ञान के विषयीभूत ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व होता है। अज्ञान अपने आश्रय में भी कार्य को

जन्म देता है और विषय में भी, यह कहा जा चुका है। ब्रह्म अज्ञान का विषय पूर्णतया रहेगा, उसके साथ तादात्म्यापन्न जीव जगद्रचनाक्रान्त हो पुनः पुनः संसार में ही संसरण करता रहेगा। फिर तो मुक्त जीव की अपुनरावृत्तिता की प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है।

प्रकटार्थविवरण का यह कथन अत्यन्त युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वसमन्वित ब्रह्म का स्वरूप यदि जीव होता है, तब अवश्य उसकी पुनरावृत्ति होगी। जीव के अज्ञान की विषयता ही ब्रह्म की जगद्-रचना की नियामिका मानी जाती है। किन्तु जिस जीव के अज्ञान का नाश हो जाता है, उसके अज्ञान की विषयता ब्रह्म पर रहती है अथवा नहीं, यह अवश्य विचारणीय है। जिस प्रकार ज्ञान की विषयता या प्रकाश की घटाकारता तभी तक सम्भव है जब तक कि विषय और विषयी दोनों विद्यमान हों। दीपक के बुझ जाने पर उसकी घटकारता भी विलीन हो जाती है, ज्ञान के नष्ट हो जाने पर ज्ञान की विषयता भी अनुभूत नहीं होती। जो यह कहा जाता है कि अनुमान आदि ज्ञानों की विषयता त्रैकालिक पदार्थों पर रहती है, (जैसाकि सांख्य के आचार्यों ने कहा है—'त्रिकालमाभ्यन्तर करणम्')[५३] वह भी ज्ञान के होने पर ही विषयता का संग्राहक होता है। योगी योगज्ञान की सहायता से अतीतानागत विश्व की अभिज्ञा प्राप्त करता है, किन्तु योगज ज्ञान न होने पर वह सम्भव नहीं। इसी प्रकार यह एक स्थिर सिद्धान्त है कि अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उसकी विषयता कहीं पर भी नहीं रहा करती। विनष्ट अज्ञान अपने समस्त धर्मों और विकारों को भी साथ ही समाप्त कर दिया करता है। अविद्या या अज्ञान कार्य का उपादान कारण है, उपादान कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का अवशिष्ट रह जाना सम्भव नहीं। अतः उस अज्ञान की विषयता ब्रह्म पर कैसे रहेगी? मानना होगा कि जिस जीव का अज्ञान नष्ट हो गया उसकी विषयता से रहित विशुद्ध ब्रह्म उस जीव का प्राप्य और अधिगन्तव्य होता है। उस निर्विशेष विषयता एवं विषयताप्रयुक्तसर्वज्ञत्व, सर्वजगद्रचनाक्षमत्व आदि धर्म से रहित ब्रह्म की तादात्म्यापत्ति से पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। अतः 'न च पुनरावर्तते' आदि श्रुतियों का विरोध प्रस्तुत नहीं होता। इस प्रकार वाचस्पति के सिद्धान्त में मुक्त जीवों की पुनरावृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(४) विद्या का उदय

'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० ३।४।५१)—इस अधिकरण में भाष्यकार ने कहा है कि 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (३।४।२६)—इस श्रुति के द्वारा यज्ञादि कर्मों का उपयोग विद्या की उत्पत्ति में माना गया है। विद्या की उत्पत्ति इसी जन्म में होगी अथवा जन्मान्तर में अथवा इस विषय में अनियम है आदि प्रश्नों के उत्तर में सिद्धान्तवादी की ओर से कहा गया है कि विद्या के लिए अनियम है। प्रतिबन्धरहित श्रवणादि साधनों का फल विद्या है। यदि प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाए तब इस जन्म में विद्योदय नहीं हो सकता। प्रतिबन्ध निवृत्त होते ही विद्या का उदय होता है, जैसे कि वामदेव को गर्भावस्था में ही तत्त्वज्ञान हो गया था।[५४]

वाचस्पति मिश्र ने भाष्याभिप्राय का समर्थन करते हुए कहा है—"यत एवात्र विद्योत्पादे श्रवणादिभिः कर्तव्ये यज्ञादीनां···पुंसः प्रत्यनुपादत्वात्।"[२२५] श्रवणादि का फल भी अनियत ही माना जा सकता है क्योंकि यज्ञादिविधिप्रतिपादित कर्मों का फल, प्रतिबन्धनिवृत्ति अनियत है। प्रतिबन्धसहित श्रवणादि के द्वारा विद्या का लाभ नहीं हो सकता। प्रतिबन्धरहित श्रवणादि से ही विद्या का लाभ होगा।

वाचस्पति मिश्र के द्वारा इस वक्तव्य पर प्रकटार्थकार ने खेद प्रकट करते हुए कहा है—

विधिसामर्थ्यमाश्रित्य ब्रुवन्नामुत्रिकं फलम्।
श्रवणादेः कथंकारं वाचस्पति र्न लज्जते।[२२६]

अर्थात् फलविशेष और फल के विषय में कुछ भी चिन्तन का अधिकार विधि में ही किया जा सकता है। श्रवणादि का फल विद्या नियत है या अनियत, यह विचार भी तभी प्रवृत्त हो सकता है जबकि विद्या के उद्देश्य से श्रवण का विधान किया जाय। किन्तु वाचस्पति मिश्र यज्ञादि का उपयोग विविदिषा की उत्पत्ति में मानते हैं, विद्या की उत्पत्ति में नहीं। तब श्रवणविधि की फलभूत विद्या का विशेष विचार करते हुए वाचस्पति मिश्र को लज्जा क्यों नहीं आई?

कल्पतरुकार ने प्रकटार्थकार के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा है—"कैश्चित्कृत उपालम्भ एतद्ग्रन्थार्थालोचनेऽनवकाशः परावृत्य तत्रैव धावति"[२२७] अर्थात् वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य यही है कि प्रतिबन्ध निवृत होने पर विविदिषा के द्वारा विद्या का उदय होता है। विद्या के हेतु श्रवणादि हैं, उनसे विद्या का लाभ इस जन्म में देखा जाता है—जन्मान्तर में भी। श्रवणादि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ज्ञान के हेतु माने जा सकते हैं। अतः उनके लिए विधिवाक्य की विशेष आवश्यकता नहीं।

(५) श्रवण विधि

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'[२२८] इस वाक्य में प्रतिपादित श्रवणादि का विधान ब्रह्मसाक्षात्कार के उद्देश्य से किया जाता है अथवा नहीं, इस जिज्ञासा के उत्तर में कुछ आचार्यों ने श्रवणविधि मानी है और कुछ ने नहीं। वाचस्पति मिश्र के लिए प्रकटार्थकार का कहना है कि "वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः समन्वयसूत्रे श्रवणादिविधिं निराचचक्षे, अत्र तु तद्विधिमूरीचक्रे। अहो बतास्य पाण्डित्यम्। श्रवणादीनां च संन्यासाश्रमधर्मत्वात् तद्विधिं निराकुर्वन् सन्यासाश्रमायैव द्वेष्टि, विध्यभावे च अथशब्देन साधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिसूत्रणं चानुपपन्नम्। तस्माद् वाचस्पतिप्रलापमुपेक्ष्य यावत् साक्षात्कारं श्रवणादि विधितोऽनुष्ठेयम्"[२२९] अर्थात् वाचस्पति मण्डन का अन्धानुकरण करने वाला है, सूत्र और भाष्य के भावों से सर्वथा अनभिज्ञ है। समन्वय-सूत्र में श्रवणादि विधि का उसने निराकरण किया है और यहाँ[२३०] श्रवणादिविधि स्वीकार कर ली है। वाह! रे! इसका पाण्डित्य! श्रवणादि संन्यास-धर्म के मुख्य कर्तव्य हैं, श्रवणादि विधि के खण्डन के मूल में संन्यासा-

श्रम के प्रति द्वेषभावना छिपी हुई प्रतीत होती है। श्रवणादिविधि के न होने पर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इस सूत्र के 'अथ' शब्द के द्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी का निर्देश असंगत हो जाता है। इसलिए वाचस्पति के प्रलाप की उपेक्षा कर देनी चाहिए और श्रवण-विधि के आधार श्रवणादि का अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि ब्रह्मसाक्षात्कार न हो।

श्रवण-विधि की इस पहेली को सुलझाने के लिए आवश्यक है कि श्रवणादि विधि का स्वरूप जान लिया जाए और इस विषय में इन आचार्यों ने क्या माना है, यह भी निश्चित कर लिया जाए।

पूर्वमीमांसा में उस वाक्य को विधिवाक्य माना गया है जिसमें किसी अंग का किसी प्रधान के उद्देश्य से विधान किया गया है। उसके तीन भेद माने गए हैं–(१) अपूर्व विधि (२) नियम विधि (३) परिसंख्या विधि।[२६१]

(१) अपूर्व विधि—जिस कार्य के कर्त्तव्य का ज्ञान प्रस्तुत वाक्य से भिन्न पूर्व किसी प्रमाण से अवगत न हुआ हो, उस कर्म के विधायक प्रस्तुत वाक्य को अपूर्व विधि कहा जाता है, जैसे 'अग्निहोत्र जुहोति'—इस वाक्य के न होने पर अग्निहोत्र होम की कर्त्तव्यता किसी प्रमाणान्तर से अवगत नहीं है। अत: 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य अग्निहोत्र का अपूर्व विधिवाक्य माना जाता है। उसी प्रकार 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य:....' इस वाक्य में वे श्रवणादिपदोपलक्षितब्रह्मविचार की कर्त्तव्यता और किसी वाक्यान्तर से या प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से ज्ञात न होकर यदि इसी वाक्य से प्रतिपादित होती है, तब इस वाक्य को श्रवणादि का अपूर्वविधिवाक्य कहा जा सकता है।

(२) नियम विधि—जहाँ पर अनेक साधन किसी साध्य की सिद्धि के लिए लोकत: प्राप्त हैं, वहाँ केवल एक साधन का विधान करने वाले वाक्य को नियमविधि माना जाता है, जैसे धानों से चावल निकालने के लिए लौकिक व्यवहार के आधार पर अवघात (कूटना), नख-विदलन (नाखूनों से छीलना) और पाषाण घर्षणादि अनेक साधन अपनाए जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह वाक्य केवल अवघात का विधान कैसे कर सकता है, क्योंकि अवघात भी तो एक पक्ष में प्राप्त है। अत: जिन नख-विदलन और पाषाण-घर्षण पक्षों में अवघात प्राप्त नहीं है, वहाँ भी अवघात का विधान करना इस विधि का उद्देश्य है। अर्थात् जो व्यक्ति अवघात के द्वारा चावल प्राप्त करने जा रहा है, उसको यह वाक्य किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं देगा किन्तु जो व्यक्ति दूसरे उपायों के द्वारा चावल निकालना चाहते हैं उनको प्रेरणा देगा कि 'व्रीहीन् अवहन्यात्'। फलत: एक नियम प्राप्त हो जाता है कि 'अवघातेनैव वैतुष्यं सपादयम्'। इस नियम के द्वारा एक नियमापूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है, जिसका उपयोग आगे चलकर प्रधानापूर्व की निष्पत्ति में हुआ करता है।

इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार के उद्देश्य से जो व्यक्ति वेदान्तश्रवण में प्रवृत्त हुआ है, उसे 'श्रोतव्य:' यह वाक्य किसी प्रकार की प्रेरणा न देकर उन व्यक्तियों को अवश्य आज्ञा देगा जो वेदान्तेतर शास्त्रों के श्रवण में एवं कर्म आदि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं कि 'भवद्भि: श्रोतव्यो वेदान्तवाक्यैं विचारयितव्योऽयमात्मा'। यहाँ पर भी श्रवणनियम में

विधि का पर्यवसान हो जाता है—'अयमात्मा श्रोतव्य एव'—इससे मार्गान्तर में प्रवृत्त व्यक्ति उन मार्गों का परित्याग करके वेदान्तश्रवण में प्रवृत्त हो जाएंगे। इस वाक्य को अपूर्व विधि इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर वेदान्त-श्रवण और आत्मसाक्षात्कार का कार्यकारणभाव सुलभ है। व्यवहार-क्षेत्र में यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहता है, उसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन में प्रवृत्त हो जाता है, जैसे गान्धर्व-स्वर-ग्राम-मूर्च्छना आदि के साक्षात्कार के लिए गान्धर्वशास्त्र के श्रवण-मनन में प्रवृत्त व्यक्ति अपने ध्येय-साधन में कृतकार्य देखे जाते हैं। अतः वेदान्तश्रवण में ऐसा कोई हेतु नहीं जिसका लौकिक व्यवहार ज्ञान न कराता हो। ज्ञात होने पर भी अप्राप्य पक्षों में भी प्रापक होने के कारण 'श्रोतव्यः' इस वाक्य को नियमविधि माना जाता है।

(३) परिसंख्या विधि—नियमविधि में अनभिमत वस्तु की निवृत्ति अर्थात् हुआ करती है किन्तु परिसंख्या विधि में अनभिमत-निवर्तक पद होता है उसे श्रौती और जिसमें नहीं होता उसे लाक्षणिकी परिसंख्या विधि कहा जाता है। जैसे, 'अत्र ह्येवाव-यन्ति अत एवोद्वपन्ति'[२६२] ज्योतिष्टोम क्रतु में सामगान करते समय जिन तीन ऋचाओं के ऊपर साम का गान किया जाता है, उन ऋचाओं की आवृत्तिविशेष के द्वारा त्रिवृत् पंचदश, सप्तदश आदि संख्याविशेष का सम्पादन किया जाता है जिसे 'ज्योतिः' और 'स्तोम' शब्द से कहा करते हैं। कई स्तोत्र जहाँ गाए जाते हैं वहाँ संख्याओं का वृद्धि-ह्रास (बढ़ाव-चढ़ाव) सभी स्तोत्रों में न करके किसी एक (पवमान) स्तोत्रविशेष की ओर संकेत किया गया—'अत्रैव अवयन्ति' कि इसी स्तोत्र में संख्या की वृद्धि एवं ह्रास करना चाहिए। दूसरे स्तोत्रों में नहीं करना चाहिए। निषेध या परिसंख्या का इस प्रकार का लौकिक उदाहरण—

पंच पंचनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पंचमः।।[२६३]

मनुष्य स्वाभाविक रागादि के आधार पर सभी प्राणियों के आखेट में प्रवृत्त हो जाता है, उसकी इस प्रकार की स्वच्छन्द अनियन्त्रित गतिविधि का अवरोध करने के लिए शास्त्र सीमांकन कर देता है अर्थात् पाँच नख वाले प्राणियों में केवल शशक, शल्लकी (सेही), गोधा (गोह), खड्गी (गैंडा) और कूर्म (कच्छप)—ये पाँच प्राणी ही ब्राह्मण व क्षत्रिय के लिए भक्ष्य बताए गए थे। इस वाक्य के द्वारा कथित ५ प्राणी भक्ष्य हैं, यह विधान करने की आवश्यकता नहीं किन्तु इनसे अतिरिक्त पाँच नख वाले नर, वानर आदि की निवृत्ति यहाँ अभिप्रेत है। इस कारण 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है।

इसी प्रकार 'श्रोतव्यः'—इस वाक्य से जब वेदान्त-वाक्य से अतिरिक्त काव्य, साहित्य, द्वैत एवं प्राकृत भाषामय प्रबन्धों के श्रवण की निवृत्ति विवक्षित हो, तब 'श्रोतव्यः' इस वाक्य को वाक्य की परिसंख्या विधि कहा जाता है। इस वाक्य को कुछ आचार्यों ने अपूर्व विधि माना है और नियमपरिसंख्या पक्ष का निराकरण किया है। दूसरे

आचार्यों ने नियमविधि मानकर अपूर्व और परिसंख्या पक्ष का खण्डन किया है। तीसरे आचार्यों ने परिसंख्याविधि मानकर नियम और अपूर्व पक्ष का निरास किया है। और आचार्य वाचस्पति जैसे वेदान्त-शास्त्रकार 'श्रोतव्यः' वाक्य में किसी प्रकार की विधि नहीं मानते। प्रकटार्थकार ने जो यह आक्षेप किया है कि समन्वयसूत्र (१।१।४) में श्रवणविधि का निषेध और सहकार्यन्तर विधि सूत्र (३।४।४७) में श्रवण-विधि का अभ्युपगम किया है, इस आक्षेप का समाधान करते हुए अमलानन्द सरस्वती कहते हैं—"अपूर्वत्वाद विधिरास्थेय इति समन्वयसूत्रे निदिध्यासनादेः वस्त्ववगमवैशद्य प्रत्यन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वादविधेयत्वमुक्तम्, इह त्वन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेऽपि शाब्दज्ञानात् कृतकृत्यतां मन्वानो यदि कश्चित् ज्ञानातिशयरूपे निदिध्यासने न प्रवर्तेत, तं प्रत्यप्राप्त तद् विधीयते इत्युच्यते'''तस्मान्न वाचस्पतेः पूर्वापरव्याहतभाषिता नापि सूत्रभाष्यानभिज्ञतेति।"[१४] अर्थात् समन्वय सूत्र की 'भामती' में निदिध्यासन के विधिपक्ष का निराकरण किया है और यहाँ सहकार्यन्तरविधि सूत्र में यदि कोई व्यक्ति श्रवणमात्र से अपने को कृतकृत्य मानने के लिए सन्नद्ध हो जाए तो उस व्यक्ति के लिए विधान कर दिया गया है। अथवा पाण्डित्यप्राप्त्यादि फलों की प्राप्ति बताकर अर्थवाद के रूप में निदिध्यासनवाक्य को विशेषरूप से प्रवृत्ति में प्रकर्ष लाने के लिए विधि जैसा मान लिया गया है। इसीलिए भाष्यकार ने भी उन वाक्यों को 'विधिच्छायानि' अर्थात् विधि के समान आभासित होने वाले कह दिया है।

कुछ गम्भीर विचार करने पर यह निश्चित होता है कि 'श्रोतव्यः' वाक्य को न अपूर्व विधि मान सकते है, न नियम और न परिसंख्या क्योंकि अन्वयव्यतिरेक के आधार पर श्रवण आत्मसाक्षात्कार का साधन होता है, यह साध्य-साधन-भाव ज्ञात है। नियम-विधि तब मान सकते थे जबकि आत्मसाक्षात्कार के लिए उपायान्तर भी प्राप्त होते, किन्तु दूसरे उपाय किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है। परिसंख्या-पक्ष में प्राप्त अनभिमत साधन की निवृत्ति तभी की जा सकती थी जब साधनान्तर प्राप्त होता, किन्तु श्रवण (वेदान्त-वाक्यविचार) को छोड़कर और कोई भी वैसा सक्षम हेतु प्रतीत नहीं होता जिससे आत्मसाक्षात्कर का सम्पादन किया जा सकता हो। यदि वैसा कोई हेतु प्राप्त तब उसके निवारण के लिए अवश्य परिसंख्या विधि का आश्रयण किया जा सकता था, जैसे कि चयन-याग में ईंटें बनाने के लिए बाहर से मिट्टी घोड़े और गधे पर लादकर लाई जाती है। मण्डप के द्वार पर घोड़ा और गधा दोनों खड़े हैं। उनकी लगाम पकड़कर क्रमशः उन्हें अन्दर लाना है। लगाम पकड़ते समय मन्त्र बोला जाता है—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (तै० सं० ५।१।२।१) अर्थात् ऋतस्य=सत्यफलप्रद यज्ञ की, इस रशना (लगाम) को पकड़ता हूँ। यहाँ सन्देह होता है कि मन्त्र का उपयोग कहाँ होगा, अश्वरशना के ग्रहण में अथवा गर्दभरशना के ग्रहण में अथवा उभयत्र। इस सन्देह को अंगत्वबोधक प्रमाणों की सहायता से दूर किया जाता है। अंगांगिभाव के प्रतिपादक ६ प्रमाण माने जाते हैं—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इनमें शब्द-सामर्थ्य रूप लिंगप्रमाण से यह निश्चित होता है कि यह मन्त्र दोनों की रशनाग्रहण के समय उपयुक्त हो सकता है क्योंकि मन्त्र में केवल 'इमां रशनां' इतना ही शब्द प्रयुक्त हुआ

है जिसका सामर्थ्य दोनों की रशनाओं को प्रकाशित करने में है। अत: लिंगप्रमाण से कथित मन्त्र उभयत्र अंग प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थिति में एक विधिवाक्य उपलब्ध हो जाता है—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य अश्वाभिधानीमादत्ते' अर्थात् 'इमां···' इस मन्त्र के द्वारा अश्व की रशना को पकड़ना चाहिए। अत: यह वाक्य अश्वरशनाग्रहण का प्रापक इसलिए नहीं हो सकता कि लिंग प्रमाण के आधार पर वहाँ मन्त्र पहले ही प्राप्त है किन्तु लिंग-प्रमाण के आधार पर गर्दभरशना-ग्रहण में मन्त्र-प्राप्ति की परिसंख्या (निवृत्ति) इस वाक्य से की जाती है, इसलिए इसे परिसंख्या विधि माना जाता है।

वार्त्तिककार ने जो यह कहा है कि ब्रह्म-ज्ञान के लिए वेदान्त प्रमाण की नियम-विधि मानी जाती है, वह प्रमाण विषयक नियमविधि है, श्रवणादि में नहीं। यदि कहा जाए कि प्रमाण ही विधि का विषय हो जाएगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि सन्निधि के कारण वेदान्त वाक्यों का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के लिए पुराणादिश्रवण की निवृत्ति करने के लिए श्रवणविधि को नियम में परिसंख्या मान लिया जाए, यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि सन्निहित वेदान्त श्रवण को छोड़कर असन्निहित पुराण श्रवण में ब्रह्मज्ञान हेतुता प्राप्त ही नहीं है। अत: वाचस्पति के वचनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं और न सूत्रभाष्य-पदों के साथ किसी प्रकार का विरोध या असंगमन ही होता है।

२. चित्सुखाचार्य

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ[२६५] में चित्सुखाचार्य नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने शांकर वेदान्त पर 'तत्वप्रदीपिका' नामक पुस्तक लिखी थी। अपनी इस रचना में लेखक ने एकाध स्थान पर उन्होंने वाचस्पति की दृष्टि की आलोचना की है। उनमें से यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(१) मन में साक्षात्कार की हेतुता का निरास

महावाक्यों के द्वारा अभेदसाक्षात्कार उसी प्रकार होता है जैसे 'दशमस्त्वमसि'—इस वाक्य के द्वारा दशम पुरुष का साक्षात्कार। वेदान्त के इस सामान्य सिद्धान्त को वाचस्पति मिश्र ने मोड़ दिया है। उनका कहना है[२६६] कि शब्द का स्वभाव है कि वह परोक्ष ज्ञान को ही जन्म देता है, प्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान के जितने लक्षण-वाक्य उपलब्ध होते हैं उन सब में प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित माना गया है। प्रत्यक्ष शब्द में भी अक्ष शब्द इन्द्रिय का वाचक माना जाता है 'अक्षमक्ष प्रति वर्तते प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षम्' आदि व्युत्पत्तिवाक्यों के द्वारा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना गया है। सांख्याचार्यों ने 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'[२६७] में 'विषयं विषयं प्रतिवर्तते इति प्रतिविषयम्', 'प्रतिविषयम्' शब्द का अर्थ किया है विषयसंनिकृष्ट इन्द्रिय।[२६८] न्यायदर्शनकार ने भी व्यवस्था दी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय और इन्द्रिय दो की प्रधानता होती है।[२६९] अत: विषय के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का व्यवहार किया जाता है। जैसे 'घटप्रत्यक्षं चाक्षुषप्रत्यक्षम्।' धर्मकीर्ति ने भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को

अर्थ से जन्य बताया है और अनुमानादि ज्ञानों को विकल्पजन्य।[२३०] अर्थ पद से स्वलक्षण तत्त्व का ग्रहण किया गया है। कुछ भी हो, प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और विषय ही मुख्य रूप से कारण माने जाते हैं। जैन-सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियादिनिरपेक्ष साक्षात् आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान को अपरोक्ष माना जाता है।[२३१] किन्तु इन्द्रिय की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान में भी व्यावहारिक प्रत्यक्षता मानी गई है। मीमांसा-सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने भी कहा है—'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्...'[२३२] अर्थात् पुरुष की इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ भी उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है जो कि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र में 'विशदाभं प्रत्यक्षम्' आदि लक्षण में वैशद्य का अर्थ करते हुए कहा गया है कि, 'अग्नि' शब्दजन्य जो अग्नि का ज्ञान होता है, वह विशद नहीं होता। विशदाभ ज्ञान अग्नि के सम्बन्ध से ही उत्पन्न माना जाता है जिसमें अग्नि का पूर्ण पुंखानुपुंख अग्निस्वरूपतावभास होता है। इसमें कितनी अग्नि है? किस प्रकार की है? कितनी शक्ति किस देश में है?—इस प्रकार की सभी जिज्ञासाओं का समाधान उस प्रत्यक्ष से होता है। इसीलिए कहा गया है—'अन्यथाग्निसम्बन्धाद् दाहो दग्धं हि मन्यते' अर्थात् अग्नि शब्द के श्रवणमात्र से अग्नि के स्वरूप का वह ज्ञान नहीं होता जो कि अग्नि के सम्बन्ध से दाह, ताप, परिताप आदि का बोधक होता है। मधु शब्द के उच्चारण-मात्र से वह रसास्वाद अनुभूत नहीं होता जो कि जिह्वा और मधु-सम्पर्क से हुआ करता है।

सारांश यह है कि केवल वेदान्त को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन इन्द्रियार्थ-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा करते हैं। अद्वैतवेदान्त ही एक ऐसा दर्शन है जहाँ शब्दजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानने वाले आचार्य पाये जाते हैं। किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र एकांगी नहीं थे। उन्हें द्वादशदर्शन काननपंचानन कहा जाता है। व्यापक दार्शनिक दृष्टि-कोण उनकी मेधा में जितना संचित था सम्भवत: अन्यत्र नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान को विविध दार्शनिकों की दृष्टि से उन्होंने देखा था। अत: 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्यों से भी प्रत्यक्ष ज्ञान वाचस्पति मिश्र नहीं मानते। उनका कहना था कि 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्यों के द्वारा विशेष मनोयोग का लाभ होता है और उस मनोयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। महावाक्य-श्रवण से भी अभेद का साक्षात्कार नहीं होता अपितु विशेष संस्कारों की सहायता से मन ही उस साक्षात्कार को जन्म दिया करता है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है—"यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादि-स्वरग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्त:करणेनेति।"[२३३] अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति शास्त्रीय गान सुनता है किन्तु उसके स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि का साक्षात्कार उसे नहीं होता प्रत्युत जिस व्यक्ति ने गान्धर्व विद्या का अच्छी प्रकार अध्ययन किया है तथा स्वरादि के सूक्ष्म स्वरूप के अनुभव से जनित संस्कार जिस व्यक्ति के हृदय में हैं, वह व्यक्ति अपने श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा स्वर आदि का साक्षात्कार कर लेता है, इसी प्रकार वेदान्तानुचिन्तनजनित संस्कारों की सहायता से साधक अपने अन्त:करण के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

वाचस्पति मिश्र के इस व्यापक दृष्टिकोण, मानसप्रत्यक्ष का खण्डन करने के लिए तत्त्वप्रदीपिकाकार ने किसी भी प्रत्यक्ष में मन को हेतु नहीं माना है। उनका कहना है[२७४] कि यद्यपि मन के द्वारा आत्मा, सुख, दुःख व ज्ञान का प्रत्यक्ष नैयायिक माना करते हैं किन्तु वस्तुतः आत्मा स्वयंप्रकाश है तथा दुःखादि का प्रत्यक्ष साक्षी से होता है, अतः मन में किसी प्रकार के प्रत्यक्ष की हेतुता निश्चित नहीं, फिर वह परापर ब्रह्म के अभेद-साक्षात्कार में हेतु कैसे माना जा सकता है। वाचस्पत्यमत का ही यह निराकरण है, इसका स्पष्टीकरण तत्त्वप्रदीपिका के व्याख्याकार प्रत्यगात्मरूप भगवान् ने किया है—"सुखादीनामिति। एतेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनसः सम्भवे शब्दस्य तत्कल्पनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदितं मन्तव्यम्।"[२७५]

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि लोक में जिस वस्तु के सामान्य स्वरूप का साक्षात्कार जिस इन्द्रिय के द्वारा होता है, कुछ अपेक्षित संस्कारों की सहायता से वही इन्द्रिय वस्तु के विशेष अंश का प्रत्यक्ष कर लेता है। लौकिक व्यवहार में देखा गया है कि प्रत्यक्ष व्यक्ति अपने अन्तःकरण के द्वारा अपने आत्मा के सामान्य स्वरूप का प्रत्यक्ष किया करता है। वेदान्ताभ्यासजनित संस्कारों के द्वारा उसी अन्तःकरण को ऐसा बल मिलता है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि स्वरूप से आत्मा का साक्षात्कार कर लिया करता है। यदि आत्मा के विशेष आकार का साक्षात्कार अन्तःकरण से न मानकर शास्त्र के द्वारा माना जाता है तब स्वर, ग्राम आदि के विशेष आकार का प्रत्यक्ष भी गान्धर्व-शास्त्र से हो जाएगा, अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। रत्नशास्त्र के अभ्यास से जनितसंस्कार चक्षुरिन्द्रिय को ऐसा बल प्रदान करते हैं कि वह सभी रत्नों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाती है, अन्यथा वहाँ भी साक्षात्कार शास्त्र से सम्भव होना चाहिए। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के द्वारा जहाँ विशेष विषय का प्रत्यक्ष होता है वहाँ सर्वत्र साक्षि-प्रत्यक्ष के मान लेने पर इन्द्रियों की व्यापकता प्राप्त होती है। श्रोत्र के द्वारा गान के सामान्य अंश का प्रत्यक्ष करा देने के पश्चात् नष्ट हो जाने पर भी गान के विशेष आकार प्रत्यक्ष साक्ष्य के द्वारा होना चाहिए। वेदान्तशास्त्राभ्यास-जनित संस्कारों की सहायता से उन्मत्त प्राणी को भी ब्रह्म का साक्षात्कार होना चाहिए। यदि मन की समाहितता अपेक्षणीय है तब न्यायप्राप्त उसकी प्रत्यक्षहेतुता का अपहार नहीं किया जा सकता। माधुर्य-प्रकारों का विशेष अध्ययन हो जाने पर भी रसनेन्द्रिय से वंचित प्राणी इक्षु, क्षीर आदि के रस-भेद का प्रत्यक्ष साक्ष्य के द्वारा करता हुआ नहीं पाया जाता। अतः इन्द्रियगत सहजप्रत्यक्षहेतुता का निराकरण करना व्यावहारिक क्षेत्र की एक ऐसी उपेक्षा है जिसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। वाचस्पति मिश्र दर्शनों की गहराई में पूर्णरूप से उतरे हुए थे। उनका अनुभव, उनका अध्ययन और उनका अनुचिन्तन कभी उन्हें धोखा नहीं दे सकता था। उदयनाचार्य जैसा तार्किक श्रेष्ठ विद्वान् वाचस्पत्य-विचारों से प्रभावित होकर कह उठा था—'वेदनये जयश्रीः'[२७६] आदि।

यद्यपि आचार्य शंकर जैसे तपःपूर्ण प्रतिभा के धनी महापुरुष के भी अनुभव बहुमूल्य एवं अनुपेक्षणीय हैं किन्तु यह भी एक कटु सत्य है कि शांकरवाक्यों के रहस्यों का पूर्णतया ज्ञान वाचस्पति मिश्र को ही था। केवल आग्रह और हठ के आधार पर

सिद्धान्तों को कब तक टिकाया जा सकता है ? साक्षिप्रत्यक्ष कहने वाले विद्वानों को भी साक्षी का विश्लेषण करना ही होगा। वेदान्तपरिभाषाकार ने साक्षी के दो भेद किए हैं—(१) जीवसाक्षी, (२) ईश्वरसाक्षी। जो चेतन अपने स्वरूप की सीमा में अन्तःकरण को भी प्रवेश दे डालता है, उसे जीव तथा जो अन्तःकरण को अपने स्वरूप से बाहर अनुभव करता है उसे जीव साक्षी कहते हैं।[२०७] इसी प्रकार जो ईश्वर माया को अपनी स्वरूप-सीमा में प्रविष्ट नहीं किया करता उसे ईश्वर-साक्षी कहा जाता है। जीव के समान जीवसाक्षी का भी परिचायक अन्तःकरण ही माना जाता है। अन्तःकरण का चैतन्यस्वरूप में प्रवेशाप्रवेश-भाव ही जीव और जीवसाक्षी में भेद कराता है। अन्तःकरण की सहायता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान या कर्म हो ही नहीं सकता। अतः साक्षि-चैतन्य उसी अन्तःकरण की सहायता से आत्मा आदि वस्तुओं का साक्षात्कार कर सकता है, स्वतन्त्र नहीं। जैन सिद्धान्त के अनुरूप शुद्ध चेतन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया वेदान्त-जगत् में न मानी जाती है और न सम्भव है। जैनमत में आत्मा को सावयव व विकारी माना जाता है। दीपप्रभा के समान उस आत्मा के भी कुछ विकार होते हैं जिन्हें अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। अन्तःकरण जड होने पर भी चैतन्यप्रभाव से प्रभावित होकर घटादि के आकारों में परिणत होता है, उनका ग्रहण करता है, किन्तु वेदान्तसम्मत निष्क्रिय, निर्विकार, कूटस्थ असंग तत्त्व का साक्षात् प्रत्यक्षविकार सम्भव नहीं। सारांश यह है कि चेतन तत्त्व अन्तःकरण की सहायता से अपना साक्षात्कार या सुखदुःखादि का साक्षात्कार कर सकता है। अतः इस विषय में वाचस्पति मिश्र का पक्ष अत्यन्त स्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

२. जीव और अविद्या का अन्योन्याश्रय

वाचस्पति मिश्र ने जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है—"अनाद्यविद्याऽवच्छेद-लब्धजीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदेनावभासते। तादृशानां च जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मः। न च—अविद्यायां सत्यां जीवात्मविभागः, सति च जीवात्मविभागे तदाश्रया अविद्येत्यन्योन्याश्रयमिति सांप्रतम्। अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजांकुरवदनव-क्लृप्तेरयोगात्"[२०८] अर्थात् अनादि अविद्यारूप परिच्छेद से परिच्छिन्न चैतन्य जीव कहलाता है। वही जीव अविद्या का आश्रय है। अविद्या और जीव के अन्योन्याश्रय-दोष का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बीजवृक्ष के अनादि प्रवाह को निर्णायक माना है। अर्थात् जिस प्रकार बीज-सन्तान और वृक्षसन्तान का अनादिकाल से प्रयोज्य-प्रयोजकभाव चला आता है उसी प्रकार अविद्या और जीव का परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक भाव चला आता है।

इस प्रयोज्य-प्रयोजकभाव की आलोचना चित्सुखी में इस प्रकार आई है—"न च बीजांकुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहारः, दृष्टान्तवैषम्यात्। तत्र हि बीजांकुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात् तत्सन्तानयोः परस्पराधीनत्वव्यपदेशः, इह तु जीवाविद्याव्यक्तयोरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथं तथा व्यपदेशः स्यात् ?"[२०९] चित्सुखाचार्य का कहना है कि वाचस्पति मिश्र के द्वारा प्रदर्शित दृष्टान्त और दार्ष्टान्त

का वैषम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। बीज और वृक्ष दृष्टान्त में बीजवृक्ष व्यक्तियों का कार्य-कारणभाव उपलब्ध होता है किन्तु जीव और अविद्या का कार्यकारणभाव सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार जिस बीज से जो वृक्ष अंकुरित होता है, उसी वृक्ष से वह बीज उत्पन्न नहीं होता अपितु उसका जन्म वृक्षान्तर से होता है। इसी प्रकार वृक्ष का भी जन्म अपने फलभूतबीज से न होकर बीजान्तर से देखा जाता है। अर्थात् बीजसन्तान और वृक्षसन्तान का कार्यकारणभाव होता है किन्तु अविद्या और जीव का वैसा सन्तानक्रम नहीं होता क्योंकि दोनों का अनन्त भेद नहीं माना जाता अपितु अज्ञान व्यक्ति एक है और जीव व्यक्ति एक। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का अन्तर हो जाने के कारण दृष्टान्त-दृष्ट वस्तु की सिद्धि दार्ष्टान्त में नहीं की जा सकती।

यहाँ वाचस्पति का आशय है कि दृष्टान्त के सभी धर्म दार्ष्टान्त में कहीं भी नहीं पाये जाते। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' आत्मा वैसे ही नित्य है जैसे आकाश तथा आकाश के समान ही सर्वगत, व्यापक, विभु माना जाता है। यहाँ पर आकाशरूप दृष्टान्त के आकाशत्व, जडत्व, भूतत्व, जन्यत्व आदि सभी धर्म ब्रह्म में नहीं पाये जाते और न विवक्षित ही होते हैं किन्तु दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का प्रतिपाद्य अंश केवल समान पाया जाता है। 'पर्वतो वह्निमान् महानसवत्' यहाँ पर पर्वत और महानस में केवल वह्निमत्त्व और धूमवत्त्व ही ऐसे धर्मविवक्षित हैं जिनकी दोनों में समानता अभिवांछित है। उसी प्रकार बीजवृक्षदृष्टान्तगत परस्पर सापेक्षता ही अविद्या और जीव में अभि-लषित है। जो यह कहा गया कि अज्ञान और जीव दो व्यक्ति हैं—अनन्त, व्यक्तिधारा या सन्तान नहीं, वह कहना उचित नहीं क्योंकि वाचस्पति मिश्र अज्ञान अनेक मानते हैं और उस अज्ञान के भेद से चैतन्य का भी भेद हो जाया करता है। बीजवृक्ष में जैसे प्रयोज्य-प्रयोजक भाव अनादि सिद्ध है वैसे ही अज्ञान और जीव का प्रयोज्य-प्रयोजक भाव भी अनादि सिद्ध है। केवल इतने मात्र से ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का सामंजस्य अभिमत होता है। दृष्टान्त-दृष्ट सभी धर्मों का समन्वय दार्ष्टान्त में नहीं माना जाता।

३. नृसिंहाश्रम

श्री नृसिंहाश्रम (१५०० ई०)[२८०] ने तत्त्वबोधिनी नामक संक्षेपशारीरक की अपनी टीका में तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ 'वेदान्ततत्त्वविवेक' में आचार्य वाचस्पति के मतों का परिहार किया है। दोनों का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है।

(१) जीवाश्रिताविद्यावाद का निरास

आचार्य नृसिंहाश्रम ने वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रित अज्ञानवाद का निराकरण-सा करते हुए कहा है—"लोके हि अज्ञानस्य द्विविधोऽनुभवो दृश्यते मय्यज्ञानं, मामहं न जानामीति च तत्र किं मयीत्यनुभवबलेनाहंकारस्य ब्रह्मविषयाज्ञानाश्रयत्वं स्वीकर्त्तव्य-मुत मामित्यनुभवेन तद्गोचरचैतन्यस्यैव। यदि प्रथमं, तदा मामिति प्रतीयमानमाश्रयस्य विषयत्व बाध्येत। नन्वहम् एव तदाश्रयस्य विषयत्वमपीति चेन्न, तस्य स्पष्टप्रतीतेर्भवद्भि-रनंगीकारादन्यथा तज्ज्ञानादेवाज्ञाननिवृत्तिरिति ब्रह्मज्ञानं व्यर्थमेव स्यात्। यदि

पुनर्द्वितीयपक्षः कक्षीक्रियेत तदाऽहंकाराश्रयत्वप्रत्ययस्य देवदत्ते सुखमिति केवलात्मवृत्ति-सुखस्य शरीराधारत्वप्रत्ययवत्केवलात्माश्रिताज्ञानस्य स्वाश्रयवृत्त्यहंकाराश्रयत्वप्रतीतिः कथंचिदुपपद्यते। न केवलमनुभव एवात्र प्रमाणम्....।"[३८१] अर्थात् अज्ञान के विषय में दो प्रकार के अनुभव देखे जाते हैं—'एक मुझ में अज्ञान है' अर्थात् मैं ब्रह्मविषयक अज्ञान का आश्रय हूँ और दूसरा 'अहं मां न जानामि' अर्थात् 'मैं अपने आपको नहीं जानता'। प्रथम अनुभव में अज्ञान का विषय ब्रह्म, आश्रय अहमर्थ जीव प्रतीत होता है। दूसरे अनुभव में जीव ही अज्ञान का आश्रय और विषय प्रतीत होता है। इन दोनों में से यदि प्रथम अनुभव को प्रमाण मानकर ब्रह्मविषयक अज्ञान का आश्रय जीव को माना जाय तो दूसरे अनुभव से प्रतीयमान जीवगत विषयता का बाध प्रसक्त होता है। जीव को अज्ञान का विषय वाचस्पति मिश्र नहीं मानते। उनका कहना है कि अहं वस्तु के विषय में किसी को संशय-विपर्यय नहीं हुआ करता[३८२] तथा यदि जीव को अज्ञान का विषय माना जाए तो उसके ज्ञान से ही अज्ञान नष्ट हो जाता है, समस्त दुःख की निवृत्ति हो जाती है। फिर तो ब्रह्मज्ञान के लिए ब्रह्ममीमांसा जैसे प्रयास की क्या आवश्यकता ? अतः यह मानना होगा कि द्वितीय अनुभव में सर्वाधिष्ठान शुद्धचैतन्य तत्त्व ही 'माम्' शब्द से विवक्षित है। तब 'अहम्' शब्द से भी उसी की विवक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य तत्त्व अज्ञान का विषय और आश्रय माना जाता है। ब्रह्म का ज्ञान स्वतः सुलभ नहीं। अतः वेदान्त-तत्त्व का दीर्घकाल तक सादर निरन्तर विचार परमावश्यक है।

श्री नृसिंहाश्रम ने अपने 'वेदान्ततत्त्वविवेक' ग्रन्थ में भी वाचस्पत्य-मत का उल्लेख किया है—'अन्ये तु मूलाज्ञानमपि जीवनिष्ठम्, अज्ञानत्वात्, शुक्त्यज्ञानवत्। न चैवमन्योन्याश्रयः, जीवत्वादिविभागस्यानादित्वात्। चाश्रयविषययोरभेदे सम्भवति भेदो गौरवान्न कल्पनीय इति वाच्यम्, अन्यत्र तद्भेदस्य दृष्टत्वादित्याहुः।[३८३]

किन्तु, 'वेदान्ततत्त्वविवेक' में शब्दतः किसी प्रकार की आलोचना नहीं की गई, 'अन्ये तु' आदि शब्दों के द्वारा भले ही अस्वारस्य ध्वनित कर दिया गया हो। नृसिंहाश्रम के द्वारा प्रदर्शित तत्त्वबोधिनी वाले उद्धरण में प्रथम अनुभव वाचस्पति के मत का पोषक है। द्वितीय अनुभव उन्हें कहाँ से मिला, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब वाचस्पति मिश्र किसी जीव को अपने स्वयं के अज्ञान का विषय नहीं मानते तब उनके मत में 'मामहं न जानामि' यह कैसे होगा ? होगा तो यही 'अहं ब्रह्म न जानामि'। 'माम्' अनुभव तब हो सकता है जबकि 'माम्' शब्द से उपलक्षित ब्रह्म का ग्रहण किया जाए। वस्तुस्थिति भी यही है कि 'मैं अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता', यही प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह मुझे ज्ञात नहीं था 'मैं अपने को ब्रह्म नहीं जानता था'—इसी प्रकार की प्रतीतियाँ सम्भवतः हो सकती हैं। अतः अज्ञान की विषयता ब्रह्म में है तथा ब्रह्म विषयक ज्ञान से कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति होती है जिसके लिए शमदमादि साधनसम्पत्ति एवं वेदान्तविचार-प्रयास अपेक्षित है।

इस पर श्री नृसिंहाश्रम का यह कथन अवशेष रहता है कि यदि 'मामहं न जानामि' इस अनुभव में 'माम्' पद से प्रपंचाधिष्ठान शुद्धचैतन्य का ग्रहण है, तो उसी न्याय से 'अहम्' पद से भी शुद्धचैतन्य का ही ग्रहण करना चाहिए और ऐसा मानने पर

शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान का विषय व आश्रय सिद्ध हो जाता है और इस प्रकार वाचस्पति का यह सिद्धान्त कि अज्ञान का आश्रय जीव है, धराशायी होता प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'अहम्' पद से शुद्ध चैतन्य को ग्रहण करने में लोकानुभवविरोध की प्रसक्ति होती है, क्योंकि अज्ञान की आश्रयता अनुभव से जीव में ही सिद्ध है न कि शुद्धचैतन्य में। अतः लोकानुभवविरोध के कारण 'अहम्' पद से शुद्ध चैतन्य का ग्रहण न मानकर जीव का ही ग्रहण करना होगा और 'अहम्'-पदवाच्यता भी जीव में ही सिद्ध है। अतः वाचस्पति का मत ही इस विषय में समीचीन प्रतीत होता है।

४. अप्पयदीक्षित

परिमलकार ने भी एकाध स्थान पर वाचस्पत्य मत को अयुक्त-सा ठहराने का प्रयास किया है, यथा—

"अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्" (३।३।३१)

इस सूत्र में किसी एक सगुण विद्या के प्रकरण में श्रुतधर्म सभी सगुणविद्याओं में भी पालनीय होंगे कि नहीं, इस प्रकार का सन्देह उठाकर भाष्यकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है—"किं तावत् प्राप्तम्? नियम इति। यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति प्रकरणस्य नियामकत्वात्।"[२८४] अर्थात् जिन विद्याओं के प्रकरण में वे कर्म या गुण हैं उनका वहीं नियोग होता है, अन्यत्र नहीं क्योंकि प्रकरण प्रमाण इस विनियोग का व्यवस्थापक होता है। भाष्यकार के इस पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए भामतीकार ने कहा है—"न चैवं सति श्रुत्यादयोऽपि विनियोजकाः, तेषामपि हि प्रकरणेन सामान्यसम्बन्धे सति विनियोजकत्वात्।"[२८५] अर्थात् अंगांगिभावविनियोजक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन ६ प्रमाणों की चर्चा मीमांसादर्शन[२८६] में आई है। इनमें उत्तरोतर प्रमाण से पूर्व-पूर्व प्रमाण प्रबल, एवं अपने क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रमाण का बाधक माना गया है। जैसे 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह ब्राह्मणवाक्य ऐन्द्री ऋचा के द्वारा गार्हपत्य अग्नि के उपस्थापन का विधान करता है। श्रुति प्रमाण का अर्थ यहाँ है—द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तिरूप शब्द। 'ऐन्द्र्या' इस पद में तृतीया श्रुति एवं 'गार्हपत्यम्' इस पद की द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति के द्वारा ऐन्द्री ऋचा और गार्हपत्य अग्नि का अंगांगिभाव प्रतीत होता है। यदि यह ब्राह्मणवाक्य न होता तब ऐन्द्री ऋचा का विनियोग कहाँ होता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विनियोजक श्रुति के न होने पर लिंग प्रमाण, और लिंग के न मिलने पर उत्तरोत्तर प्रमाणों में जो प्रमाण सुलभ हो, उसके द्वारा अंगांगिभाव जिसके साथ हो सकेगा उसके साथ उसका अन्वय किया जाएगा, जैसे कि इसी ऋचा का लिंग प्रमाण के द्वारा इन्द्र के उपस्थान में विनियोग प्राप्त होता है क्योंकि 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिंगमित्यभिधीयते' पद-पदार्थों के रूढ़िसामर्थ्य का नाम लिंग प्रमाण है। शब्दगत अर्थ-विशेषबोधनसामर्थ्य एवं अर्थगत क्रियाविशेषसाधन की योग्यता—दोनों को लिंग माना जाता है। इसके क्रमशः उदाहरण निम्नलिखित हैं—शब्दगत अर्थ-विशेष-बोधन-सामर्थ्य के कारण 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (हे कुशा! देव

तुम्हारा छेदन देवसदन के लिए कर रहे है)—यह मन्त्र बर्हिर्लवन का प्रतिपादक होने के कारण बर्हिर्लवन में ही उपयुक्त होगा। अर्थगत क्रियाविशेष साधन की योग्यता के कारण 'हस्तेन अवद्यति, स्रुवेण अवद्यति, स्वधितिना अवद्यति'—इन वाक्यों में प्रतिपादित हस्त, स्रुवा एवं स्वधिति नाम की छुरी का अवदान करणतया विनियोगश्रुति के द्वारा किया गया है। यहाँ सन्देह होता है किसके अवदान में किस वस्तु का उपयोग है, यह श्रुति ने नहीं बतलाया, अतः पूर्व पदार्थों की योग्यता देखकर व्यवस्था करनी होगी कि हस्त में 'पुरोडाश' जैसे पदार्थ के अवदान की योग्यता, स्रुवा में घृत जैसे तरल द्रव्य के अवदान की योग्यता एवं स्वधिति में मांस जैसे कठोर द्रव्य के अवदान की योग्यता देखकर तीनों का उचित द्रव्य के अवदान में विनियोग होता है। यह दो प्रकार का अर्थ सामर्थ्य कहा जाता है।

जहाँ पर लिंग प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता वहाँ वाक्य से, वाक्य के न होने पर प्रकरण से, प्रकरण के न होने पर स्थान से, स्थान के न होने पर समाख्या प्रमाण के द्वारा विनियोग हुआ करता है। प्रकरण-प्रमाण उभयाकांक्षा का नाम है। अंग और अंगी एक दूसरे की आकांक्षा स्वभावतः रखते हैं। दोनों का पास-पास में संकीर्तन एक प्रकरण कहलाता है, जैसे दर्शपूर्णमास के प्रकरण में प्रयाजादि विहित हैं। प्रकरण प्रमाण से प्रयाज और दर्शपूर्णमास का अंगांगिभाव निश्चित होता है, वैसे ही प्रकृत में जिस सगुण विद्या के प्रकरण में जो धर्म या गुण श्रुत हैं, प्रकरण प्रमाण के आधार पर उसी विद्या में उनका विनियोग होगा, दूसरी विद्याओं में उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भाष्यकार ने केवल प्रकरण प्रमाण को विनियोजक और व्यवस्थापक बताते हुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि श्रुति, लिंग प्रमाण भी प्रकरण प्रमाण का अनुसरण किया करते है। अतः प्रकरण की प्रधानता माननी पड़ती है। श्रुति और लिंग प्रमाणों के आधार पर अपक्रान्त पदार्थों का अंगांगिभाव व्यवस्थित नहीं किया जा सकता।

इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमलानन्द ने कहा है—"श्रुत्यादयो हि द्विप्रकाराः, केचित् सामान्येन प्रवर्तन्ते यथा व्रीहीन् प्रोक्षतीति, केचिद् विशेषतो यथैन्द्र्या गार्हपत्यमिति।"[४८७] अर्थात् श्रुति, लिंग प्रमाण दो प्रकार के होते हैं—प्रकरण-निरपेक्ष और प्रकरण-सापेक्ष। जैसे कि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' यह श्रुतिवाक्य व्रीहिमात्र के उद्देश्य से प्रोक्षण का विधान करता है, विशेष प्रकरण की आवश्यकता इसके लिए नहीं। किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्य तिष्ठते' यह श्रुतिवाक्य प्रकरण की अपेक्षा करके ही विनियोजक होता है। वैसे ही जिस सगुण विद्या के प्रकरण में जो गति श्रुत है, श्रुति या लिंग प्रमाण भी प्रकरण प्रमाण के अनुरोध पर उसी विद्याविशेष में विनियोजक होंगे, सभी विद्याओं में नहीं।

आचार्य अप्पय दीक्षित ने वाचस्पति मिश्र की आलोचना करते हुए कहा है[४८८] कि श्रुत्यादि ५ प्रमाणों का स्वभाव यह है कि वे उत्तरोत्तर प्रमाण की प्रतीक्षा या अनुरोध नहीं माना करते प्रत्युत श्रुत्यादि की कल्पना के द्वारा ही उत्तरोत्तर प्रमाण विनियोजक माने जाते हैं। सारांश यह है कि पूर्वप्रमाण निरपेक्ष और उत्तर प्रमाण

सापेक्ष माना जाता है। इसी निरपेक्षता-सापेक्षता के आधार पर पूर्व-पूर्व प्रमाण को उत्तरोत्तर प्रमाण से प्रबल माना गया है। सापेक्ष और निरपेक्ष पदार्थों में निरपेक्ष प्रबल, और सापेक्ष दुर्बल हुआ करता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र के वक्तव्य से विपरीत प्रतीत होता है कि श्रुति, लिंग प्रकरण की अपेक्षा करते हैं जो कि सिद्धांतविरुद्ध, मीमांसा-न्याय-विरुद्ध प्रतीत होता है। यदि श्रुति और लिंग प्रकरण की अपेक्षा करने लग जाएँ या कोई भी पूर्व-प्रमाण उत्तर प्रमाण की कल्पना आवश्यक समझने लग जाएँ तब पूर्व-पूर्व प्रमाण से उत्तर-उत्तर प्रमाण प्रबल हो जाएगा, किन्तु महर्षि जैमिनि ने उनमें पारदौर्बल्य अर्थात् पूर्व से उत्तर प्रमाण की दुर्बलता ही सिद्धान्तित की है।[२५९]

किन्तु अप्पय दीक्षित की यह आलोचना सर्वथा समीचीन प्रतीत नहीं होती क्योंकि पूर्वपक्षोपष्टम्भक तर्क-सरणियों को निकृष्ट सैद्धान्तिक निकषग्रावा पर इस प्रकार नहीं चढ़ाया जा सकता जैसे कि उत्तरपक्ष की यौक्तिक पदावली की परीक्षा की जाती है। उत्तर पक्ष एक ऐसा सिद्धान्त होता है जिसके आधार पर बहुत से विवादों का निराकरण किया जाता है। पूर्वपक्षी यदि किसी असमंजस या असंगत युक्ति का सहारा लेता है तो वह ले सकता है। इसलिए आगे सिद्धान्त में चलकर प्रायः उसका प्रतिवाद कर दिया जाता है। यहाँ पर भी आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आगे चलकर कहा है—"भवेत् प्रकरणं नियामकं यद्यनियमप्रतिपादकं वाक्यं श्रौतं स्मार्तं वा न स्यात्"[२६०] अर्थात् श्रुति, लिंग, वाक्य प्रमाणों के न होने पर ही प्रकरण प्रमाण को नियामक माना जाता है किन्तु उनके रहने पर प्रकरण निर्बल हो जाता है। इससे यह ध्वनित होता है कि प्रकरण प्रमाण की निर्बलता को पूर्वपक्षी ने भी विपरीत रूप में नहीं देखा था किन्तु केवल अपने पक्ष की दृढ़ता के लिए उक्त स्थलों पर प्रकरण की अपेक्षा कर दी गई है।

५. नारायणानन्द सरस्वती

नारायणानन्द सरस्वती ने शंकर के शारीरक भाष्य पर एक वार्त्तिक की रचना की थी। इसमें उन्होंने आचार्य वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रिताविद्यावाद की आलोचना की है जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वाचस्पतिसम्मत जीवाश्रिताविद्यावाद का निरास

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जीवाश्रित अविद्यापक्ष का समाश्रयण किया है। उसका निराकरण शांकरभाष्य पर वार्त्तिक के प्रणेता ने किया है—"जीवाश्रया ब्रह्मपरा ह्यविद्या तत्त्वविन्मतेति केचिदाहुरिति, तन्न····।"[२६१] वार्त्तिककार का कहना है कि आश्रय और विषय का भेद अन्धकार में नहीं पाया जाता। लोक-प्रसिद्ध अन्धकार ही एक ऐसी वस्तु है जिसके दृष्टान्त से अविद्या के स्वरूप और स्वभाव का परिचय दिया जा सकता है। इसीलिए वेदान्ताचार्यों को दृष्टान्त का सामंजस्य बैठाने के लिए अन्धकार को भाव-रूप सिद्ध करने में तार्किकों से कड़ा संघर्ष करना पड़ा है और उनके कर्कश तर्कशरों से आहत होकर भी तम की भावरूपतासिद्धि में सफलता प्राप्त की है, तम के स्वभाव के

विपरीत अज्ञान या अविद्या का स्वभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्धकार का स्वभाव ही है कि वह जिस कमरे के आश्रित रहता है उसी को आच्छन्न करता है, उसी को विषय बनाता है। ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि अन्धकार दूसरे कमरे में विद्यमान हो और उसका विषय या उससे आवृत्त दूसरा कमरा हो। अविद्या भी तमोरूप मानी जाती है। अतः इस प्रकार का अनुमान प्रयोग किया जा सकता है कि 'अविद्या अभिन्न-विषयाश्रया तमस्त्वात् अन्धकारवत्' अर्थात् अन्धकार और अविद्या दोनों में एक धर्म है, एक धर्म समान स्वभाव से व्याप्त रहता है। समान स्वभावता का अर्थ यह नहीं कि जिस प्रकार अन्धकार जन्य है वैसे अविद्या भी जन्य हो जाएगी। जन्यतादि धर्मों को वस्तु का स्वभाव नहीं माना जाता, वह कारणनिरूपित औपाधिक धर्ममात्र होता है। अन्धकार भी वेदान्त-सिद्धान्त में अविद्या का कार्य माना जाता है[२६२] क्योंकि तम और उसकी कारणभूत अविद्या का एक ही तमस् शब्द से निर्देश श्रुतियों ने किया है। जैसे 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्'[२६३] आदि श्रुतियों ने तमस् शब्द का प्रयोग उस सर्गाद्य-कालीन मूल कारणभूत अविद्या के लिए किया है। लोक में तेज के आवरकतत्त्व को अन्धकार कहा जाता है, अविद्या भी आवरक होती है। इसलिए उसे भी संवृति, आवृत्ति आवरण आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

जीव-ब्रह्म-भेद की कल्पना भी वाचस्पति मिश्र की समीचीन नहीं है। जीवाश्रिता-विद्या का खण्डन करने के लिए जीव-ब्रह्म-भेद का भी खण्डन वार्तिककार ने किया है— 'एतेन जीवब्रह्मविभागकल्पनातद्भेदसमर्थनमपि प्रत्याख्यातम्'[२६४] अर्थात् जीव और ब्रह्म का भेद स्वरूपतः सम्भव नहीं क्योंकि चैतन्यघन वस्तु एक है, जीव और ब्रह्म का भेद उसमें किसी प्रकार का नहीं। यदि अविद्या के आश्रय को जीव व अविद्या के विषय को ब्रह्म कहकर उनका भेद किया जाए तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है क्योंकि जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध होने पर आश्रय और विषय के भेद की सिद्धि होगी और इस सिद्धि के हो जाने पर जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध होगा। यदि कहा जाए कि अनादि भेद के आधार पर जीव-ब्रह्म का भेद माना जाता है तो वैसा नहीं कह सकते क्योंकि बिना प्रमाण के अन्धपरम्परा का अनुसरण उचित नहीं होता।

दूसरी जिज्ञासा यहाँ यह भी होती है कि आप जीव किसे मानते हैं? चैतन्यमात्र को आप जीव नहीं मानते, यदि मानें तो हमारा व आपका कोई विवाद नहीं रह जाता क्योंकि अविद्या का आश्रय वही चैतन्यमात्र और वही विषय सिद्ध हो जाने पर संक्षेप-शारीरककार का मत आ जाता है,[२६५] आपका विषय और आश्रय का भेद नहीं रह जाता। अविद्याश्रय चेतन को जीव मानने पर आत्माश्रयादि दोष प्राप्त होते हैं क्योंकि अविद्या के आश्रय (जीव) को अविद्या का आश्रय मानने पर अविद्या को भी अविद्या का आश्रय मानना पड़ता है, इसी का नाम आत्माश्रय दोष है। अन्तःकरणविशिष्ट चेतन को जीव मानने पर अन्तःकरण की सत्ता अविद्या की स्थिति के पूर्व सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि अन्तःकरण अविद्या का कार्य माना जाता है। कारण की स्थिति के पूर्व कार्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती तथा सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण का अभाव होने के कारण जीव का भी अभाव मानना पड़ेगा।

वाचस्पति मिश्र की आलोचना करते समय वार्तिककार स्वयं को सर्वज्ञात्म मुनि की भूमिका में प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका सिद्धान्त है कि अविद्या का आश्रय और विषय एक ही ब्रह्म है।[२६६] किन्तु इस पक्ष की अपेक्षा वाचस्पति मिश्र का मत लौकिक व्यवहार एवं प्रतिकर्मव्यवस्था के निर्वहण में अधिक सबल प्रतीत होता है। माया अविद्या की लौकिक निदर्शनस्थली ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल माना जाता है। वहाँ देखा जाता है कि अज्ञान का खेल जो विविध रूपों में दर्शकों के समक्ष आता है, वह अज्ञान किसका है? ऐन्द्रजालिक या जादूगर का अज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे वास्तविकता का ज्ञान है, अज्ञान नहीं। ऐन्द्रजालिक ईश्वर की भूमिका में, दर्शक जीव की भूमिका में दिखाए जाते हैं। ईश्वर को अज्ञानी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके लिए श्रुति ने 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु०१।१।९) कहा है अर्थात् उसे किसी वस्तु का भी अज्ञान नहीं होता। दर्शक अवश्य ही अज्ञानान्धकार में अपने को अनुभव करते हैं और ऐन्द्रजालिक भी उन्हें तभी तक अपने खेल दिखाया करता है जब तक कि वह उन्हें अनभिज्ञ या अज्ञानी समझता है। एक जादूगर दूसरे जादूगर को खेल दिखाना पसन्द नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि वह अज्ञानी नहीं। दर्शकों को भी तभी तक मायारचित हस्ती, अश्व आदि आश्चर्य में डालते हैं जब तक कि उन्हें वास्तविकता का बोध नहीं। वस्तुस्थिति का बोध हो जाने पर उन्हें यह अनुभव स्वयं होता है कि पहले यह तथ्य हमारी दृष्टि से ओझल था। इस दृष्टान्त को संक्षेपशारीरककार के मतानुकूल घटाना सम्भव नहीं। उनके अनुसार अज्ञान भी ऐन्द्रजालिक में और अज्ञान का विषय भी ऐन्द्रजालिक ही सिद्ध होता है जो कि सर्वथा अनुभवविरुद्ध, लोकप्रसिद्धिविरुद्ध एवं व्यवहार-विरुद्ध है। इस दृष्टान्त के आधार पर अज्ञान की आश्रयता जीव में ही सिद्ध होती है, ईश्वर या ब्रह्म में नहीं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी यही प्रमाणित होता है 'अहमज्ञः' मैं अज्ञानी हूँ, 'न किंचिद् अवेदिषम्' मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। भगवान् कृष्ण साक्षात् ईश्वर के अवतार माने जाते हैं और अर्जुन को जीव की भूमिका में समझा जाता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥[२६७]

अर्थात् हे अर्जुन क्या तुमने हमारा उपदेश सुना? और एकाग्रचित्त से यदि सुना तो क्या तुम्हारा अज्ञान नष्ट हो गया? अर्जुन भगवान् को उत्तर देता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥[२६८]

अर्थात् भगवान् मेरा मोह नष्ट हो गया। मैंने अपना संविदुन्मेष प्राप्त कर लिया है। हे अच्युत! यह सब कुछ आपकी कृपा से हुआ। अब मैं कर्त्तव्य-पथ पर सुदृढ़ रूप में अवस्थित हो गया। मेरे सभी सन्देह दूर हो गए। अब मैं आपकी आज्ञा का पूर्णतया पालन करूँगा। संक्षेपशारीरककार के अनुसार कृष्ण से अर्जुन को पूछना चाहिए था कि आपका अज्ञान नष्ट हुआ? और कृष्ण को यह उत्तर देना चाहिए था कि हाँ! मेरा

अज्ञान नष्ट हो गया। किन्तु सर्वज्ञात्ममुनि का मत मानने पर महाभारत के एक महत्त्व-पूर्ण रहस्य, गीतोपदेश का कितना अनर्थ, कैसी असंगति, कितनी असमंजसताकारता होती। सर्वज्ञात्ममुनि के मत में इसे किसी प्रकार तिरोहित नहीं किया जा सकता।

> न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
> दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥[२९९]

'अर्जुन! तुम अपने इन अज्ञानावृत चक्षुओं से मुझे नहीं देख सकते। मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ जिससे मेरा रहस्यमय विग्रह देख सको।' यहाँ पर भी अर्जुन को दिव्य चक्षु की अपेक्षा है, ईश्वर को नहीं। इसी प्रकार—

> मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
> वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
> भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥[३००]

इन वाक्यों से भी यही प्रतीत होता है कि जीव को ही अज्ञान होता है।

> "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"[३०१]

इस वाक्य में भगवान् ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि जन्तु जीवों को अज्ञान हुआ करता है।

> "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।"[३०२]

इस वाक्य में अज्ञान को जीव के विनाश का हेतु माना गया है।

आचार्य शंकर ने माया और अविद्या के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः सव्यवहारः संततो वर्तते'[३०३] तथा 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।'[३०४] इन वाक्यों से भी यही प्रतीत होता है कि अज्ञान का आश्रय जीव है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (१।१।१) इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासा का अधिकारी कौन माना गया है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य शंकर ने दिया है विवेकवैराग्यषट्सम्पत्ति आदि साधनों से युक्त जीव, जिसे अज्ञान है, उसे ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वही ज्ञान प्राप्त किया करता है। यदि जीव अज्ञान का आश्रय नहीं, तब जीव-ब्रह्म-विचार जैसे महत्त्वपूर्ण यज्ञ का यजमान कौन बनेगा? क्या ब्रह्म बनेगा? कर्मकाण्ड के लिए अधिकारी जीव ही माना गया है और वह जीव, जो अज्ञानी है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीनों आश्रमों का विशाल कर्त्तव्य अज्ञानी जीव का माना गया है और ज्ञानी के 'त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः' के अनुसार निवृत्तिमार्ग का अधिकार प्रदान किया गया है। अज्ञानी जीव विश्व के प्रवृत्तिमार्ग का एकमात्र संचालक माना जाता है। इस प्रकार श्रुतियों, स्मृतियों और लौकिक प्रमाणों के आधार पर जीव ही अज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है, दूसरा नहीं। ब्रह्म ही शुक्लकृष्णपक्ष का युगपत् आश्रय कैसे बन सकता है? जब शुक्ल पक्ष के चन्द्र की चारुचन्द्रिका पृथ्वी के विस्तृत प्रांगण में फैली हो उसी समय घोर

अज्ञानान्धकार वहीं अपना साम्राज्य स्थापित कर ले, यह कदापि कथमपि सम्भव नहीं। एक ब्रह्म में किसी प्रकार का दैशिक और कालिक भेद नहीं किया जा सकता कारण कि वह परिच्छेदत्रय से रहित माना जाता है। पृथ्वी के एक भाग पर प्रकाश और भागान्तर पर अन्धकार माना जा सकता है किन्तु निर्विभाग ब्रह्म पर यह सम्भव नहीं। औपाधिक भेद कल्पना करने पर जीवभाव आ जाता है। अज्ञानाश्रयता और जीवरूपता के अन्योन्याश्रय का परिहार बहुत पहले शंकर ने यह कहकर कर दिया है कि यह लोक-व्यवहार नैसर्गिक है।

सारांश यह है कि प्रतिपक्षियों के प्रबल प्रहारों का प्रतिरोध करने में पूर्णतया कोई भी पक्ष सक्षम नहीं है किन्तु वाचस्पत्यपक्ष पक्षान्तर की अपेक्षा अधिकयुक्तियुक्त एवं वादियों के अधिक-से-अधिक वाद-प्रकारों के संघर्ष में सफल और सुरक्षित माना जाता है।

सन्दर्भ

१. 'तोड़ दो क्षितिज का पर्दा,
देख लूँ उस ओर क्या है !' —हिन्दी कवयित्री, महादेवी वर्मा।

२. जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसीलिए शास्त्र अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रति जिज्ञासा को प्रथम प्रस्तुत करता है, यथा—
(क) 'अथातो धर्मजिज्ञासा' —मी० सू० १।१।१
(ख) 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' —ब्र० सू० १।१।१
(ग) 'दुःखत्रयाभिघाता जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।' —सांख्यकारिका, १

३. 'लोकायत' शब्द का अर्थ है लोक में आयत (व्याप्त)। द्र० विद्वत्तोषिणी सांख्यतत्त्व-कौमुदी व्याख्या, पृ० ६०, गुरुमण्डलाश्रम, हरिद्वार संस्करण, सम्वत् १६८७। इस शब्द की व्याख्या करते हुए माधवाचार्य कहते हैं—

"प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्-
यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

इति लोकगाथाम् अनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। अतएव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम्।"
—सर्वदर्शन० १, पृ० ३, चौखम्बा संस्करण, सन् १९६४

इस भौतिकवाद के संस्थापक ऋषि का नाम था,
४. कुछ लोगों के अनुसार चार्वाक इस भौतिकवाद के संस्थापक ऋषि का नाम था,
इसीलिए इसे चार्वाक मत कहते हैं। कुछ के अनुसार चारु=सुन्दर, वाक्=वाणी
(येनकेन प्रकारेण अधिकतम सुख भोगने का सन्देश) प्रस्तुत करने के कारण इसे
चार्वाक मत कहा जाता है।—द्र० 'An Introduction to Indian Philoso-
—S. Chatterjee & D. Datta, 1948
phy' pp. 63-64

५. तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा । देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात् ।
—सर्वदर्शन०, पृ० ४, चौख० संस्क० १९६४

६. भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? —वही, पृ० ३

७. त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेन । —वही, पृ० ७

८. प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात् ।
—वही, पृ० ४

९. यथा—'नानुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः संदिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत, न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देह विपर्ययाः शक्या...' इत्यादि पंक्तियाँ, सांख्यतत्त्वकौमुदी ५, पृ० ९०
—गुरुमण्डलाश्रम हरिद्वार संस्करण, संवत् १९८७

१०. भामती, ३।३।५४, पृ० ८५३-५४

११. "अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥"
—सर्वदर्शन०, चार्वाकदर्शनप्रकरण, पृ० १०, चौ० सं० सी० (हिन्दी संस्करण), १९६४ ई०

१२. आचार्य गौडपाद ने बौद्धों के बाह्यार्थवाद एवं विज्ञानवाद का खण्डन इस प्रकार किया है—

"प्रज्ञप्तेः सन्निमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥
चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥
निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥
तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥"
—गौडपादकारिका, ४।२५-२८, माण्डूक्यो०

किन्तु बौद्धों की व्यूह रचना इतनी सुदृढ़ थी कि इस प्रकार छोटे-छोटे व विरल-संख्यक आक्रमणों से उन्हें कोई विशिष्ट व दीर्घस्थायी क्षति नहीं पहुँच सकी ।

१३. शा० भा० ब्र० सू० २।२।१८

१४. वही, २।२।३२

१५. नागार्जुन, माध्यमिककारिका, १।१७

१६. विवेकचूडामणि, श्लोक संख्या १११

१७. (अ) "...विगीतं विच्छिन्नमूलं माहायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो

लोकान् व्यामोहयन्ति ।"

—भास्करभाष्य, ब्र० सू० १।४।२५

(ब) "ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः ।"

—भास्करभाष्य, ब्र० सू० २।२।२६

१८. "न्यायकणिका" और "ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा" में आचार्य वाचस्पति बौद्धों के क्षणभंगवाद का खण्डन कर चुके थे, जैसाकि स्वयं उन्होंने "भामती में कहा है—"तस्मात् काल्पनिकादेव स्वलक्षणोपादानाद् बीजजातीयात् तथा विधस्यैवांकुरजातीयस्योत्पत्तिनियम आस्थेयः । अन्यथा कार्यहेतुकानुमानोच्छेदप्रसंगः । दिङ्मात्रमत्रसूचितम् । प्रपंचस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षान्यायकणिकयोः कृत इति नेह प्रतन्यते विस्तरभयात् ।"

—भामती पृ० ५४१, २।२।२६

"न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका" में भी उद्योतकर के टीकाकार के रूप में बौद्धों की प्रमाण-मीमांसा पर प्रहार कर चुके थे (द्र० न्या० वा० टीका पृ० ४५, न्या० सू० १।१।१; पृ० १८०, न्या० सू० १।१।५; पृ० २०४-५, न्या० सू० १।१।६) क्षणभंगवाद की भी आलोचना इस टीका में उन्होंने की है (द्र० न्या० वा० टी० पृ० ५६२-६३, न्या० सू० ४।१।१८)।

१६. "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥
सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥

—गौडपादकारिका ४।३१-३२, माण्डूक्यो०

२०. यद्यपि सर्वत्र आलोच्य विषयों के आलोचक वाचस्पति मिश्र ही हैं, किन्तु उन्होंने उत्तरोत्तरवादियों की भूमिका के आवरण में ही आलोचना की है

२१. "प्रपंचस्य पुनरत्यन्तासतो निरस्तसमस्तसामर्थ्यस्य......" इत्यादि

—भामती, अध्यासभाष्य, पृ० २२

२२. शून्यवादपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते ।

—शां०भा०ब्र०सू० २।२।३१

२३. लङ्कावतारसूत्र २।१३४-१३५, पृ० ३१-३२

—मिथिला विद्यापीठ संस्करण, १६६३

२४. विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाण—महो सुदृष्टं त्वदसूयदृष्टम् ॥

—स्याद्वादमंजरी, पृ० १५५, श्लोक १५, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृतसीरिज, नं० LXXXIII, १६३३

२५. प्र० वा० २।२०६, बौद्धभारती संस्करण, १६६८।
नोट—सर्वदर्शनसंग्रह में उक्त कारिका को लंकावतारसूत्र में उद्धृत बतलाया है, किन्तु 'लंकावतारसूत्र' के मिथिलाविद्यापीठ संस्करण में यह कारिका उपलब्ध नहीं

होती; हाँ, इसी भाव को व्यक्त करने वाली एक अन्य कारिका वहाँ अवश्य है—
बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः ।।

—लंका० २।१७३, १०।१६७

२६. भामती पृ० ५५७, २।२।३१

२७. अपि चारोपितं निषेधनीयम् । आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टो यथा शुक्तिकादिषु रजतादेः ।…युक्तमुत्पश्यामः ।

—भामती पृ० ५५८, २।२।३१

२८. 'इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्' । —ब्र० सू० २।२।१९

२९. शंकरभाष्य, २।२।१९

३०. भामती, २।२।१९, पृ० ५२५-२८

३१. वही, २।२।१९, पृ० ५२८-३१

३२. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्' —ब्र० सू० २।२।२२

३३. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्तिः, असम्भव इत्यर्थः

—शांकरभाष्य २।२।२२, पृ० ५३३

३४. 'बुद्धिपूर्वक : किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः' । —शांकरभाष्य, २।२।२२, पृ० ५३३

३५. सास्रवाऽनास्रवा धर्माः, संस्कृता मार्गवर्जिताः ।
सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात् समनुशेरते ।।
अनास्रवा मार्गसत्यं, त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम् ।
आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राऽऽकाशमनावृतिः ।।
प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक् ।
उत्पादाऽत्यन्यत विघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया ।।

—अभिधर्मकोश, १।४,५,६, काशीविद्यापीठ संस्करण, सं० १९८८

३६. "प्रतिसंख्या हि प्रज्ञा, तया हेतुभूतयाऽयं निरोधो भवतीति प्रतिसंख्यानिरोधः"

—राहुल सांकृत्यायन, अभिकर्मकोशटीका, १।६
—काशीविद्यापीठ संस्करण, सं० १९८८

३७. "Pratisaṁkhyānirodha is another name for nirvāṇa"

—S. Yamakami, Systems of Budhistic Thought', P. 112.

३८. "Pratisaṁkhyānirodha is the dharma par excellence among all dharmas, the highest of all things, the noblest of all reasons, the greatest of all achievements. And therefore, is the title anuttaram or supreme. But what is the abode of this supreme dharma, Nirvāṇa or Pratisaṁkhyānirodha? Is it within or outside the universe?"

The answer to this question is given in the Abhidharma--

Mahāvibhāṣaśāstra :—"Pratisaṁkhyānirodha is neither quite the same as the skandhas nor quite different from them: but its nature is different from the defiled skandhas (Sarvadharmas)."
—S. Yamakami "Systems of Budhistic Thought" p. 166.

३९. शांकरभाष्य, २।२।२२, पृ० ५३३

४०. भामती, २।२।२२, पृ० ५३३—"भावप्रतीपा संख्या बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः प्रतिसंख्यानिरोधः । सन्तमिममसन्तं करोमीत्येवमाकारता च बुद्धे र्भावप्रतीपत्वम् ।"

४१. न तावत् सन्तानस्य निरोधः सम्भवति । हेतुफलभावेन हि व्यवस्थिताः सन्तानिन एवोदयव्ययधर्माणः न सन्तानः । तत्र योऽसावन्त्यः सन्तानी, यन्निरोधात् सन्तानोच्छेदेन भवितव्यं, स किं फलं किंचिदारभते न वा…" इत्यादि पंक्तियाँ ।
—भामती, २।२।२२, पृ० ५३३

४२. "अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः । सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती सम्भवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् ?…" इत्यादि पंक्तियां ।
—शांकरभाष्य, २।२।२५, पृ० ५३५-३७

४३. धर्मकीर्ति, प्र० वा०, पृ० ४०४-७ भाग प्रथम, तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरिज, पटना १९३५ ।

४४. भामती, २।२।२५, पृ० ५३६-३८ ।

४५. 'न्यायबिन्दु' की व्याख्या में धर्मोत्तराचार्य ने कहा है—"द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति । अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः । प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव । सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् ।"
—धर्मोत्तरप्रदीप, पृ० ७१, द्वितीय भाग, तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरिज, पटना, १९३५ ।
अर्थात् प्रमाणज्ञान का विषय दो प्रकार का होता है—ग्राह्य और अध्यवसेय । ग्राह्य उस आकार को कहा जाता है जिस आकार में ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा प्रापणीय वस्तु अध्यवसेय कहलाती है । प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा एक क्षण ग्राह्य होता है तथा दूसरा क्षण अध्यवसेय अथवा प्रापणीय वस्तु के समान सन्तति का होता है ।
(ग्राह्य आकार भी दो प्रकार का होता है—पारमार्थिक और सांवृतिक । धर्मोत्तराचार्य ने अध्यवसेय आकार का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि वह कोई बाह्य आकार नहीं है अपितु समान सन्तति का क्षणान्तर है । विज्ञप्तिमात्रतावादी बाह्यवस्तु को नहीं मानता, हाँ सौत्रान्तिक या वैभाषिक वैसा अन्वय मान सकते हैं, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने बाह्य विषय को अध्यवसेय माना है । किन्तु प्रकरण योगाचार-मत-निराकरण का प्रतीक होता है । अतः सौत्रान्तिक की रीति का अनुसरण यहाँ उचित नहीं प्रतीत होता, फिर भी एक ही तर्क से जब कई शत्रुओं का संहार हो

तो उन्हें अवश्य संगृहीत रूप में ही प्रस्तुत करना चाहिए। अतः योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक—तीनों की आलोचना वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कर डाली है।)

४६. "यद्युच्येत द्विविधो हि विकल्पानां विषयो ग्राह्यश्चाध्यवसायश्च। तत्र स्वाकारोऽध्यवसेयस्तु बाह्यः।......" इत्यादि। —भामती २।२।२५, पृ० ५३७

४७. उद्धृत भामती, २।२।२५, पृ० ५३७, मूलतः प्रमाणवार्तिक २।२४६

४८. "न च निषेध्यमस्पृशती प्रतीतिर्निषेधं स्प्रष्टुमर्हति, तस्य तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वात्। न च निषेधान्तरमेव निषेध्यम्, इतरेतराश्रयप्रसंगात्। परानपेक्षनिरूपणे तु विधौ नायं दोषः। ततः प्रतीतावितरेतराश्रयत्वमुक्तं संकेते संचार्य यत्परिहृतं ज्ञानश्रिया, तदेतत्......"

—आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ३४७-४९, चौ० सं० सी०, संस्करण १९२५

४९. "......तत एव इति संचारपरिहारौ। ज्ञानश्रिया ज्ञानघनेन ज्ञानातिरिक्तपदार्थानभ्युपगन्त्रा बाह्यं नेत्यर्थः।"

—दीधिति, पृ० ३४९, संस्करण वही।

५०. "यदि बाह्योऽनुभूयेत को दोषो नैव कश्चन।
इदमेव किमुक्तं स्यात् स बाह्योऽर्थोऽनुभूयेत॥
यदि बुद्धिस्तदाकारा साऽस्त्याकारविशेषिणी।
सा बाह्यादन्यतो वेति विचारमिदमर्हति॥
दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात्तद् ग्रहे ग्रहाद्।
दर्शनं नीलनिर्भासं, नाऽर्थो बाह्योऽस्ति केवलम्॥
कस्यचित् किंचिदेवाऽन्तर्वासनायाः प्रबोधकम्।
ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया॥

—धर्मकीर्ति, प्र० वा० २।३३३-३६

५१. "काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः न तु अर्थस्य सतः सम्भवति"

—शाबर भाष्य

५२. ब्र०, सू० २।२।२८

५३. भामती, २।२।२८, २।२।३१

५४. "तथा चाहुः 'नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद्घटयेत्' इति।"

—भामती, २।२।२८, पृ० ५४२

५५. "तदुक्तम्—'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानै दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ इति।"

—भामती, २।२।२८, पृ० ५४४

५६. भामती, २।२।२८, पृ० ५४८, पं० ४ से पृ० ५४९, पं० ६ तक

५७. (अ) "इति प्रकाशरूपा नः स्वयं धीः सम्प्रकाशते।
अन्योऽस्यां रूपसंक्रान्त्या प्रकाशः सन् प्रकाशते॥

सादृश्येऽपि हि धीरन्या प्रकाश्या न तया मता।
स्वयं प्रकाशमानाऽर्थस्तद्रूपेण प्रकाशते॥" —प्र० वा० २।४८१-८२

(ब) "विषयस्य कथं व्यक्तिः प्रकाशे रूपसंक्रमात्।
स च प्रकाशस्तद्रूपः स्वयमेव प्रकाशते॥" —वही, २।४७६।

५८. भामती, २।२।२८, पृ० ५५१, पं० ३ से ५ तक

५९. भामती, २।२।२८, पृ० ५५१ से ५५५

६०. 'अस्तिकाय' शब्द का प्रयोग जैन विद्वान् लगभग उसी अर्थ में किया करते हैं जिस अर्थ में बौद्धों ने अपने 'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग किया है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार प्रदेशबहुत्व को व्याप्त करने वाले संहतावस्थापन्न तत्त्व संघातरूप शरीर के सादृश्य के कारण काय कहलाते हैं। उन तत्त्वों की सत्ता होने से वे 'अस्ति' शब्द से व्यपदिष्ट होते हैं। अस्तित्व तथा कायत्व, इन दोनों धर्मों के होने से अस्तिकाय कहलाते हैं (द्र० जैनदर्शनसार, पृ० १५)। इसी प्रकार बौद्धमतानुसार राशिकरण स्कन्ध का स्वरूप है (द्र० राहुलकृत अभिधर्मकोशटीका १।२२)

६१. भामती, २।२।३३, पृ० ५५९-६०

६२. "वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रतिविशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः॥"
—उद्धृत भामती, २।२।३३, पृ० ५६१

६३. उद्धृत कल्पतरु, २।२।३३, पृ० ५६०
मूलतः—अनन्तवीर्यकृत 'परीक्षामुख' टीका

६४. "सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन समुच्चयाभावे विकल्पः। न च वस्तुनि विकल्पः सम्भवति। तस्मात् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानवत् सप्तत्वपंचत्वनिर्धारणस्य फलस्य निर्धारयितुश्च प्रमातुस्तत्करणस्य प्रमाणस्य च तत्प्रमेयस्य च सप्तत्वपंचत्वस्य च सदसत्त्वसंशये साधु समर्थितं तीर्थकरत्वमृषभेणात्मनः।"
—भामती, २।२।३३, पृ० ५६२

६५. मी० सू० १।३।५

६६. तन्त्रवार्तिक १।३।७, पृ० १२८, चौ० सं० सी०, १९०३

६७. "प्रत्यक्षवेदविहितधर्मक्रियया हि लब्धशिष्टत्वव्यपदेशा यत्परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्म-बुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव।
—तन्त्रवार्तिक १।३।७, पृ० १३१, चौ० सं० सी०, १९०३

६८. ब्र० सू० २।१।१२

६९. "एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केन-चिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः।" —ब्र० सू०शां० भा० २।१।१२, पृ० ४५१-५२

७०. "यद्वै किंच मनुरवदत्तद् भेषजम्" —(तै० सं० २।२।१०।२)

७१. भामती, २।१।१२, पृ० ४५२।

* भामती, २।२।११, पृ० ५०३

७२. "बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम् ।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ।।"
—खण्डनखण्डखाद्य १।३३, पृ० ५००
चौ० सं० सी० १९०४, सम्पा० गंगानाथ झा

७३. 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' —ब्र० सू० २।१।३

७४. शांकरभाष्य, २।१।३, पृ० ४३८-३९

७५. भामती, २।१।३, पृ० ४३८-३९

७६. तन्त्रवार्त्तिक १।३।३, पृ० ८५, चौ० सं० सी० संस्करण, १९०३

७७. श्वेता० ६।१३

७८. भामती, २।१।३, पृ० ४३९

७९. वही, २।१।३, पृ० ४३९

८०. वही, १।१।५, पृ० १६२

८१. "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः......"
—सांख्यसूत्र १।६१, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी; १९६६

८२. '...प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः...गुणाः' —सांख्यकारिका १२

८३. भामती, १।१।५, पृ० १६५

८४. तैत्ति० २।१

८५. छान्दो० ६।२।३

८६. प्रश्न० ६।३

८७. "अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ।। —सांख्यकारिका १४

८८. भामती, १।२।२१, पृ० २५७

८९. 'तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।।' —सांख्यकारिका १९

९०. 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।' —सांख्यकारिका ३७

९१. ब्र० सू० २।३।३३

९२. मी० सू०, ३।७।१८

९३. भामती, २।३।३३

९४. ब्र० सू० ३।२।४०

९५. ब्रह्मसूत्रों के रचयिता को महर्षि वेदव्यास तथा बादरायण—इन दोनों नामों से अभिहित किया जाता है।
द्र०—(१) 'भारतीय दर्शन—न्यायवैशेषिक, पृ० ८०, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रथम संस्करण।
(२) 'वेदान्तदर्शन' की भूमिका, प्र० ९-३, गीताप्रेस संस्करण, सं० २०२७
(३) 'ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्यम्' की सरयूप्रसाद उपाध्याय कृत भूमिका,

पृ० ४, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी।
(४) 'सर्वदर्शन०, पृ० ७५२, चौखम्बा संस्करण, १९६४।
(५) An Introduction to Indian Philosophy, pp- 379, 411,
(६) 'भामती' प्रारम्भिक श्लोक संख्या ४

९६. "पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्" —ब्र० सू० ३।२।४१

९७. कौ० ब्रा० ३।८

९८. गीता ७।२१-२२

९९. शांकरभाष्य, ३।२।४१

१००. "दृष्टानुसारिणी हि कल्पना युक्ता नान्यथा। न हि जातु मृत्पिण्डादयः कुम्भकाराद्यनधिष्ठिताः कुम्भाद्यारम्भाय विभवन्तो दृष्टाः। न च विद्युत्पवनादिभिरप्रयत्नपूर्वं व्यभिचारः,...तस्मादचेतनं कर्म वा अपूर्वं वा न चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं स्वकार्यं प्रवर्तितुमुत्सहते।..." —भामती, ३।२।४१, पृ० ७३१-३२

१०१. "भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥ —तैत्ति० २।८।१

१०२. ब्र० सू० तथा शांकरभाष्य, १।२।२६-२७

१०३. अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते।...तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।'
—शांकरभाष्य, ब्र० सू० १।१।४, पृ० १०८-११२

१०४. अत्राभिधीयते—न, कर्म-ब्रह्मविद्याफलयो र्वैलक्षण्यात्।...'
—शांकरभाष्य, ब्र० सू० १।१।४, पृ० ११२

१०५. भामती, १।१।४, पृ० १०८-९
* 'प्रवृत्ति र्वा निवृत्ति र्वा नित्येन कृतकेन वा
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥' —उद्धृत भामती, पृ० १०९
—मूलतः श्लोकवार्तिक, ५।४

१०६. प्रकृत रामानुज श्रीभाष्यकार तथा विशिष्टाद्वैतवाद के सर्थक रामानुज से भिन्न थे। ये हैदराबाद में गोदावरी नदी के तट पर स्थित धर्मपुरी नामक स्थान के निवासी थे। इनकी भी आस्था रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में थी तथा इन्होंने वेंकटाद्रिगुरु से श्रीभाष्य पढ़ा था।
—द्र० 'तन्त्ररहस्य' पृ० ७२, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज नं० २४

१०७. न्यायरत्नमाला (पार्थसारथिमिश्रविरचित नायकरत्नव्याख्या), पृ० १, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज नं० एल २५, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, १९३७।

१०८. भामती, १।१।४, पृ० १३१

१०९. वही

११०. मी० सू० १।२।७

१११. "स्यादेतत्—यदि विधिविरहेऽपि वेदान्तानां प्रामाण्यं हन्त तर्हि 'सोऽरोदीत्'

इत्यादीनामप्यस्तु स्वतन्त्राणामेवोपेक्षणीयार्थानां प्रामाण्यम् ।''''''नत्वेवं वेदान्तेषु पुरुषार्थापेक्षा, तदर्थविगमादेवानपेक्षात्परपुरुषार्थलाभादित्युक्तम् ।''

—भामती, १।१।४, पृ० १०७-१०८

११२. ''अतश्च वेदान्तानामप्यात्मा ज्ञातव्य इत्यपुनरावृत्तये समाम्नातेन विधिनैक-वाक्यतामाश्रित्य कार्यपरत्वमेव वर्णनीयम् ।''

—शालिकनाथमिश्र—'प्रकरणपंचिका', पृ० ९३, विद्याविलास यन्त्रालय, काशी, सन् १९०४

११३. भामती, १।१।४, पृ० ११४

११४. ''अयमभिसन्धिः—वाचकशब्दप्रभवत्वं हि''''''' इत्यादि पंक्तियाँ,

—भामती, १।३।२८, पृ० ३२२-२३

११५. ''गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः । श्रोत्रग्राह्योऽर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः । ते च श्रोत्रग्राह्याः । ''यद्येवमर्थप्रत्ययो नोपपद्यते । कथम् । एकैकाक्षर-विज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते । न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम । यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । यदा गकारो न तदौकारविसर्जनीयौ । यदौकारविसर्जनीयौ न तदा गकारः । अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । अन्तर्हिते शब्दे स्मरणादर्थप्रतिपत्तिश्चेन्न । स्मृतेरपि क्षणिकत्वाद-क्षरस्तुल्यता'' पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोषः ।''

—शाबरभाष्य, १।१।१, पृ० ४५-४६, आनन्दाश्रम संस्करण

११६. उद्धृत भामती, १।३।२८, पृ० ३३०

मूलतः श्लो० वा०, सूत्र ५, स्फोटवाद, श्लोक संख्या ६९, पृ० ५२७

११७. (अ) ''स्वतो ह्रस्वादिभेदस्तु नित्यवादे निरुध्यते ।
सर्वदा यस्य सद्भावः स कथं मात्रिकः स्वयम् ।।''

—श्लो० वा० सूत्र ५, श्लोक ५०, पृ० ५२२

(ब) ''ननु दीर्घाद्यनित्यत्वादनित्यो वाचको भवेत् ।
आनुपूर्वीवदेवाऽस्य परिहारो भविष्यति ।।

—श्लोवा० सूत्र ५, श्लोक ५५, पृ० ५२२,

११८. उद्धृत शांकरभाष्य, १।३।२८, पृ० ३२२

मूलतः ''अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।''

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १

११९. भारतीय इतिहास में भास्कर नाम के एकाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं किन्तु ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार भास्कर भट्टभास्कर के नाम से अभिहित किये जाते हैं ।

—द्र० पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद लिखित भास्कर-भाष्य-भूमिका

१२०. यद्यपि इनके समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है किन्तु, क्योंकि इन्होंने शांकर मत का खण्डन किया है तथा वाचस्पति मिश्र ने इनके खण्डन का परिहार किया है, अतः इन्हें शंकर (७८८ से ८२० ई०) तथा वाचस्पति मिश्र

(८४१ ई०) के मध्य स्थित किया जाना समीचीन प्रतीत होता है।

१२१. "सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् ।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये ॥"

—भास्करभाष्य, प्रारम्भिक श्लोक

१२२. ब्र० सू० १।१।१

१२३. 'तत्राथ शब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, सूत्र १।१।१, पृ० ४७

१२४. "नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वञ्च'''तस्मात् अथशब्देन यथोक्तसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते ।"

—ब्रह्मसूत्र १।१।१, शांकरभाष्य, पृ० ७२-७३

१२५. "अत्र ब्रूमः । यत् तावदुक्तं धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति । तदयुक्तम् । अत्र हि ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्षप्राप्तिः सूत्रकारस्याभिप्रेता । तथा च वक्ष्यति 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदिति' ।"

—ब्रह्मसूत्र १।१।१, भास्करभाष्य, पृ० २

१२६. ब्रह्मसूत्र ३।४।२६

१२७. बृ० ४।४।२२

१२८. "क्व पुनरस्याः कर्मापेक्षा, किं कार्ये'''स्वरूपे वा'''न तावत् कार्ये'''तस्मात् साक्षात्कारलक्षणकार्याभावान्नोपासनाया उत्पाद्ये कर्मापेक्षा । न च कूटस्थनित्यस्य सर्वव्यापिनो ब्रह्मण उपासनातो विकारसंस्कारप्राप्तयः सम्भवन्ति ।"

—भामती, पृ० ५४

१२९. "नित्यानित्यविवेकादयोऽन्तःकरणधर्माः पूर्वत्रापाकृताः स्वशब्देन वा निर्दिष्टाः कथमिव सूत्रकारस्य विवक्षिता इति प्रतिपत्तुं शक्यते तेषामनवस्थितत्वात् ।"

—भामती, पृ० ६४

१३०. ब्रह्मसूत्र, १।१।१, भास्करभाष्य ।

१३१. "अतएव श्रुतिः—तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति इति ।'''तस्मात्तेषामेवानान्तर्यं, न धर्मजिज्ञासायाः'''।"

—भामती, पृ० ७२

१३२. बृहदा० ४।४।२३

१३३. "हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः" इत्यथाग्रशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वात् । न तथेह क्रमो विवक्षितः ।

—भामती, पृ० ६४

१३४. तस्मात् (तस्मै) स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिःश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

१३५. "अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्माद् वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो० ८।१।६) इत्यादिः ।'''। तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या ।"

—ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, १।१।१, पृ० ७३-७५

१३६. "यद्यप्युक्तं कर्मणां क्षयित्वं ज्ञानस्य च निःश्रेयससाधनत्वमतः शब्देन व्यपदिश्यते

इति । तदसत् । अतः शब्दो हि वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थतया ।···केवलस्य कर्मणः क्षयित्वमुच्यते न ज्ञानसहकारिणः"

—ब्रह्मसूत्र १।१।१, भास्करभाष्य, पृ० ४

१३७. "न हि मधुविषसंपृक्तमन्नं विषं परित्यज्य समधु शक्यं शिल्पिवरेणापि भोक्तुम् क्षयितानुमानोपोद्बलितं च 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादिवचनं क्षयिताप्रतिपादकम् 'अपाम सोमम्' इत्यादिकं वचनं मुख्यासम्भवे जघन्यवृत्तितामापादयति। यथाहुः पौराणिकाः 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति।···अतः स्वर्गादीनां क्षयिताप्रतिपादकात्, ब्रह्मज्ञानस्य च परमपुरुषार्थताप्रतिपादकात् आगमात् यथोक्तसाधनसम्पत्, ततश्च जिज्ञासेति सिद्धम् ।"

—भामती, पृ० ७४

१३८. "तदिमयुक्तमिति ब्रूमः ।···देभ्यश्चक्षुरादिभ्यः···प्रमितिरिष्यतां प्रमितिः संवेदनमनुभव इति···निरुध्यमानं चान्यदात्मचैतन्यं चान्यदिति युक्तम् ।"

—इत्यादि पंक्तियाँ, ब्र० सू० भास्करभाष्य, पृ० ६-७

१३९. "विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गपरमानन्दघनब्रह्मावगतिर्ब्रह्मणः स्वभावः, इति सैव निःश्रेयसं पुरुषार्थं इति।·········तस्मादानन्दघनब्रह्मात्मतामिच्छता तदुपायो ज्ञानमेषितव्यम् ।"

—इत्यादि पंक्तियाँ, भामती, पृ० ७८

१४०. "अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम् । संग्रहश्लोकः—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥"

—ब्र० सू० भास्करभाष्य, पृ० १८

१४१. परे हि द्वयीं नित्यतामाहुः—कूटस्थनित्यतां परिणामिनित्यतां च । तत्र नित्यमित्युक्ते मा भूदस्य परिणामिनित्यतेत्याह—तत्र किंचिदिति ।···यथाहुः—
'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥' इति । अत्रोच्यते
—कः पुनरयं भेदो नाम यः सहाभेदेनैकत्र भवेत् ।···
तस्माद् भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन्नवहेयेऽभेदोपादानैव भेद—
—कल्पना, न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेति युक्तम् ।"

—भामती, पृ० ११७-११९

१४२. ब्रह्मसूत्र, १।१।१६

१४३. वही, १।१।१७

१४४. "अत्र केचित् स्वमतिकल्पितदर्शनपरित्राणाय सूत्रार्थं विनाशयन्तो व्याचक्षते-न हीश्वरादन्यः संसारी विद्यते, स एव संसारी नेतरोऽनुपपत्ते र्भेदव्यपदेशाच्चेति कथं सूत्रद्वयमिति चेत् । नैष दोषः । उपाधिकृतभेदमात्राङ्गीकरणादिदमुच्यते । यथा घटाकाशः पटाकाश इत्याकाशस्य भेदव्यपदेशः कल्पनामात्रेणेति । तदेतदयुक्तम् । यथाश्रुतसूत्रार्थसम्भवे भक्त्या व्याख्यानस्यापन्यायत्वात् ।"

—ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य, पृ० २६

१४५. तैत्ति० २।६

१४६. ब्रह्मसूत्र, २।३।४३

१४७. "भेदाभेदौ च न जीवपरब्रह्मणोरित्युक्तमधस्तात्"—

—भामती, पृ० १८३

१४८. 'अत्राह अस्तु···। चतुर्विधं हि कर्मकारकमुत्पाद्यं प्राप्यं विकार्यं चेति। न तावन्मोक्षाख्यं ब्रह्मस्वरूपमुत्पाद्यं···, नापि कर्मणा ब्रह्माप्यते···, न च क्रियया विक्रियते···, नापि संस्क्रियते···इति। सत्यं त्रिविधं कर्म न सम्भवतीत्याप्यं तु न शक्यते निरसितुम्।

—भास्करभाष्य, १।१।४

१४९. 'अथ जीवो ब्रह्मणो भिन्नस्तथापि न तेन ब्रह्म आप्यते ब्रह्मणो विभुत्वेन नित्य-प्राप्तत्वात्।'

—भामती, १।१।४, पृ० १२६

१५०. ब्र० सू०, १।२।२३

१५१. मुण्डक० २।१।४

१५२. "···तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मक रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः' अग्नि मूर्धा चक्षुषी···'

—ब्र० सू० शां०भा०, १।२।२३

१५३. "तदयुक्तम्। प्रकरणविरोधात्। प्रकरणिनि परमकारणे यदीदं रूपं नोपपद्यते तदान्यत्र संचार्येताप्रस्तुते। प्रस्तुत हिरण्यगर्भस्यापीदं रूपं परमात्मद्वारेणोपचर्यते नान्यथेति स्थितम्।'

—ब्र० सू० १।२।२३, भास्कर भाष्य, पृ० ४७

१५४. 'पुनः शब्दोऽपि पूर्वस्माद् विशेषं द्योयतन्नस्येष्टतां सूचयति। जायमानवर्गमध्य-पतितस्याग्निमूर्धादिरूपवतः···तस्माद्धिरण्यगर्भ एव भगवान् प्राणात्मना सर्व-भूतान्तरः कार्यो निर्दिश्यत इति सांप्रतम्'

—ब्र० सू० १।२।२३, भामती, पृ० २५९-६०

१५५. ब्र० सू० १।३।१०

१५६. छान्दो० २।२३।२

१५८. "तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते, किं वा परमेश्वर इति···वर्ण एवा-क्षरशब्द इति, एवं प्राप्त उच्यते—पर एवात्माऽक्षरशब्दवाच्यः···अक्षरं परमेव

—ब्र० सू० १।३।१०, शांकर भाष्य, पृ० २८५

ब्रह्म।

१५८. "तत्रायमर्थः सांशयिकः किमक्षरशब्देन प्रधानमुच्यते किं वा ब्रह्मेति। किं तावत् प्राप्तं प्रधानं वक्तुं युक्तं तस्य स्वविकारधारणोपपत्तेरोतत्वं युज्यते।···केचिद-क्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वादक्षरमोङ्कार इति पूर्वपक्षयन्ति वैयाकरणदर्शनं च स्फोटः शब्द इत्यवतार्य गकारादयो वर्णा एव शब्दा इति स्थापयन्ति। तदेतदधि-

—ब्र० सू० १।३।१०, भास्कर भाष्य, पृ० ५४

करणेनासम्बद्धम्।···"

१५९. "ये तु प्रधानं पूर्वपक्षयित्वाऽनेन सूत्रेण परमात्मैवाक्षरमिति सिद्धान्तयन्ति तैरम्ब-रान्तधृतेरित्यनेन कथं प्रधानं निराक्रियत इति वाच्यम्। अथ नाधिकरणत्वमात्रं धृतिः, अपि तु प्रशासनाधिकरणता।···तथाप्यम्बरान्तधृतेरित्यनर्थकम्। एतावद् वक्तव्यम्—अक्षरं प्रशासनादिति। एतावतैव प्रधाननिराकरणसिद्धेः। तस्माद् वर्णाक्षरतानिराक्रियैवास्यार्थः।"

—ब्र० सू० १।३।१०, भामती, पृ० २८४

१६०. ब्र० सू० १।४।२२
१६१. शांकर भाष्य, ब्र० सू० १।४।२२
१६२. 'केचिदत्र मायावादिनो ब्रुवते। स एवेश्वरः साक्षाद्देहेऽप्यनुप्रविश्यावस्थितः स एव संसारी नान्योऽस्ति व्यतिरिक्तो जीवो नामेति। कथं तस्य संसारित्वमिति चेत्। अविद्याकृतनामरूपोपाधिवशादिति। तत्र ब्रूमः'''।
—भास्करभाष्य, ब्र० सू० १।४।२१
१६३. ''ये तु काशकृत्स्नीयमेव मतमास्थाय जीवं परमात्मनोऽशमाचख्युः, तेषां कथं 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति न श्रुतिविरोधः ?'''"
—भामती, ब्र० सू० १।४।२२, पृ० ४२२
१६४. 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' ब्र० सू० २।३।६
१६५. शांकरभाष्य, ब्र० सू० २।३।६
१६६. भास्करभाष्य, ब्र० सू० २।३।६
१६७. श्वेता० ६।६
१६८. भास्करभाष्य, ब्र० सू० २।३।६
१६९. 'ननु' न चास्य कश्चिज्जनिता 'इत्यात्मनः सतोऽकारणत्वश्रुतेः कथमुत्पत्त्याशङ्का। न च-वचनमदृष्ट्वा पूर्वः पक्ष इति-युक्तम्'''व्याख्यातव्या'।
—भामती, ब्र० सू० २।३।६
१७०. मुण्डक० २।१।१
१७१. ''ये तु गुणदिक्कालोत्पत्तिविषयमिदमधिकरणं वर्णयांचक्रुस्तैः 'सतोऽनुपपत्तेः' इति क्लेशेन व्याख्येयम्। अविरोधसमर्थनप्रस्तावे चास्य संगतिर्वक्तव्या।'''"
—भामती, २।३।६, पृ० ५८६
१७२. ब्र० सू० २।३।१४
१७३. ''भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः। अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते।"
—शांकरभाष्य, ब्र० सू०, २।३।१४, पृ० ५६६
१७४. भास्कर भाष्य, ब्र० सू०, २।३।१४, पृ० १३३
१७५. भामती, २।३।१४, पृ० ५६६-९७
१७६. ''यद्यप्यत्र श्रुतिप्रतिषेधो न परिह्रियते, तथाप्युत्पत्तिक्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो निर्णीयत इति प्रासङ्गिकी पादावान्तरसङ्गती। भास्करेण सिद्धान्ते स्थित्वाऽनेन'''"
—कल्पतरु २।३।१४, पृ० ५९७
१७७. भास्करभाष्य, २।३।१४, पृ० १३३
१७८. ''तत्र नियमे सम्भवति नानियमः" —भामती २।३।१४, पृ० ५९६
१७९. ब्र० सू० २।१।३६
१८०. ब्र० सू० ३।२।६
१८१. ''येषामीश्वर एव साक्षात् संसारीति दर्शनं तेषां न पूर्वपक्षोऽवकल्पते न सिद्धान्तः।"
—ब्र० सू० भास्करभाष्य, ३।२।६, पृ० १३४

१८२. "यद्यपीश्वरादभिन्नो जीवः, तथाप्युपाध्यवच्छेदेन भेदं विवक्षित्वाऽधिकरणान्तरारम्भः।" —भामती, ३।२।६, पृ० ७०३-४

१८३. ब्र० सू०, १।१।१

१८४. कठ० २।७

१८५. गौडपादकारिका, २।३२, माण्डूक्यो०

१८६. ब्र० सू०, ३।२।३७

१८७. "अनेनानन्तरोक्तेन न्यायेन सर्वगतत्वं ब्रह्मणः सेतुत्वादिवत्परिच्छेदनिराकरणात्। …नात्र पूर्वपक्षाशंका।" —ब्र०सू० भास्करभाष्य, ३।२।३७, पृ० १७२

१८८. "ब्रह्माद्वैतसिद्धावपि न सर्वगतत्वं—सर्वव्यापिता सर्वस्य ब्रह्मणा स्वरूपेण रूपवत्त्वं सिध्यतीत्याह—अनेन सेतुत्वादि निराकरणेन।……" इत्यादि पंक्तियाँ —भामती, ब्र० सू०, ३।२।३७, पृ० ७२७

१८९. "ब्रह्मव्यतिरिक्तस्वभावे सर्वाभावादेव सर्वसंबन्धात्मकसर्वगतत्वासिद्धिरतश्चाकाशवत् सर्वगत इत्यादिश्रुतिविरोधः। तस्मात् सर्वगतत्वार्थं ब्रह्मातिरिक्तवस्त्वपेक्षणात् परमत इति पूर्वपक्ष उन्मज्जतीति शंका। न वास्तवं सर्वगतत्वं किंतु प्रपंचेन मिथ्यातादात्म्यमित्याह—अद्वैत इति।" —कल्पतरु, ब्र० सू०, ३।२।३७, पृ० ७२७

१९०. अध्याय तृतीय, पाद द्वितीय का अष्टम अधिकरण, सूत्र संख्या ३८ से ४१ तक।

१९१. "केचित् पुनरान्तर्यामिव्यापारो नियोगः स फलहेतुरिति मन्यन्ते। तदयुक्तम्। तद्व्यापारस्य नित्यत्वात् सर्वप्राणिसाधारण्याच्च न केनचिदधिकारिणासौ निर्वर्त्यते। न हि नित्यस्य साध्यत्वमुपपद्यते। सव्यापारो हि प्रयत्ने पुरुषो नियुज्यते तस्मादसमीचीनमिति। —भास्करभाष्य, ३।२।४१, पृ० १७३

१९२. "ये पुनरन्तर्यामिव्यापारतया फलोत्पादनाया नित्यत्वं सर्वसाधारणत्वमिति मन्यमाना भाष्यकारीयमधिकरणं दूषयांबभूवुस्तेभ्यो व्यावहारिकयामीश्वरजीवव्यविभागावस्थायामिति भाष्यं व्याचक्षीत।" —भामती, ३।२।४१, पृ० ७३३

१९३. षोडशाधिकरण, ३।३।२७-२८

१९४. ब्र० सू०, ३।३।२८

१९५. "ते नः कृतादकृतादेनसो देवासः पिपृत स्वस्तये"

नोट—'भास्करभाष्य' में यह अशुद्ध छप गया प्रतीत होता है—

"तेन कृतादकृतादेनसस्य विद्यादेवासः पिपृता स्वस्तये"

१९६. "शप्यमानस्य यत्पापं शपमानं नियच्छतीति।"

१९७. "प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनमिति॥"

१९८. भास्करभाष्य, ३।३।२८, पृ० १८५-६

१९९. "ये तु परस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते कथं परत्र संक्रामत इति शंकोत्तरतया सूत्रं व्याचख्युः…" इत्यादि पंक्तियाँ। —भामती, ३।३।२८, पृ० ८११

२००. ब्र० सू०, ३।३।२९

२०१. "एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" —छान्दो०, ४।१५।६
२०२. भास्करभाष्य, ३।३।२६, पृ० १८६
२०३. भामती, ३।३।२६, पृ० ८१२-१३
२०४. ब्र० सू०, ३।४।२६-२७
२०५. बृहदा०, ४।४।२२
२०६. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।२१
२०७. वही, ६।२२
२०८. जाबलोपनिषद्, ४
२०९. ईशा०, २
२१०. भास्करभाष्य, ३।४।२६, पृ० २०७-९
२११. भामती, ३।४।२६-२७, पृ० ८९८—९००
२१२. छान्दो०, ४।१५।५
२१३. शांकरभाष्य, ब्र० सू०, ४।३।७
२१४. उद्धृत शांकरभाष्य, ४।२।१३
२१५. भास्करभाष्य, ४।३।१३
२१६. भामती, ४।३।७
२१७. मुण्डकोपनिषद्, ३।२।९
२१८. श्वेता०, ६।१५
२१९. छान्दो०, ६।१४।२
+ भामती, ब्र० सू०, ४।३।७
२२०. "नाविद्या ब्रह्माश्रया, किंतु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तं···अन्याश्रया तु कथमन्यस्योपकरोति, अतिप्रसंगात्।" —भामती, १।१।४, पृ० १२६-२७
२२१. ब्र० सू०, १।११।१२—१९
२२२. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१, २, ३, ४
२२३. "इद त्विह वक्तव्य···इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति ?······ अत्रोच्यते—यद्यपि अन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते···" —शांकरभाष्य, १।१।१९
२२४. "स्वमत्युत्प्रेक्षितहेत्वाभासविजृम्भितेयं गमनिका न श्रुत्यनुगता सूत्रानुगता वा। कथमिह तावदन्यस्यार्थान्तरतमस्यासङ्कीर्तनात् प्रकरणपर्यवसानमानन्दमये लक्ष्यते। ···यद्यप्यन्नमये विकारार्थो मयट्प्रत्ययः प्राणमयादिषु तु न विकारार्थः संभवति। ···स्वार्थे मयट्प्रत्ययो वृत्तिबाहुल्यविवक्षया वा।···" —भास्करभाष्य, १।१।१९, पृ० २७
* भास्करभाष्य, ब्र० सू०, ४।१।१
* न च—प्राणमयादिषु विकारार्थत्वायोगात् स्वार्थिको मयडिति युक्तम्; प्राणाद्युपा-

च्छिन्नो ह्यात्मा भवति प्राणादिविकारः, घटाकाशमिव घटविकारः। न च सत्यर्थे स्वार्थिकत्वमुचितम्।" —भामती, १।१।१२, पृ० १७८-७९

२२५. भास्करभाष्य, १।१।१६, पृ० २७

२२६. भामती, १।१।१६, पृ० १८७

२२७. "मयड्विकारे मुख्यः ब्रह्मशब्दः परब्रह्मणि मुख्यः अभ्यस्यमानानन्दशब्दश्च प्रकृत्यर्थ एव मुख्यो न मयडर्थे। पूर्वपक्षे एतत्त्रितयलङ्घनम्, आनन्दमयपदस्यान्नमयादिविकारप्रायपाठपरित्यागश्च स्यात्। उत्तरे तु पक्षे पुच्छशब्दस्यावयवप्रायपाठस्यैव बाधनम्, अनुगुणं तु मुख्यत्रितयमित्यर्थः।"

—कल्पतरु, १।१।१६, पृ० १८७

२२८. छान्दो०, २।२३।१

२२९. "शालस्तु सर्जकार्श्याश्वकर्णिकः सस्यसम्बरः।
अश्वकर्णः कषायः स्याद् व्रणस्वेदकफक्रुमीन्।
ब्रध्नविद्रधिबाधिर्यंयोनिकर्णगदान् हरेत्॥" —निघण्टु, वटादिवर्ग

२३०. श्वेता०, ६।१५

२३१. भामती, ३।४।२०, पृ० ८८४—९०

२३२. शां० भा०, ३।४।२०

२३३. भास्करभाष्य, ३।४।२०

२३४. "कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥"

—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० २१

२३५. "यदीश्वरः करुणापराधीनो वीतरागस्ततः प्राणिनः कपूये कर्मणि न प्रवर्तयेत्, तच्चोत्पन्नमपि नाधितिष्ठेत्, तावन्मात्रेण प्राणिनां दुःखानुत्पादात् न हीश्वराधीना जनाः स्वातन्त्र्येण कपूयं कर्म कर्तुं मर्हन्ति। तदनधिष्ठितं वा कपूयं कर्म-फलं प्रसोतुमुत्सहते। तस्मात् स्वतन्त्रोऽपीश्वरः कर्मभिः प्रवर्त्यत इति दृष्टविपरीतं कल्पनीयम्। तथा चायमपरो गण्डस्योपरि स्फोट इतरेतराश्रयाह्वयः प्रसज्येत, कर्मणेश्वरः प्रवर्तनीय ईश्वरेण च कर्मेति।" —भामती, २।१।३७, पृ० ५६८

२३६. (अ) "स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वयाय पर्यते तत् कथं सुखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनमेकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु न किं निमिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः संस्तथा करोतीति। दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलांजलिः।..." इत्यादि पंक्तियाँ

—स्याद्वाद० पृ० २९

(ब) किं च प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता। ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात् कारुण्याद्वा। न स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात् परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्।"

—वही, पृ० ३०

२३७. ब्र० सू०, २।३।४३—५३
२३८. श्रीमद्भगवद्गीता, १५।७
२३९. "न हि तावदनवयवस्येश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्ति अंशाः। अपि च जीवानां ब्रह्मांशत्वे तद्गता वेदना ब्रह्मणो भवेत्।...तथा भेदाभेदयोः परस्परविरोधिनोरेकत्रासंभवान्नांशत्वं जीवानाम्।" इति। —भामती, २।३।४३, पृ० ६२२
२४०. "तस्मादद्वैते भाविके स्थिते जीवभावस्तस्य ब्रह्मणोऽनाद्यनिर्वचनीया विद्योपधानभेदादेकस्येव बिम्बस्य दर्पणाद्युपाधिभेदात्प्रतिबिम्बभेदाः।.......एवमविद्योपधानविगमे जीवे ब्रह्मभाव इति सिद्धं जीवो ब्रह्मांश इव तत्तन्त्रतया न स्वशं इति तात्पर्यार्थः।" —भामती, अंशाधिकरण, पृ० ६२३
२४१. 'अद्वैतग्रन्थकोश' (देववाणीपरिषद्, १, देशप्रिय पार्करोड, कलकत्ता से प्रकाशित) में इसके रचयिता का नाम श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य लिखा है किन्तु वहाँ इस उल्लेख का स्रोत नहीं दिया गया है।
२४२. A History of Indian Philosophy, Vol. II. p. 46
२४३. प्रकटार्थ० १।३।३०
२४४. "वाचस्पतिना प्रपंचाकारपरिणाम्यविद्याश्रयत्वं जीवस्याभ्युपगतमिति तत्परिणामभूतज्ञानेच्छादिमत्त्वमपि जीवस्यैव युज्यते नेश्वरस्य, अतः ईश्वरसद्भावं व्यवहरन्नपि तत्र सर्वज्ञत्वाद्यनुपपत्तिहेतुमाश्रयन्वाचस्पतिः पर्यायेण परमेश्वरमपललापेति केषांचिद् दूषणम्..." —परिमल, पृ० ३३४, १।३।३०
२४५. कल्पतरु, पृ० ३३४, १।३।३०
२४६. "जीवाज्ञाते परमेश्वरे शुक्तिशकले रजतस्येवारोप उपपद्यत इति परिहाराभिप्रायः" —परिमल, पृ० ३३४, १।३।३०
२४७. शां० भा०, पृ० ८०५, ३।३।२६
२४८. भामती, पृ० ८०६, ३।३।२६
२४९. प्रकटार्थ, पृ० ८५६
२५०. कल्पतरु, पृ० ८०६, ३।३।२६
२५१. वही
२५२. प्रकटार्थ०, भाग-२, पृ० १११०
२५३. सांख्यकारिका, ३३
२५४. शां० भा०, ब्र० सू०, ३।४।५१
२५५. भामती, पृ० ९२४-२५, ३।४।५१
२५६. प्रकटार्थ०, पृ० ९९५ —उद्धृत कल्पतरु, पृ० ९२४, ३।४।५१
२५७. कल्पतरु, पृ० ९२४, ३।४।५१
२५८. बृहदा०, २।४।५
२५९. प्रकटार्थ०, पृ० ९८९
२६०. "सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" (ब्र० सू० ३।४।४७) सूत्र की भामती में।

२६१. कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कहा है—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ॥"

२६२. उद्धृत, शाबरभाष्य, १०।४।२१
२६३. वाल्मीकिरामायण, कि० १७।३९
२६४. कल्पतरु, ३।३।४७
२६५. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 147
२६६. भामती, पृ० ५५-५७, १।१।१
२६७. सांख्यकारिका, ५
२६८. सां० तत्वकौ०, पृ० ८२, कारिका ५, गुरुमण्डल संस्करण
२६९. "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"

—न्या० सू० १।१।४

२७०. प्र० वा० २।१२३
२७१. "ननु अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियं तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तस्यैव प्रत्यक्षत्वमुचितं नान्यस्य इति, तदसत्, आत्ममात्रसापेक्षाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामप्यवधिमनःपर्यायकेवलानां प्रत्यक्षत्वाविरोधात् ।"

—जैनदर्शनसार, पृ० ३०, जयपुर संस्करण, १९६३

२७२. जै० सू० १।१।४
२७३. भामती, पृ० ५८, पंक्ति २ से ४, १।१।१
२७४. "सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयप्रकाशत्वात् मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तेः"

—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ५३२

२७५. तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्या, पृ० ५३२
२७६. आत्मतत्त्वविवेक, पृ० २३०, चौखम्बा संस्करण, १९४०
२७७. वेदान्तपरिभाषाकार ने साक्षी का परिचय देते हुए कहा है—"तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति । तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् । तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम् । अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयो भेदः ।"

—वेदान्तपरिभाषा, पृ० ७९, चौखम्बा संस्करण, १९६३

२७८. भामती, पृ० २३५
२७९. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ५७१-७२
२८०. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 216
२८१. तत्त्वबोधिनी, प्रथम अध्याय, पृ० ३१८-१९, सरस्वती भवन, संस्करण, १९४१
२८२. "न हि जातु कश्चिदत्र संदिग्धे—नाहमेवेति"

—भामती, पृ० ५

२८३. वेदान्ततत्त्वविवेक, पृ० २०५, मैसूर विश्वविद्यालय संस्करण, १९५८
२८४. शां० भा०, ३।३।३१, पृ० ८१३-४
२८५. भामती, ३।३।३१, पृ० ८१४

२८६. "श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ।"
—जै० सू०, ३।३।१४

२८७. कल्पतरु, ३।३।३१, पृ० ८१४

२८८. कल्पतरु परिमल, ३।३।३१, पृ० ८१४

२८९. "श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"
—जै० सू०, ३।३।१४

२९०. भामती, ३।३।३१, पृ० ८१५

२९१. वार्तिक, भाग प्रथम, पृ० १४०, कलकत्ता संस्करण, १९३३

२९२. अन्धकार को भावरूप सिद्ध करने के लिए वेदान्तिगण इस प्रकार कहा करते हैं—

"तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तर तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ।।"

अर्थात् तमाल वृक्ष के पत्तों के समान श्यामरूप वाले तम का प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव होता है । अतः उसका अपलाप किसी प्रकार नहीं किया जा सकता ।

तम की उत्पत्ति परमाणुओं से नहीं हो सकती किन्तु अविद्या से उसकी उत्पत्ति हो सकती है । चित्सुखाचार्य ने कहा है—"अस्मन्मते न तमस्तमोऽवयवैरारब्धं, तस्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महाविद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात् ।"
—तत्वप्रदीपिका, पृ० २८—३१, निर्णय सागर, १९१५

२९३. नासदीयसूक्त, ऋग्वे०, १०।१२९

२९४. वार्तिक, पृ० १४०

२९५. संक्षेपशारीरक, १।३१९

२९६. "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नापि गोचरः ।।"
—संक्षेपशारीरक १।३१९, काशिका यन्त्रालय संस्करण, संवत् १९४४

२९७. गीता, १८।७२

२९८. वही, १८।७३

२९९. वही, ११।८

३००. वही, ७।२५-२६

३०१ वही, ५।१५

३०२. वही, ४।४०

३०३. शां० भा०, ब्र० सू०, १।४।३, पृ० ३८०

३०४. शां० भा०, पृ० १६-१७, ब्र० सू० १।१।१

५

प्रचय-गमन

आकर्षक भाषा-शैली, अविच्छेद्य तर्क-व्यूह एवं उत्कट पाण्डित्य के योग से कभी-कभी ऐसी रचनाओं का जन्म हो जाता है जो कि तात्कालिक साहित्य में मूर्द्धन्यस्थानाभिषिक्त हो जाया करती है, किन्तु ऐसी रचनाएँ स्थायी नहीं बन पातीं और एक टूटती हुई उल्का के समान क्षणिक प्रकाश-पुंज को जन्म देकर स्वयं भी अज्ञातता के गर्भ में विलीन हो जाती है, किन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती हैं जो एक शाश्वत ज्योति के रूप में प्रदीप्त रहती है और पश्चाद्भावी संततियाँ उनसे प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त करके लाभान्वित होती रहती हैं। इस प्रकार की रचनाओं की, अन्य विशेषताओं के साथ-साथ, सबसे बड़ी विशेषता होती है, विषय का गम्भीर विवेचन। 'भामनी' इसी कोटि की रचना है। इसीलिए यह स्थायी समादर की पात्र बन सकी है। प्रस्तुत उन्मेष में वाचस्पति मिश्र के उत्तरवर्ती अद्वैतवेदान्ताचार्य किस प्रकार 'भामती' से प्रभावित व प्रेरित हुए हैं, इस जिज्ञासा के सन्दर्भ में परवर्ती वेदान्त-साहित्य से कुछ ऐसे स्थल चुनने का प्रयास किया जा रहा है जो 'भामती' की 'भा' से पूर्णत: भास्वरित हैं।

(१) 'भामती' का व्याख्या-परिवार

किसी ग्रन्थ का महत्त्व उसके व्याख्या-परिवार की कसौटी पर निखरा करता है। 'निघण्टु' के शब्द-संकलन का मूल्यांकन भास्काचार्य के निरुक्त ने किया। 'निरुक्त' के गम्भीर तल का स्पर्श दुर्गाचार्य के भाष्य के बिना सम्भव न था। शाबरभाष्य को कुमारिल भट्ट द्वारा रचित व्याख्यात्रयी ने जो महत्त्व प्रदान किया, दार्शनिक जगत् उससे भलीभाँति अवगत है। वेद के मूलमन्त्र यदि भाष्यकारों के द्वारा व्याख्यात न होते तो, जैसाकि कौत्स जैसे महर्षि ने मन्त्रों की निरर्थकता का आक्षेप किया था, वह अमिट रह जाता। किन्तु कुशल व्याख्याताओं ने 'जर्भरी तुर्फरी तु' जैसे अस्पष्ट मंत्रार्थों को प्रकाशित करते हुए कहा—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'।[1] हाँ, यह बात दूसरी है कि व्याख्याता का जितना विशाल अध्ययन और विकसित ज्ञान होगा, उतना ही अधिक मौलिक ग्रन्थों का आशय प्रकट हो सकेगा। सबका ज्ञान समानस्तरीय नहीं होता, जैसा कि ऋग्वेद ने कहा है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥[२]

अर्थात् नेत्र एवं श्रोत्र वाले सभी मनुष्य समान दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उनका मानस विकास समान नहीं होता, यथा किसी जलाशय में जानुपर्यन्त जल होता है, किसी में कक्ष तक और किसी में उससे भी अधिक। उनमें अवगाहन करके ही उनके गाम्भीर्य का ज्ञान हो सकता है, उसी प्रकार किसी विद्वान् के शब्द-सागर का मन्थन करने के पश्चात् ही उसके ज्ञान-गाम्भीर्य का पता लगा करता है।

शांकरभाष्य का गाम्भीर्य और प्रसादगुण 'भामती' के द्वारा बहुगुणित होकर जगमगा उठा है। इसी प्रकार 'भामती' के भाव-गाम्भीर्य को प्रकाशित करने के लिए विशिष्ट विद्वानों के द्वारा उसकी व्याख्याएँ संसृष्ट हुई। आफ्रेष्ट ने उन व्याख्याओं में तीन के नाम दिये हैं[३]—(१) भामती तिलक, (२) भामती विलास, (३) कल्पतरु। प्रो० दासगुप्त जैसे इतिहासविदों ने 'भामती' की चार व्याख्याओं का उल्लेख किया है[४]—(१) भामती तिलक, (२) वेदान्त कल्पतरु, (३) भामती विलास, (४) भामती व्याख्या। इनके अतिरिक्त 'ऋजुप्रकाशिका' नाम की व्याख्या भी 'भामती' पर है। इस समय इनमें से दो व्याख्याएँ मुद्रित हैं—(१) वेदान्तकल्पतरु, (२) ऋजुप्रकाशिका।

१. वेदान्तकल्पतरु

इसके रचयिता श्री अमलानन्द सरस्वती का समय लगभग १२५० ई० माना जाता है।[५] इन्होंने श्री अनुभवानन्द को अपना दीक्षागुरु, आनन्दात्मयती को परमगुरु तथा चित्सुखाचार्य के शिष्य श्री सुखप्रकाश को अपना विद्यागुरु माना है—

स्वयंप्रभसुखं ब्रह्म दयारचितविग्रहम्।
यथार्थानुभवानन्दपदगीतं गुरुं नमः॥
विद्याप्रश्रयसंयमाः शुभफला यत्संनिधिस्थानतः
पुंसां हस्तगता भवन्ति सहसा कारुण्यवीक्षावशात्।
आनन्दात्मयतीश्वरं तमनिशं वन्दे गुरूणां गुरुं
लब्धं यत्पदपद्मयुग्ममनघं पुण्यैरनन्तं मया॥
ग्रन्थग्रन्थिभिदाः स्फुटन्ति मुकुला यस्योदये
कौमुदा व्याकुर्वत्यपि यत्र मोहतिमिरं लोकस्य संशाम्यति॥
प्रद्योत्तारकदिव्यदीप्ति परमं व्योमापि नीराज्यते
गोभिर्यस्य सुखप्रकाशशशिनं तं नौमि विद्यागुरुम्॥[६]

अमलानन्द सरस्वती ने अपने आश्रयदाता के रूप में कृष्ण और महादेव दो नामों का उल्लेख किया है।[७] नीलकण्ठ शास्त्री ने अपने इतिहास में[८] लिखा है कि यादव वंश के राजा कृष्ण जेतुगी के पुत्र थे (अमलानन्द ने कृष्ण के पिता का नाम जैत्रदेव लिखा है)[९]। कृष्ण का शासनकाल १२४७—६० ई० माना जाता है। कृष्ण के पश्चात् महादेव ने १२६०—७१ ई० की अवधि मे शासन किया। तत्पश्चात् कृष्ण के पुत्र रामचन्द्र[१०] ने

१२७१ ई० में शासन संभाला। १२६४ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने आक्रमण कर उसे पराभूत किया।[११]

अमलानन्द सरस्वती ने भामतीव्याख्या का ही अनुसरण करते हुए 'शास्त्रदर्पण' ग्रन्थ की रचना की थी। उसके प्रारम्भ में लिखा है—

हरिहरलीलावपुषौ परमेष्ठौ व्यासशंकरं नत्वा।
वाचस्पतिमतिबिम्बितमादर्शं प्रारभे विमलम्॥

इससे स्पष्ट हो जाता है वे वाचस्पति मिश्र के प्रति कितनी श्रद्धा रखते थे। वाचस्पति मिश्र की आलोचना जहाँ-जहाँ प्रकटार्थकार ने की है, वहाँ-वहाँ श्री अमलानन्द सरस्वती ने प्रबल युक्तियों से उसका निराकरण एवं वाचस्पत्यमत की स्थापना की है। अमलानन्द सरस्वती के इस पद्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाचस्पति के लिए उनके हृदय में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था—

पदवाक्यप्रमाणाब्धेः परं पारमुपेयुषः।
वाचस्पतेरिरत्यर्थेऽप्यबोध इति साहसम्॥[१२]

यहाँ तक कि वाचस्पति मिश्र को वार्त्तिकार का पद भी उन्होंने प्रदान करने में संकोच नहीं किया। अमलानन्द सरस्वती की दृष्टि में वैदिक सम्प्रदाय के प्रति वाचस्पति मिश्र की सबसे बड़ी देन यह रही है कि उन्होंने उस वैदिक पथ को नष्ट होने से बचा लिया, उसकी प्राणरक्षा वाचस्पति के ही हाथों हुई—

वैदिकमार्गं वाचस्पतिरपि सम्यक्सुरक्षितं चक्रे।[१३]

'वेदान्तकल्पतरु' वस्तुतः 'भामती' के गम्भीर भावों का प्रकाशन जिस सफलता से कर पाया है, वैसा श्रेय किसी अन्य व्याख्याग्रन्थ को प्राप्त नहीं हो सका। भामतीरूपी समुद्र के गम्भीर अन्तस्तल में पैठकर अमलानन्द सरस्वती ने उसके वैशिष्ट्यमुक्ताओं का संचय कर उन्हें सर्वसुलभ बनाने का सुन्दर प्रयास किया है। 'भामती' की एक-एक विशेषता पर टीकाकार का हृदय गद्गद् हो उठा है और उसे श्लोक के परिधान में सुसज्जित करने को लालायित हो उठा है।

'भामती' की तीसरी पीढ़ी की व्याख्या अर्थात् 'भामती' की व्याख्या की व्याख्या के रूप में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—'कल्पतरुपरिमल' और 'आभोग'। ये दोनों 'वेदान्तकल्पतरु' की व्याख्याएँ हैं। 'कल्पतरुपरिमल' की रचना १६वीं शताब्दी[१४] में आचार्य अप्पयदीक्षित ने की। उन्होंने अमलानन्द की 'कल्पतरु' व्याख्या को अन्य सब व्याख्याओं का मार्गदर्शक माना है—

यावन्तो निर्विशन्ते विदुषां व्याख्यानचातुरीभेदाः।
सर्वेषामपि तेषामयमवकाशं ददाति पुष्पकवत्॥[१५]

उनका कहना है कि कल्पतरु के समस्त गम्भीर भावों का वर्णन उनकी स्वयं की शक्ति के परे है—

इत्थमिहातिगभीरे कियदाशयवर्णनं मया क्रियते ।
तुष्यन्ति ततोऽपि बुधाः कतिपयरत्नग्रहादिवाम्बुनिधेः ॥[१६]

परिमलकार ने 'कल्पतरु' की व्याख्या के साथ-साथ यत्र-तत्र भाष्य और 'भामती' की अन्तर्दृष्टियों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। पुनरपि 'परिमल' एक मीमांसाबहुल व्याख्या है जबकि 'कल्पतरु' वाचस्पति मिश्र के चतुरस्र वैदुष्य के अनुरूप विस्तृत दार्शनिक क्षेत्रों को प्रशस्त करती है। जैन, बौद्ध जैसे वेद-बाह्य मतवादों का स्पष्टीकरण 'कल्पतरु' तक ही सीमित प्रतीत होता है।

'कल्पतरु' की एक अन्य व्याख्या 'आभोग' है इसके निर्माता आचार्य लक्ष्मीनृसिंह (१७वीं शताब्दी)[१७] हैं। ये नारायणेन्द्र को अपना गुरु मानते हैं—

नारायणेन्द्रयोगीन्द्रगुर्वनुग्रहयोगतः ।[१८]

परिमलकार और आभोगकार की विचार-शैलियों में महान् अन्तर है। जैसाकि कहा जा चुका है—अप्पयदीक्षित पूर्वमीमांसा के महान् पंडित थे। अतः 'परिमल' का व्यक्तित्व मीमांसा-प्रधान है। मीमांसा के अधिकरण-व्यूह में पाठक उलझ-सा जाता है। यदि 'परिमल' में से मीमांसा का जाल निकाल दिया जाए तो उसके अवशिष्ट कलेवर में 'भामती' के आरम्भिक छात्र के लिए कोई सहायक सामग्री शेष न रह जाएगी। इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर परिमलकार ने 'भामती' और 'कल्पतरु' की दृष्टियों का निराकरण करने का भी प्रयास किया है, जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

किन्तु इसके विपरीत आचार्य लक्ष्मीनृसिंह ने 'भामती' और 'कल्पतरु' के दृष्टिकोण का पोषण किया है।[१९] लम्बे शास्त्रार्थ में छात्रों को न उलझाकर मूल और उनके व्याख्यानों को सुगम बनाने का ही उनका प्रयास रहा है। भाष्य, 'भामती' और 'कल्पतरु' के सम्पादकगण भी 'आभोग' से पूर्णतया लाभान्वित होते हैं क्योंकि उसके लेखक ने शुद्ध-पाठ, पाठभेद एवं मूल के व्याख्यानों को ऐसी स्पष्ट शैली में आबद्ध कर दिया है कि किसी प्रकार का संदेह रह ही नहीं जाता। भाष्य, 'भामती' और 'कल्पतरु'—तीनों की गम्भीरता से आभोगकार का हृदय सुपरिचित है—

क्वाहं क्व कल्पतरुः क्व च सूक्तयोऽमूः
वाचस्पतेः क्व नु गभीरतरं च भाष्यम् ।
एवं स्थितेऽपि विवृतं त्रितयं कथंचित्
किं दुष्करं गुरुनृसिंहकटाक्षभाजम् ॥[२०]

२. ऋजुप्रकाशिका

'भामती' पर 'ऋजुप्रकाशिका' नामक एक व्याख्या और है जो कि अखण्डानन्द-यतिराट् द्वारा विरचित है। श्री अखण्डानन्दयतिराट् का पूर्वाश्रम का नाम रंगनाथ था। इनके पिता का नाम कालहस्तियज्वा तथा माता का नाम यज्ञाम्बा था।[२१]

श्री अखण्डानन्दयतिराट् ने रत्नकोश[२२] नामक ग्रन्थ पर भी 'रत्नकोशप्रकाशिका' नाम की व्याख्या लिखी थी जैसाकि जन्माद्यधिकरण के उपसंहार में 'ऋजुप्रकाशिका'

व्याख्या में 'संस्कृतरत्नकोशप्रकाशिकाव्याख्यायाम्' इस उक्ति से प्रतीत होता है।

'ऋजुप्रकाशिका' अन्वर्थनाम्नी व्याख्या है। यह भामती के गूढ़ाशय को सरल शब्दों में सर्वगम्य व सुबोधरीति से प्रकाशित करती है। अमलानन्द सरस्वती की कल्पतरु-व्याख्या वैदुष्यपूर्ण है, अतः प्रायः सामान्य पाठक की पहुँच से बाहर है। 'ऋजुप्रकाशिका' 'भामती' को अपेक्षाकृत सरल शैली से समझाने का स्तुत्य प्रयास करती है। भामती पर किए गये आक्षेपों का उत्तर देने तथा विषयों को गूढता एवं सूक्ष्मता की काष्ठा तक ले जाने में यतिराट् की रुचि प्रतीत नहीं होती। 'भामती' में स्थित मीमांसा के जो अधिकरण आगे चलकर आचार्य अप्पयदीक्षित के हाथों में पड़कर दुर्गम दुर्ग का रूप धारण कर गये थे, श्री अखण्डानन्दयतिराट् के द्वारा कभी वे सर्वग्राह्य रूप में व्याख्यात हो चुके थे। 'भामती' के आशय को कितनी सरलता से इन्होंने समझाने का प्रयास किया है, इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है।

भामतीकार ने भेदाग्रह को अध्यास का व्यापक बतलाकर आत्मा तथा अनात्म में चित्, जड़, विषय, विषयी आदि रूप से भेदग्रह बतलाकर भेदाग्रह की निवृत्ति से भेदाग्रह के व्याप्य अध्यास की निवृत्ति आत्मा व अनात्मा में बतलायी है। यहाँ ऋजुप्रकाशिकाकार ने अहंकारातिरिक्त आत्मा में अहंकार से भेदाग्रह होने से अध्यास बन सकता है, यह प्रश्न उपस्थित किया है तथा कहा है कि अहंकारातिरिक्त आत्मा की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि अहमित्याकारक प्रत्यक्ष अहंकार को ही आत्मा सिद्ध कर रहा है, अतः प्रत्यक्षप्रमाण से अहंकारातिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। व्यक्तिरूप लिंग न होने से अनुमानप्रमाण का प्रसार भी नहीं और आगम को अहंकार के आत्मत्वबोधक अहमित्याकारक अनुभव से विरुद्ध होने के कारण उपचरितार्थक मानना होगा, अतः वह भी अहंकारातिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता।[२३] किन्तु उनका यह स्वतन्त्र लेख आत्मा तथा अनात्म में भेदग्रह होने से अध्यास नहीं बन सकता, इसी अर्थ की स्पष्टाभिव्यक्ति करा रहा है।

इस प्रकार व्याख्या-शैली अतिसरल, बालसुबोध व बह्वर्थ-परिपूर्ण है तथा 'भामती' के प्रत्येक पद का व्याख्यान करने का प्रयास किया गया है। इस व्याख्या में 'कल्पतरु' का कहीं-कहीं आश्रय लिया गया है, इस तथ्य को स्वयं व्याख्याकार ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है—

> स कल्पतरोरर्थमभिधाय क्वचित् क्वचित्।
> करोत्यखण्डयतिराट् व्याख्यां वाचस्पतेः कृतेः॥[२४]

(२) व्याख्याकारों की 'भामती' में आस्था

शांकर-शारीरकभाष्य के परवर्ती व्याख्याकारों ने अपनी रचनाओं में 'भामती' से स्थान-स्थान पर प्रेरणा प्राप्त की है। यहाँ आचार्य आनन्दगिरि, आचार्य गोविन्दानन्द व आचार्य अद्वैतानन्द की व्याख्याओं से कुछ ऐसे अंश प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है जहाँ वे भामतीकार से स्पष्टतः प्रभावित प्रतीत होते हैं।

१. आनन्दगिरि

१३वीं शताब्दी में[४४] आचार्य आनन्दगिरि[४५] ने शंकर के शारीरकभाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक व्याख्या लिखी थी। 'भामती' और 'न्यायनिर्णय' — दोनों के सम्पर्क में आने वाला पाठक सहज ही इस तथ्य का अनुभव कर सकता है कि न्यायनिर्णयकार यद्यपि एक स्वतन्त्र व्याख्याकार के रूप में शांकरभाष्य का अर्थप्रकाशन करने के उद्देश्य से न्यायनिर्णय की रचना में प्रवृत्त हुए होंगे, तथापि वे भामतीकार से पर्याप्त प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं, और न केवल भाव की दृष्टि से अपितु भाषा की दृष्टि से भी। इस कथन की पुष्टि के लिए कुछ स्थल प्रस्तुत है।

(१) 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा' (ब्र० सू० २।२।२१)—सूत्र के भाष्य में निर्दिष्ट चित्तचैत्त पदार्थों के जनयिता हेतुओं का प्रतिपादन करते हुए वाचस्पति ने बतलाया है कि ये हेतु चार हैं—(१) आलम्बनप्रत्यय (२) समनन्तरप्रत्यय (३) अधिपतिप्रत्यय और (४) सहकारिप्रत्यय। नीलाभासचित्त में नीलाकारता नीलरूप आलम्बन प्रत्यय से, बोधरूपता अव्यवहित पूर्वविद्यमान पूर्वविज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से, रूपग्रहणव्यवस्था चक्षुरूप अधिपतिप्रत्यय से और स्पष्टता आलोकरूप सहकारी प्रत्यय से प्राप्त होती है। ये चार कारण चित्तरूप पदार्थ के भी हैं तथा तदभिन्न चैत्तपदार्थों के भी हैं। वाचस्पति के इस व्याख्यान से आनन्दगिरि कहाँ तक प्रभावित है, यह देखने के लिए दोनों के स्थल दिए जा रहे हैं—

भामती—"नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता। समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियमः। आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टार्थता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानां चत्वार्येतान्येव कारणानि। सेयं प्रतिज्ञा चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इत्यभावकारणत्वे उपरुध्येत्।"[४६]

न्यायनिर्णय—"नीलाभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता। समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वज्ञानाद् बोधरूपता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियमः। आलोकाद्धेतोः स्पष्टता। सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नानामेतान्येव चत्वारि कारणानि। सेयं प्रतिज्ञा निर्हेतुफलोत्पत्तौ बाध्येतेत्यर्थः।"[४७]

(२) 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र० सू० २।२।२८) सूत्र में भाष्यकार ने विषय को ज्ञान से अभिन्न सिद्ध करते हुए ज्ञान और विषय के सहोपलम्भ को कारण बतलाया है—"अपि च सहोपलम्भनियमाद् अभेदो विषयविज्ञानयोरापतति। न ह्यनयोरेकस्य अनुपलम्भे अन्यस्य उपलम्भोऽस्ति।"[४८] यहाँ शांकरभाष्यगत सहोपलम्भनियम का निर्वचन करते हुए वाचस्पति ने कहा है कि जिसकी जिसके साथ नियमतः उपलब्धि होती है वह वस्तु उस वस्तु से भिन्न नहीं होती। जैसे एक चन्द्रमा के साथ ही द्वितीय चन्द्रमा की नियमतः उपलब्धि होती है, अतः द्वितीय चन्द्रमा प्रथम चन्द्रमा से भिन्न नहीं है अपितु तद्रूप ही है। वाचस्पति की इस व्याख्या को आनन्दगिरि ने भी प्रायः इसी रूप में ग्रहण कर लिया है—

भामती—"यद्येन सह नियतसहोपलम्भनं तत्ततो न भिद्यते, यथैकस्माच्चन्द्रमसो

द्वितीयश्चन्द्रमाः । नियतसहोपलम्भश्चार्थो ज्ञानेनेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः······।"
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।"[३०]

न्यायनिर्णय—"यद्येन नियतसहोपलम्भनं तत्तेनाभिन्नं, यथैकेन चन्द्रमसा द्वितीयश्चन्द्रमाः, नियतसहोपलम्भन ज्ञेयं ज्ञानेनेत्यर्थः ।······

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानै र्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।[३१]

इसी प्रकार इस प्रकरण में 'स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्'[३२] इस भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति ने लिखा है कि जो भी ज्ञान होता वह बाह्य वस्तु को आलम्बन नहीं बनाता, जैसे स्वप्नप्रत्यय या मायाप्रत्यय बाह्यालम्बन के बिना ही होते हैं, जाग्रत् ज्ञान भी इसी प्रकार बिना बाह्यालम्बन के ही हो जाता है। वाचस्पति के इस व्याख्यान का आनन्दगिरि ने अनुकरण किया है—

भामती—'यो यः प्रत्ययः स सर्वो बाह्यानालम्बनः, यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययः, तथा चैष विवादाध्यासितः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः।"[३३]

न्यायनिर्णय—"यो यः प्रत्ययः स सर्वो बाह्यालम्बनः, यथा स्वप्नादिप्रत्ययः, तथा चैष विमतः प्रत्ययः ।"[३४]

(३) अर्थ ज्ञान से अभिन्न है, इस योगाचारसिद्धान्त का खण्डन करते हुए वाचस्पति ने कहा है कि केवल क्षणिक विज्ञान का अस्तित्व मानने पर एक विज्ञान दूसरे क्षण में न रहने से पूर्वोत्तर विज्ञानों को परस्पर का ज्ञान न रहेगा और इस प्रकार जिन ज्ञानों में भेद है, उन दोनों ज्ञानों का किसी एक के द्वारा ग्रहण न होने से उनके भेद का भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि भेदज्ञान में प्रतियोगी-अनुयोगी-ज्ञान कारण होते हैं। ज्ञानों का परस्पर-भेदज्ञान न होने से क्षणिकत्व, शून्यत्व, अनात्मत्व आदि बौद्धसम्मत सिद्धान्तों की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि उनकी सिद्धि प्रतिज्ञाज्ञान, हेतुज्ञान, दृष्टान्तज्ञान भेदों के द्वारा ही होती है और यह भेद विज्ञान को क्षणिक मानने पर नहीं बन सकता। इसी प्रकार स्वलक्षणत्व की सिद्धि भी विज्ञान को क्षणिक मानने पर सम्भव नहीं है। आनन्दगिरि ने भी अर्थ और ज्ञान का भेद सिद्ध करते हुए वाचस्पति के इन भावों को प्रायः उन्हीं शब्दों में गृहीत कर लिया है—

भामती—"एवं क्षणिकशून्यानात्मत्वादयोऽप्यनेकप्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तज्ञानभेदसाध्याः। एवं स्वमसाधारणमन्यतो व्यावृत्तं लक्षणं यस्य तदपि यद् व्यावर्तते यतश्च व्यावर्तते तदनेकज्ञानसाध्यम् ।"[३५]

न्यायनिर्णय—"किं च क्षणिकत्वं शून्यत्वमनात्मत्वमित्यादिधर्मप्रतिज्ञापि ते हीयेत, अनेकप्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तज्ञानभेदसाध्यत्वात् । स्वमसाधारणं सर्वतो व्यावृत्तं लक्षणं स्वलक्षणं तदपि येभ्यो व्यावृत्तं तदनेकज्ञानापेक्षं ज्ञानं च······।"[३६]

(४) 'सर्वथानुपपत्तेश्च' (ब्र० सू० २।२।३२) सूत्र के 'किं बहुना । सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमयः···परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवत् विदीर्यत इव'[३७]—इस भाष्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति ने कहा है कि बौद्धों का सिद्धान्त शब्दतः भी उपपत्तिरहित है क्योंकि उन्होंने 'पश्यना' 'तिष्ठना' आदि असाधु शब्दों का प्रयोग

बाहुल्येन किया है, तथा अर्थतः भी उपपत्तिरहित है क्योंकि निरात्मवाद को मानते हुए भी आलयविज्ञान को समस्त वासनाओं का आधार माना है जो कि अविनाशी आत्मा मानने पर ही बन सकता है। आनन्दगिरि ने भी उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए इसी भाव को कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ व्यक्त किया है—

भामती—"यथा यथा ग्रन्थतोऽर्थतश्च।...ग्रन्थतस्तावत् पश्यनातिष्ठनामिद्ध-पोषधायसाधुप्रयोगः। अर्थतश्च नैरात्म्यमभ्युपेत्यालयविज्ञानं समस्तवासनाधारमभ्यु-पगच्छन्नक्षरमात्मानमभ्युपैति।"[३८]

न्यायनिर्णय—"यथायथेति। ग्रन्थतोऽर्थतश्चेत्यर्थः। दर्शनमिति वा स्थानमिति वा वाच्ये पश्यनातिष्ठनेत्यलक्षणपदप्रयोगाद् ग्रन्थतस्तावन्नोपपत्तिः। अर्थतश्च नैरात्म्य-मभ्युपेत्यालयविज्ञान समस्तवासनाधारमभ्युपगच्छन्नक्षरमात्मानमभ्युपैति।"[३९]

(५) 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (ब्र० सू० २।२।३३) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने जैन सिद्धान्त के अनुसार ५ अस्तिकायों का नामतः उल्लेख किया है। इस अंश की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है, कि जीवास्तिकाय बद्ध, मुक्त व नित्यसिद्ध भेद से तीन प्रकार का है तथा पुद्गलास्तिकाय पृथिवी आदि चार भूत एवं स्थावर, जंगम मिलाकर ६ प्रकार का है, धर्मास्तिकाय सम्यक् प्रवृत्ति द्वारा अनुमेय है, आकाशास्तिकाय के लोकाकाश तथा अलोकाकाश दो भेद है जिनमें उपर्युपरि विद्यमान लोकों के अन्तर्वर्ती आकाश को लोकाकाश तथा लोकों से ऊपर विद्यमान मोक्षस्थान को अलोकाकाश कहा जाता है क्योंकि उसमें लोकों की सत्ता नहीं है। वाचस्पति ने आस्रव, संवर तथा निर्जर पदार्थों का प्रवृत्तिलक्षण बतलाते हुए आस्रव को मिथ्याप्रवृत्तिरूप तथा संवर और निर्जर को सम्यक् प्रवृत्तिरूप बतलाया है। जो पुरुष को विषयों में प्रवृत्त कराती है, उस ऐन्द्रि-प्रवृत्ति को आस्रव कहा है। यह प्रवृत्ति आत्मा के अधोगतिरूप अनर्थ का कारण होने से मिथ्या प्रवृत्ति है। संवर और निर्जर सम्यक् प्रवृत्तिरूप है। शमदमादिरूपा प्रवृत्ति आस्रवस्रोत के द्वार को रोकती है, अतः वह संवर कहलाती है और तप्तशिलारोहणादि-रूप प्रवृत्ति पुण्यापुण्य को सुखदुःखोपभोग के द्वारा सर्वथा नष्ट कर देती है, अतः वह निर्जर कहलाती है। इस प्रकार संक्षेप से आर्हतसिद्धान्त का प्रतिपादन वाचस्पति ने निम्न शब्दों में किया है—

भामती—"धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयोऽधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः।...... आकाशास्तिकायो द्वेधा......लोकाकाशोऽलोकाकाशश्च। तत्रोपर्युपरिस्थितानां लोका-नामन्तर्वर्ती लोकाकाशस्तेषामुपरि मोक्षस्थानमलोकाकाशः।......सम्यक् प्रवृत्ती तु संवरनिर्जरौ...तत्र शमदमादिरूपा प्रवृत्तिः संवरः। सा ह्यास्रवस्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवर उच्यते। निर्जरस्त्वनादिकालप्रवृत्तिकषायकलुषपुण्यापुण्यहेतुस्तप्तशिलारोहणादिः। स हि निःशेषं पुण्यापुण्यं सुखदुःखोपभोगेन जरयतीति निर्जरः।"[४०]

आनन्दगिरि ने भी उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या में वाचस्पति के भावों का ही, कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः, अनुकरण किया है—

न्यायनिर्णय—"धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यमेयः...। अधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः। ...आकाशास्तिकायो द्वेधा—लौकिकाकाशोऽलौकिकाकाशश्च। लोकानामन्तर्वर्ती लोका-

काशः। तदुपरि मोक्षस्थानमलोकाकाशः। सम्यक्प्रवृत्ती संवरनिर्जरौ। तत्रास्रवस्रोतोद्वारं संवृणोतीति संवरः शमादिप्रवृत्तिः। निःशेषं पुण्यापुण्यं सुखदुःखोपभोगेन जरयतीति निर्जरस्तप्तशिलारोहणादिः।"[४१]

(६) 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० सू० ३।१।१) सूत्र में, यह जीव सूक्ष्मदेह से युक्त होकर के ही परलोक में जाता है—इसका उपपादन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि परमात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, अतः उसका अधोगमन नहीं बन सकता। इसलिए गमन देहेन्द्रियादि उपाधिविशिष्ट जीवभावापन्न आत्मा का ही हो सकता है, किन्तु औपाधिक जीव भी प्रादेशिक होने से देहेन्द्रियादि उपाधि को छोड़कर अन्यत्र गमन नहीं कर सकता। अतः सूक्ष्मभूतों से परिवेष्टित होकर के वह संसरण करता है। वाचस्पति के इस व्याख्यान का आनन्दगिरि ने भावतः अनुसरण किया है—

भामती—न तावत् परमात्मनः संसरणसम्भवः···किन्तु जीवानाम्। परमात्मैव चोपाधिकल्पितावच्छेदो जीव इत्याख्यायते, तस्य च देहेन्द्रियादेरुपाधेः प्रादेशिकत्वान्न तत्र सन् देहान्तरं गन्तुमर्हति। तस्मात् सूक्ष्मदेहपरिष्वक्तो रंहतिकर्मोपस्थापितः प्रतिपत्तव्यः प्राप्तव्यो यो देहस्तद्विषयाया भावनाया उत्पादनाया दीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयते।"[४२]

न्यायनिर्णय—कर्मोपस्थापितः प्रतिपत्तव्यः प्राप्तव्यो यो देहस्तद्विषये भावनाया देवोऽहमित्यादिकाया दीर्घीभावो व्यवहितार्थालम्बनत्वं तावन्मात्रं जलूकयोपमीयत इति योजना। जीवो हि संसरन्देहेन्द्रियाद्युपाधिः स्वयं प्रादेशिकत्वान्न तत्रस्थो देहान्तरं गन्तुमर्हत्यतः सूक्ष्मदेहेनैव परिष्वक्तो रंहतीति भावः।"[४३]

(७) 'आध्यानाधिकरण (ब्र० सू० ३।३।१४-१५) में इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः मनसश्च परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तम्···' (कठ० ३।१०-११)—इत्यादि श्रुति में अर्थादि के परत्वरूपप्रतिपादन का तात्पर्य आत्मा के परत्वप्रतिपादन में ही है, इसका विवेचन करते हुए वाचस्पति ने कहा है कि प्रमाणों का प्रमाणत्व अज्ञात अर्थ के प्रतिपादन में है और विशेष तौर से आगम प्रमाण का तथा 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते' (कठ० ३।१२) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को दुर्ज्ञेय सिद्ध कर रही हैं और वस्तुतः आत्मा दुर्ज्ञेय है भी तथा अर्थादि पदार्थ सुगम हैं, अतः उनके परत्व का तात्पर्य आत्मा के परत्व में ही है। वाचस्पति ने इस आशय की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—"अनधिगतार्थप्रतिपादनस्वभावत्वात् प्रमाणानां विशेषतश्चागमस्य, पुरुषशब्दवाच्यस्य चात्मनः स्वयं श्रुत्यैव दुरधिगमत्वावधारणाद् वस्तुतश्च दुरधिगमत्वादर्थादीनां च सुगमत्वात् परत्वमेवार्थादिपरत्वाभिधानस्येत्यर्थः।"[४४] आनन्दगिरि ने वाचस्पति के इस भाव को ही पूर्णतया संक्षेप में निम्न शब्दों में गृहीत किया है—"अज्ञातार्थज्ञापनस्वाभाव्यादागमस्यात्मनश्च श्रुत्यैव दुर्ज्ञानत्वोक्तेर्वस्तुतश्च तथात्वादर्थादीनां च सुगमत्वात्तेषां परत्वोक्तिरपि तत्परैवेत्यभिप्रेत्योपसंहरति।"[४५]

२. गोविन्दानन्द

श्री गोविन्दानन्द (१६वीं शताब्दी)[४६] ने भी शंकर के शारीरकभाष्य पर

'रत्नप्रभा' नामक व्याख्या लिखी है। यद्यपि यह व्याख्या विवरणप्रस्थान का अनुगमन करते हुए लिखी गई है[४७] और टीका के प्रारम्भ में ही लेखक ने विवरणकार के मत का समर्थन एवं आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन किया है[४८] तथापि टीका का आद्योपान्त अवलोकन करने पर यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रत्नप्रभाकार भामतीकार के प्रभावक्षेत्र में आने से अपने को बचा न सके। इस प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए कुछ खण्डलक यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(१) टीका के प्रारम्भ में आचार्य वाचस्पति के एक मंगल का भाव है कि आचार्य शंकर की कृति (भाष्य) का संयोग हम जैसों के तुच्छ वचन को भी उसी प्रकार पवित्र कर देता है जिस प्रकार गंगा का प्रवाह रथ्योदक को पवित्र कर देता है—

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम् ।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति ।।[४९]

श्री गोविन्दानन्द ने भी मंगलाचरण में इसी भाव का श्लोक दिया है—

श्रीमच्छारीरकं भाष्यं प्राप्य वाक् शुद्धिमाप्नुयात् ।
इति श्रमो मे सफलो गंगां रथ्योदकं यथा ।।[५०]

(२) शारीरकभाष्य की प्रथम पंक्ति 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः।''[५१] में आये 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' पद की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि वस्तुतः यहाँ 'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' यह कहना चाहिए किन्तु यहाँ पर अत्यन्त भेद का कथन करने के लिए ('इदम्' के स्थान पर) 'युष्मद्' का ग्रहण भाष्यकार ने किया है क्योंकि 'अहंकार' का प्रतियोगी जितना 'त्वंकार' है उतना 'इदंकार' नहीं है, 'इदंकार' और 'अहंकार' का प्रयोग कभी-कभी एक ही वस्तु के लिए एक ही साथ हो जाता है, जैसेकि 'एते वयम्, इमे वयमास्महे' आदि वाक्यों का लोक-व्यवहार में प्रचलन है।[५२] श्री गोविन्दानन्द ने इसी भाव का प्रस्फुटन इस प्रकार किया है—''अतः एवेदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्येऽपीदंशब्दोऽस्मदर्थे लोके वेदे च बहुशः, इमे वयमास्महे, इमे विदेहाः, अयमहमस्मीति च प्रयोगदर्शनान्नास्मच्छब्दविरोधीति मत्वा युष्मच्छब्दः प्रयुक्तः इदंशब्दप्रयोगे विरोधास्फूर्तेः।''[५३]

(३) 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२) सूत्र के 'अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य ...' इत्यादि भाष्य में स्थित 'नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य' इस अंश की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इस वाक्यांश के द्वारा अचेतनकर्तृत्व का निषेध किया गया है क्योंकि जो वस्तु नाम और रूप के द्वारा व्याकृत की जाती है वह चेतनकर्तृक होती है, जैसे घट। यह विवादास्पद जगत् भी नामरूप के द्वारा व्याकृत है, अतः इसका भी कोई चेतन कर्ता है क्योंकि चेतन ही घटादि को बुद्धि में चित्रित करके नामरूप के द्वारा अर्थात् घटादि नाम के द्वारा, कम्बुग्रीवादि रूप के द्वारा बाह्य घट की निष्पत्ति करता है। नामरूप-व्याकरण से पूर्व उनका बुद्धि में आलेखन चेतन में ही बन सकता है, अचेतन में नहीं। अतः 'नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य' इस अंश के द्वारा प्रधानादि अचेतनों के तथा निष-

वाक्य(शून्य) के कर्तृत्व का निरास हो जाता है।[५४] रत्नप्रभाकार ने भी वाचस्पति के इस भाव को उसी रूप में प्रकट किया है—"यथा कुम्भकारः प्रथम कुम्भशब्दभेदेन विकल्पितं पृथुबुध्नोदराकारस्वरूपं बुद्धावालिख्य तदात्मना कुम्भं व्याकरोति बहिः प्रकटयति…"[५५] इत्यादि पंक्तियां।

(४) 'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' (२।२।११) सूत्र के भाष्य की 'यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते'—इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए वाचस्पति ने कहा है कि यहाँ एक 'द्वे' शब्द और होना चाहिए अर्थात् 'द्वे द्वे द्व्यणुके' ऐसा होना चाहिए, नहीं तो चतुरणुक की निष्पत्ति नहीं होगी अर्थात् उसमें महत्त्व नहीं आएगा क्योंकि वस्तु में महत्त्व प्रमाण की उत्पत्ति कारणमहत्त्व से, कारणबहुत्व से या प्रचय से होती है और यहां द्व्यणुक में न स्वयं महत्त्व है जिससे कि उसके द्वारा चतुरणुक में महत्त्व की उत्पत्ति हो सके और न दो द्व्यणुकों में बहुत्व संख्या ही है जिससे कि कारणबहुत्व से ही महत्त्व की उत्पत्ति हो सके। अतः 'द्वे द्व्यणुके' के स्थान पर 'द्वे द्वे द्व्यणुके' ऐसा पढ़ना चाहिए जिससे कि कारणबहुत्व से चतुरणक में महत्त्व प्रमाण की उत्पत्ति हो सके।[५६] यही बात रत्नप्रभाकार ने भी "द्वे द्वे इति शब्दद्वयं पठितव्यम्, एवं सति चतुर्भि र्द्व्यणुकैश्चतुरणुकारम्भ उपपद्यते।"[५७] के द्वारा कही है। यहां दूसरा समाधान भी वाचस्पति मिश्र ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार 'द्वे द्व्यणुके' में 'द्वे' शब्द द्वित्व संख्या का वाचक है जैसाकि 'द्व्येकयो र्द्विवचनैकवचने'—इस सूत्र में 'द्वि' और 'एक' शब्द द्वित्व और एकत्वसंख्या के वाचक हैं। इस प्रकार द्व्यणुकादिकरणक जो दो द्वित्व संख्या, उनके द्वारा चतुरणुक का आरम्भ होता है। इस तथ्य को वाचस्पति मिश्र ने—"अथवा द्वे इति द्वित्वे, यथा 'द्व्येकयो र्द्विवचनैकवचने' इति। अत्र हि द्वित्वैकत्वयोरित्यर्थः। अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात् संख्येयानां बहुत्वात्। तदेवं योजनीयम्—द्व्यणुकाधिकरणे ये द्वित्वे ते यदा चतुरणुकमारभेते संख्येयानां चतुर्णां द्व्यणुकानामारम्भकत्वात्तद्गते द्वित्वसंख्ये अपि आरम्भिके।"[५८] इसके द्वारा व्यक्त किया है। वाचस्पति के इस समाधान को आनन्दगिरि ने इस भाष्य की व्याख्या में ग्रहण किया है।

(५) 'इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्' (२।२।१६) सूत्र के भाष्य में आए बौद्ध दर्शन के कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या में रत्नप्रभाकार ने भामतीकार का अधिकांशतः अनुकरण किया है। जैसे—

भामती—"नामरूपेन्द्रियाणां संनिपातः स्पर्शः स्पर्शाद् वेदना सुखादिका।…ततो भवो भवत्यस्माज्जन्मेति भवो धर्माधर्मौ।……जातानां स्कन्धानां परिपाको जरा। स्कन्धानां नाशो मरणम्। म्रियमाणस्य मूढस्याभिषङ्गस्य पुत्रकलत्रादावन्तर्दाहः शोकः। तदुत्थं प्रलपनं हा मातः! हा तात! हा च मे पुत्रकलत्रादीति परिदेवना।"[५९]

रत्नप्रभा—"नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संयोगः स्पर्शः। ततः सुखादिका वेदना।… तेन भवत्यस्माज्जन्मेति भवो धर्मादिः। जातानां स्कन्धानां परिपाको जरास्कन्धः। नाशो मरणम् म्रियमाणस्य पुत्रादिस्नेहादन्तर्दाहः शोकः, तेन हा पुत्रेत्यादिविलापः परिदेवना।"[६०]

३. अद्वैतानन्द सरस्वती

श्री अद्वैतानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)[६१] द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की सारगर्भित एवं मौलिक व्याख्या 'ब्रह्मविद्याभरण' नाम से वेदान्त-जगत् में विख्यात है। वस्तुतः यह ब्रह्मविद्या का एक ऐसा आभरण (भूषण) है जिसके समकक्ष व्याख्यान परवर्ति-काल में उपलब्ध नहीं होता। 'भामती' के वर्चस्व से यह ग्रन्थरत्न पूर्णतया भास्वरित है। 'भामती' की पद्धति पर ही सूत्र के साथ भाष्य का संगठन किया गया है।

(१) **प्रत्यक्ष की शब्दजन्यता**—वाचस्पति मिश्र ने शब्दजन्य प्रत्यक्षज्ञान नहीं माना है। उनका कहना है कि "न चैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य, तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटांकुरोत्पत्तिनियमात्। तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्।"[६२] इसका प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मविद्याभरणकार ने कहा है[६३] कि 'अहं कर्त्ता' इस प्रकार के कर्तृत्वादि धर्म से युक्त आत्मा के प्रत्यक्ष में मन की हेतुता निश्चित है। अतः शुद्ध निर्विशेषात्मा के साक्षात्कार में मन की अतिरिक्त हेतुता कल्पनीय नहीं है अपितु पहले से क्लृप्त है। जैसे 'पीतः शंखः' आदि स्थलों पर शुक्लरूपरहित केवल शंख द्रव्य का चक्षु से प्रत्यक्ष माना जाता है, उसी प्रकार निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्म का साक्षात्कार भी मन से हो सकता है। 'दृश्यते तु अग्र्यया बुद्ध्या' (काठ० १।३।१२) आदि श्रुतियाँ उक्त पद का पोषण करती हैं। इस पक्ष में भाष्यवाक्य की संगति करनी है, भाष्यवाक्य है—"ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं, अवबोधस्य चोदना जन्यत्वान्न पुरुषो बोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।"[६४] यहाँ भाष्यकार ने उसी प्रकार वेदान्त-वाक्य में ब्रह्मप्रत्यक्ष की जनकता मानी है, जैसे कि इन्द्रियार्थसंनिकर्ष में घटादि प्रत्यक्ष की हेतुता मानी जाती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार वेदान्तवाक्य साक्षात् पुरुष-प्रत्यक्ष का जनक नहीं अपितु परम्परया है। लोक में बहुत-से ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं जहाँ पर वस्तु का साक्षात् उपयोग न होकर परम्परया ही होता है, जैसे 'धूमाद् वह्निरनुमीयते' 'मनसा दृश्यते' आदि। वस्तुस्थिति यह है कि धूम से वह्नि की अनुमति नहीं होती अपितु धूमज्ञान से होती है, अतः धूम-परम्परा से अनुमिति का जनक होता है, साक्षात् नहीं। किसी वस्तु का दर्शन चक्षु से किया जाता है, मन से नहीं। अतः मन साक्षात् रूप-दर्शन का हेतु न होकर परम्परया माना जाता है, वैसे ही वेदान्तवाक्य परम्परा से ब्रह्म-बोध का हेतु होते हैं साक्षात् नहीं।

(२) **विविदिषा में कर्म का उपयोग**—वाचस्पति मिश्र ने कर्म का उपयोग विविदिषा में बताया है—"तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन = नित्यस्वाध्यायेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति = वेदितुमिच्छन्ति न तु विदन्ति।"[६५] ब्रह्मविद्याभरणकार ने भी कहा है—"विविदिषावाक्यं विविदिषार्थमेव कर्माणि विधत्ते।"[६६] इस प्रकार ब्रह्मविद्याभरणकार ने इस विषय में वाचस्पति का अनुकरण किया है तथा अनेक तर्कों से इसका समर्थन किया है।[६७]

(३) जीवाश्रित अविद्या—ब्रह्मविद्याभरणकार ने अविद्या के आश्रयसम्बन्धी विवाद को प्रस्तुत करके बतलाया है कि अविद्या जीवेश्वरानुगत विशुद्ध चैतन्य के आश्रित है अर्थात् जीव तथा ईश्वर दोनों में अनुगत जो विशुद्ध चैतन्य है, वह माया का अधिष्ठान है। माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण तथा विक्षेप। आवरणशक्ति का कार्य अज्ञत्वादि है तथा विक्षेपशक्ति के कार्य कियारूप जगत्सृष्टि तथा गत्यादिक हैं। माया की ये दोनों शक्तियाँ हैं—इस बात की पुष्टि 'माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यों से हो जाती है। यही माया अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा परमात्मा में सर्वज्ञत्वादि तथा वियदादि रूप विक्षेप का तथा जीव में संसाररूप विक्षेप का आधान करती है। इसलिए माया का विक्षेपांश ईश्वर तथा जीव उभयांशच्छेदरूप से रहता है। किन्तु माया का आवरणांश जीवत्वावच्छेदरूप से ही काम करता है, ईश्वरावच्छेदरूप से नहीं। अतः ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि धर्मों की उपपत्ति हो जाती है। इस व्यवस्था में प्रमाण ईश्वर में सर्वज्ञत्वबोधक श्रुति तथा जीव में 'अहमज्ञः' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी व्यवस्था के कारण 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीश-नीशौ' इत्यादि श्रुति में ईश्वर को 'ज्ञ' तथा 'जीव' को 'अज्ञ' बतलाया गया है। अतः माया या अविद्या का आवरणांश जीव में ही कार्य करता है, न कि ईश्वर में अर्थात् जीव आवरणांश से युक्त है न कि ईश्वर[६८] अर्थात् अविद्या जीवाश्रित है। इस प्रकार अन्ततो-गत्वा ब्रह्मविद्याभरणकार वाचस्पति से सहमत हो जाते हैं।

कहीं-कहीं 'ब्रह्मविद्याभरण' ने वाचस्पत्य पदावली का भी उपयोग किया है, यथा—

(१) **भामती**—"येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्।"[६९]

ब्रह्मविद्याभरण—"येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नम्। यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्।"[७०]

(२) **भामती**—"योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एव स्थविरे प्रणप्तॄन् अनु-भवामि।"[७१]

ब्रह्मविद्याभरण—"य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एव स्थविरे प्रणप्त-तॄन् अनुभवामि।"[७२]

इसी प्रकार अन्यत्र भी ब्रह्म विद्याभरणकार ने वाचस्पति की 'भामती' से प्रकाश प्राप्त किया है।[७३]

(३) 'भामती' का प्रचार-क्षेत्र

'भामती' के प्रचार-क्षेत्र के परिप्रेक्ष में जब हम वेदान्त के परवर्ती लेखकों के प्रकरण-ग्रन्थों का पृष्ठोद्वर्तन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'भामती' के व्याख्यान परवर्ती वेदान्त के उपजीवक वाक्य बन गए थे। आचार्य आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य, सायणमाधव, मधुसूदन सरस्वती, धर्मराजाध्वरीन्द्र, ब्रह्मानन्द सरस्वती, महादेव सरस्वती प्रभृति वेदान्तमहारथियों के ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर भामतीकार के व्याख्यानों

की छटा के दर्शन होते हैं। स्थाली-पुलाक-न्याय से इस छटा की कतिपय संक्षिप्त झांकियां सजाने का यहां प्रयास किया जा रहा है।

१. आचार्य आनन्दबोध (११वीं १२वीं शताब्दी)[७१]

आचार्य आनन्दबोध ने वाचस्पति के मत को अपनी रचना 'न्यायमकरन्द' में कई स्थानों पर उद्धृत किया है। यथा—

(१) सिद्धार्थ में शब्द का शक्तिग्रह

सिद्धार्थ में भी शब्दों का संगतिज्ञान होता है, इस पक्ष का उपपादन करते हुए आनन्दबोध ने वाचस्पति मिश्र का मत उद्धृत किया है—'यदवोचदाचार्यवाचस्पतिः'—"एवंविधेऽपि विषये हर्षहेत्वन्तरमाशंकमाना जननीजारशंकया स्वकीयमपि ब्राह्मणत्वं प्रति संदिहाना नाधिकारभाजो ब्राह्मणोचितासु क्रियास्विति कृत मीमांसाभ्यासपरिश्रमेण तेषामिति।"[७२] 'पुत्रस्तेजातः' जैसे सन्देशवाहक के वाक्य को सुनकर श्रोता को पुत्रोत्पत्ति का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्य में कार्यताबोधक लिङ् आदि पद का प्रयोग नहीं है तथापि इस वाक्य से पुत्रोत्पत्ति का बोध होता है, अतः वेदान्त वाक्यों में लिङादि का प्रयोग न होने पर भी उनसे अर्थबोध अवश्य होगा। इस निर्णय पर प्रभाकर की ओर से आक्षेप किया जाता है कि 'पुत्रस्ते जातः' इस पद का ऐसा कोई अर्थ हो सकता है जिसके ज्ञान से श्रोता को हर्ष उत्पन्न हुआ है। हर्ष का हेतु पुत्रजन्म को छोड़कर और धन लाभादि का ज्ञान भी हो सकता है। इस प्रकार हेत्वन्तर की आशंका में 'पुत्रस्ते जातः' वाक्य का पुत्रजन्म ही अर्थ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रभाकर के इस आक्षेप का समाधान वाचस्पति मिश्र ने यह कहकर किया है कि शंकाओं का उदय कहाँ नहीं हो सकता? प्रभाकर को अपने जन्म के विषय में भी शंका हो सकती है कि उनका जन्म किसी ब्राह्मणेतर से भी हो सकता है। तब ब्राह्मणत्व का सन्देह हो जाने पर उन्हें ब्राह्मणोचित मीमांसा-व्याख्यान जैसे वैदिक कृत्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। किन्तु 'पितु ब्राह्मणात् त्व जातः' के समान माता के वाक्यों को सुनकर जैसे ब्राह्मणत्व का निश्चय उन्हें हो जाता है, उसी प्रकार वेदान्तवाक्यों से भी ब्रह्म का निश्चय हो सकता है।

२. अखण्डार्थ बोध

वेदान्तसिद्धान्त में 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों को अखण्डार्थबोधक वाक्य माना जाता है। अपर्याय पदों का किसी एक प्रातिपदिकार्थ में तात्पर्य होना ही अखण्डार्थ-बोधकता कहा जाता है। अखण्डार्थबोधक वाक्यप्रकारों में वाचस्पति मिश्र की सम्मति दिखलाते हुए आनन्दबोध ने कहा है—"आचार्यवाचस्पतिमिश्राः पुनरण्मतुबिनिसमास-विशेषाणां सन्निहितविशेषाभिधायितामंगीकुर्वाणा वैश्वदेव्यामिक्षा दण्डी कमण्डलुमा-नित्यादयोऽप्यखण्डार्थवृत्तितायामुदाहार्या इति मन्यन्ते।"[७३] 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' जैसे लक्षणावाक्य अखण्डार्थक माने जाते हैं। इनसे भिन्न अण् प्रत्ययान्त जैसे वैश्वदेवी आमिक्षा, मतुप्प्रत्ययान्त जैसे कमण्डलुमान्, इनिप्रत्ययान्त जैसे दण्डी, बहुव्रीहिसमास जैसे

चित्रगुआदि पद भी अखण्डार्थक माने जाते है। अन्य के सम्बन्ध से रहित विशुद्ध वस्तु
को अखण्ड वस्तु कहा जाता है। चित्रगु शब्द से 'चित्रा गावो स्य' चित्र गायों का सम्बन्धी
देवदत्त 'चित्रगु' शब्द का अर्थ माना जाता है। उस देवदत्त में चित्र गायों का सम्बन्ध
विवक्षित होता है अथवा नहीं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि बहुव्रीहि समास
का अर्थ होता है अन्य पदार्थ अर्थात् समासघटकपदों का अर्थ विवक्षित नहीं होता किन्तु
अन्य पदार्थ ही प्रतिपाद्य होता है। इस प्रकार चित्र, गो और उसका सम्बन्ध कुछ भी
शक्यकोटि मे प्रविष्ट नहीं किया जाता किन्तु देवदत्त जैसे अन्य पदार्थ को ही 'चित्रगु' शब्द
का प्रतिपाद्य अर्थ माना जाता है। इस प्रकार का देवदत्त एक अखण्ड वस्तु है। इसी
प्रकार अण्, मतुप्, इनि आदि प्रत्यय भी अन्य अर्थ में ही प्रयुक्त होते है। अत: इनका भी
घटकपदार्थों से अतिरिक्त ही अर्थ माना जाता है। जैसे वैश्वदेव्यामिक्षा शब्द आमिक्षा को,
दण्डी शब्द देवदत्त आदि द्रव्य को, एवं कमण्डलुमान् आदि शब्द किसी कमण्डलुधारी
पुरुष को कहा करता है, इसी प्रकार परावर, मायावी एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि
शब्द अखण्ड ब्रह्म के समर्थक माने जाते हैं। सभी महावाक्य लक्षणवाक्यों के समान ही
अखण्डार्थ के बोधक होते है।

आनन्दबोध ने वाचस्पति के केवल सिद्धान्तों का ही उल्लेख नहीं किया है अपितु
उनकी पदावली का भी उपयोग यत्र-तत्र किया है। यथा—"न खलु लौकिका नाग इति
च नग इति वा पदात् कुंजरं गिरिं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ता:'[७७], 'दत्त एव जलां-
जलि:'[७८], 'समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टा: स्फीतालोकमध्यमध्यासीना:'[७९] इत्यादि।

२. चित्सुखाचार्य

जैसे चित्सुखाचार्य ने आचार्य वाचस्पति मिश्र की आलोचना की है वैसे उनके
कथन को प्रमाणरूप में उद्धृत भी किया है। उदाहरणस्वरूप दो स्थल प्रस्तुत हैं।

(१) बुभुत्सितार्थ-प्रतिपादन

शबर, शंकर आदि के समान वाचस्पति मिश्र के वाक्यखण्ड शाब्दिकमर्यादा के
सूत्र बन गए है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी प्राय: सभी व्याख्याओं के आरम्भ में बुभुत्सि-
तार्थ-प्रतिपादन को महत्त्व दिया है।[८०] श्री चित्सुखाचार्य ने वाचस्पति के इस बुभुत्सि-
तार्थ-प्रतिपादन को 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के घटक 'तत्' 'त्वम्' आदि दोनों पदों
में लक्षण मानने में प्रमाणरूप से उपन्यस्त किया है—"ननु तथापि पूर्वकालोपल-
क्षितस्यैतत्...'। उक्तं च प्रतिज्ञावचनस्य साधनांगत्वमाचक्षाणेनाचार्यवाचस्पतिना—
अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्य: शब्द इत्यनुक्त्वा यदैव किंचिदुच्यते यत्कृतकं तदनित्य-
मिति वा, तत्सर्वमसम्बद्धबुद्ध्या न प्रत्येति प्रतिवादी।' इति।[८१] कुछ लोगों का यह कहना
था कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में अभेदबोध के लिए दोनों पदों को लक्षणा आश्रयण
करना आवश्यक नहीं है। एक पद की लक्षणा से भी काम चल सकता है। 'तत्' पद को
यदि मुख्यार्थक माना जाय तब 'त्वम्' पद की लक्षणा एवं 'त्वं' पद को मुख्यार्थक मानकर
उसमें 'तत्' पद की लक्षणा कर देने से अभेदार्थ का लाभ हो जाता है। प्रथम पक्ष में 'तत्'
पद सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य को अभिधावृत्ति से कहता है, 'त्वं' पद की उसी अर्थ में

लक्षणा कर देने से दोनों पदों का एक अभेद ईश्वरार्थ के बोधन में तात्पर्य बन जाता है। दूसरे पक्ष में 'त्वम्' पद का अभिधावृत्ति से अल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य का वाचक होता है और 'तत्' पद की उसी में लक्षणा कर देने से अभेदबोध प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक पद की लक्षणा से अभेदबोध का लाभ हो जाने पर उसके लिए उभयपद-लक्षणा आवश्यक नहीं। इस व्यवस्था के द्वारा उभयपदलक्षणावादी अत्यन्त निरुत्तर हो जाता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र के सूत्रवाक्यों का उपयोग ऐसे अवसर पर करते हुए कहा जाता है कि अन्यतर पद की लक्षणा के द्वारा यद्यपि अभेदबोध प्राप्त हो जाता है किन्तु वह अभेदबोध न बुभुत्सित है और न प्रतिपित्सित। लक्षणा का मुख्य निमित्त माना जाता है तात्पर्यानुपपत्ति। तात्पर्य उसी अर्थ में माना जाता है जो अर्थ बुभुत्सित अथवा प्रतिपित्सित हो। श्रोता की जिज्ञासा के अनुसार वक्ता की प्रतिपित्सा (विवक्षा) हुआ करती है। श्रुतिवाक्य अपौरुषेय हैं, उनमें विवक्षा या प्रतिपित्सा साक्षात् सम्भव न होने पर भी वैसे ही व्यावहारिक विवक्षा का निर्वाह किया जाता है जैसे 'कूलं पिपतिषति' (नदी का कगार गिरना चाहता है)। कगार जड़ वस्तु है, उसमें इच्छा का योग कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में उसमें औपचारिक इच्छा का सम्बन्ध माना जाता है। उसी प्रकार शब्दतत्त्व को जड़ मानने वाले भी विवक्षा का निर्वाह किया करते हैं। उपदेशक या उपदेश श्रोता की समीहा, जिज्ञासा, बुभुत्सा का अनुसरण किया करते हैं।

इस वक्तव्य को सिद्धान्त का रूप वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार प्रदान किया है "एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किंचिदुच्यते कृतकत्वादिति वा यत्कृतकं तदनित्यमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमस्यानपेक्षितमापाततो सम्बद्धाभिधानं, तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हति। यत्कृतकं तत्सर्वमनित्यं, यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेन्न, परस्पराश्रयत्वप्रसंगात्।"[८४] तार्किकगण न्यायविग्रह के ५ अंग मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। बौद्ध-उदाहरण और उपनय, या उपनय और निगमन—दो ही अवयवों को पर्याप्त मानते हैं। भाट्टगण तीन अवयव माना करते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, अथवा उदाहरण, उपनय, निगमन। वाचस्पति मिश्र तार्किक पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि पाँचों अंग बुभुत्सा की शृंखलाओं से इस प्रकार आबद्ध हैं कि उन्हें विश्लिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक साध्यस्थल पर ५ जिज्ञासाएँ हुआ करती हैं—क्या शब्द अनित्य होता है? यदि है तो क्यों? कैसे? ऐसा कोई और भी उदाहरण है? उदाहरण का पक्ष में सामंजस्य है अथवा नहीं? प्रथम जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग किया जाता है—'शब्दोऽनित्यः।' 'कस्मात्?' इस प्रकार की द्वितीय जिज्ञासा को शान्त करने के लिए 'कृतकत्वात्' इस हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है। तृतीय आकांक्षा की शान्ति के लिए कहा जाता है—'यत्र कृतकत्वं तत्र अनित्यत्वम्, यथा घटादौ।' इसे दृष्टान्त-वाक्य कहते हैं। दृष्टान्तदृष्ट हेतु का उपसंहार करने के लिए 'तथाचायम्'—यह उपनयवाक्य प्रयुक्त होता है। दृष्टान्तदृष्ट हेतु का पक्ष में उपसंहार हो जाने पर दृष्टान्तदृष्ट साध्यधर्म का उपसंहार दिखाने के लिए 'तस्मात्तथाऽयम्'—इस प्रकार निगमनवाक्य का उच्चारण किया जाता है। इसे यूँ भी

कहा जा सकता है—पूर्व-पूर्व अंगवाक्यों के द्वारा उत्थापित आकांक्षाओं का प्रशमन उत्तरोत्तर वाक्य-प्रयोग के द्वारा किया जाता है । 'शब्दोऽनित्यः' कहने पर जिज्ञासा होती है—'कस्मात् ?' इस जिज्ञासा का उत्तर हेतुवाक्य-प्रयोग के द्वारा दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं । बुभुत्सिताभिधानन्याय से दूर न्याय-क्षेत्र प्रमत्तगीत या उन्मत्त प्रलाप मात्र माना जाता है । इस निष्कर्ष की कसौटी पर जब हम महावाक्य का अर्थबोध-प्रकार चढ़ाते हैं तब यही स्थिर होता है कि दोनों पक्षों की लक्षणा आवश्यक है, क्योंकि प्रकृत में विशिष्ट और शुद्ध चेतन का अभेदबोध बुभुत्सित है, उसका लाभ केवल एक पद की लक्षणा से नहीं हो सकता । एक पद की लक्षणा से विशिष्टार्थ का अभेद ही प्राप्त होता है, शुद्ध का नहीं । दोनों पद अपनी-अपनी अभिधावृत्ति की सीमा पारकर जब विशुद्ध चैतन्य में लक्षणा के द्वारा प्रवृत्त होते हैं, तभी बुभुत्सित और प्रतिपित्सित अर्थ का पर्यवसान हुआ करता है । वक्ता और श्रोता की इस अद्भुत एवं दुर्लभ मर्यादा का मूल्यांकन श्रुति ने इस प्रकार किया है—'आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा' (कठ० २।७) । मुमुक्षु बुभुत्सु अधिकारी का कौशल विशुद्ध तत्त्व के अभेद की बुभुत्सा में निहित होता है एवं वक्ता शब्द का आश्चर्य चमत्कार विशुद्ध चैतन्य के अभेदबोधन में माना जाता है ।

(२) अनुमान की स्वतःप्रमाणता

वेदान्त के क्षेत्र में कुमारिल भट्ट के उपकरण ही काम में लाए जाते हैं । ज्ञान के विषय में कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त है कि 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यम् ।' वेदान्त का भी यही सिद्धान्त है । परतःप्रामाण्यवादी नैयायिक आपत्ति देता है कि यदि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः गृहीत माना जाए तो उसमें प्रामाण्याप्रामाण्य का सन्देह नहीं होना चाहिए क्योंकि ज्ञान के उत्पन्न होते ही जब उसमें प्रमात्व गृहीत हो जाता है तब प्रमात्वरूप-विशेष-कोटि का दर्शन हो जाने के कारण प्रमात्वाभाव की सम्भावना समाप्त हो जाती है । नैयायिक की इस आपत्ति का परिहार करते हुए चित्सुखाचार्य ने कहा है कि नैयायिक-गण भी अनुमान और उपमान के विषय में स्वतःप्रामाण्यवादी होते हैं, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'अनुमानस्य स्वतःप्रमाणतया अन्वयस्यापि संभवात् ।'[८३] नैयायिकों का कहना यह है कि 'इदं जलम्' जैसे प्राथमिक ज्ञान में सफल प्रवृत्ति के पश्चात् प्रमात्व का अनुमान किया जाता है—'विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् ।'[८४] यहाँ जिज्ञासा होती है कि इस अनुमान-ज्ञान में प्रमात्वग्रहण दूसरे अनुमान से और दूसरे में तीसरे से, इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त हो जाता है । अतः नैयायिकों ने अनुमान को झूठा प्रमाण मान लिया । अनुमान यदि स्वतः प्रमाणभूत है तब इसमें प्रमात्व का सन्देह कैसे होगा ? यही आक्षेप नैयायिकों पर भी किया जाता है । ऐसे उत्तर-प्रत्युत्तर को प्रतिबन्दी-प्रणाली से अभिहित किया जाता है । ऐसे स्थलों पर मध्यस्थगण प्रायः यही निर्णय लिया करते हैं कि जिस स्थल पर वादी और प्रतिवादी दोनों के पक्षों में समान दोष आ जाते हैं तो उन पर विचार स्थगित कर दिया जाता है, जैसाकि कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

तस्मादुभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकस्तत्रानुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ।।

नैयायिकों ने अनुमान में स्वतःप्रामाण्य क्यों मान लिया, इस ओर संकेत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने सूचित किया है कि जिस वस्तु के निर्माण में सामग्री का परीक्षण नहीं किया जाता उस वस्तु में दोष की सम्भावना अवश्य बनी रहती है, किन्तु जिस वस्तु का निर्माण करने से पहले उसकी सामग्री का सावधानी से परीक्षण कर लिया जाता है, वह वस्तु सदैव निर्दोष बना करती है, इसी के आधार पर विश्व का व्यवहार प्रचलित है। अनुमान की सामग्री में और ज्ञानों की अपेक्षा एक विशेषता है कि उसके व्याप्ति, पक्ष, धर्म आदि कारणकलाप पुनः पुनः परीक्षित होते हैं। अतः उन निश्चित निरवद्य साधनों से उत्पन्न अनुमान ज्ञान में किसी प्रकार के अप्रामाण्य की सम्भावना नहीं रह जाती। अतः उसे स्वतःप्रमाण मान लेना अनुचित नहीं। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'अनुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशकस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिंगसमुत्थत्वात्'।[८४] अर्थात् अनुमान प्रमाण साध्याव्यभिचारी हेतु से उत्पन्न होने के कारण सभी प्रकार की विभ्रमविषयक शंकाओं से रहित होता है। अतः अनुमान को स्वतः प्रमाण नैयायिक माना करते हैं।

(२) बन्धमोक्ष-व्यवस्था

नानाजीववाद एवं जीवाश्रिताविद्यावाद जैसे वाचस्पति के सिद्धान्त में बन्धमोक्ष की व्यवस्था कैसे बनती है, जबकि अविद्या का विषय ब्रह्म माना जाता है। वाचस्पति का सिद्धान्त है कि जीव अविद्या का आश्रय है—जीव को तत्त्वबोध होता है और वही मुक्त होता है, किन्तु यहां सन्देह यह है कि अविद्या का विषय ब्रह्म बद्ध माना जाता है, उसी में ही बन्धन की निवृत्ति होनी चाहिए। इसका उत्तर दिया गया है कि ब्रह्म वस्तुतः न बद्ध होता है और न मुक्त, किन्तु अविद्या की निवृत्ति से मुक्त जैसा हो जाया करता है। चित्सुखाचार्य ने इस पक्ष में बन्धमोक्ष-व्यवस्था का उपपादन करते हुए कहा है—'तस्मादेकमपि ब्रह्मानेकोपाधिभिरवच्छिन्नं लब्धनानाजीवभावं तत्र बद्धमिव यत्र विद्यया अविद्योपाधिनिवृत्तिस्तत्र मुक्तमिव भवतीति नानाजीववादेऽपि बन्धमुक्तिव्यवस्थोपपद्यत इति केचिदाचार्याः प्रपेदिरे।'[८६] अर्थात् एक ही ब्रह्म अनेक उपाधियों से युक्त होकर अनेक जीवों के रूप में बन्धन का अनुभव करता है और जिस जीव की अविद्या निवृत्त हो गई, उसकी निवृत्ति से वह अपने को मुक्त जैसा अनुभव करता है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। यहां 'केचिदाचार्याः' पद की व्याख्या करते हुए प्रत्यगात्मरूप आचार्य ने कहा है—'केचिदाचार्या मण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रमतावलम्बिनः।'[८७]

३. सायण माधव (सर्वदर्शन संग्रहकार)

अध्यास के पूर्वपक्ष में आक्षेप किया गया है कि शुक्ति रजतादि पदार्थों के अध्यास में अध्यस्त और अधिष्ठान का सादृश्य देखा जाता है, अतः सादृश्य को ही अध्यास का कारण मानना चाहिए, नहीं तो रजत का अध्यास कोयले जैसी काली वस्तु में होने लग

जाएगा। आत्मा और अनात्मवस्तु में किसी प्रकार का सादृश्य सम्भव नहीं। इसलिए अध्यास नहीं हो सकता। इस आक्षेप का समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने सादृश्य-ज्ञान में अध्यास की हेतुता का निराकरण किया है। उस निराकरण को उद्धृत करते हुए सायण माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा है कि सभी विभ्रमों में सारूप्य की व्याप्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि बहुत-से विसदृश स्वापादि अध्यास देखे जाते हैं। जैसाकि आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है—यह प्रपंच अनादि वासनाओं से जन्म ब्रह्म का विवर्तमात्र है। इसे सारूप्य की अपेक्षा नहीं।[८८]

व्यावहारिक व्यक्तियों का 'अहम्' शब्द-प्रयोग शुद्धात्मा को विषय करता है अथवा अध्यस्त आत्मा को, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सायण माधव ने अहंकार को अध्यस्तात्मविषयक ही कहा है और वाचस्पति के 'अहम् इहैवास्मि सदने जानानः' आदि[८९] शब्दों में अध्यस्त आत्मभाव का प्रतिपादन करते हुए वाचस्पति मिश्र का नाम लेकर भी उनके वाक्य को उद्धृत करके यह सिद्ध किया है[९०] कि व्यवहारकाल में विद्वान् और अविद्वान् सभी समान धरातल पर व्यवहार करते पाये जाते हैं, जैसे पशु अपने इष्टानिष्ट-दर्शन के आधार पर प्रवृत्त व निवृत्त होता है—उसी प्रकार सभी व्यावहारिक व्यक्ति प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं।

स्वतःप्रामाण्यवाद की स्थापना कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में विस्तृत रूप से की है। उस मत के अनुसार ही वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में अपनी व्यवस्था दी है। अख्यातिवादी ने सन्देह किया है कि यदि किसी स्थल विशेष पर विसम्वाद के कारण ज्ञान को मिथ्या मान लिया जाए तब मनुष्य को किसी भी ज्ञान पर विश्वास नहीं रहेगा। इस अनाश्वासप्रसक्ति का निराकरण वाचस्पति मिश्र ने यह कहकर कर दिया है कि ज्ञानगत प्रमात्व स्वतः माना जाता है। ज्ञान वस्तु का प्रकाशक हो जाने मात्र से प्रमा बन जाता है। प्रमात्व ग्रहण में अव्यभिचारादि की अपेक्षा नहीं मानी जाती। सभी ज्ञान प्रमारूप ही उत्पन्न होते हैं, अतः सब पर विश्वास बना रहेगा। सायण माधव ने उसे ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है।[९१]

४. मधुसूदन सरस्वती (१५०० ई०)[९२]

मधुसूदन सरस्वती ने भी अपनी रचनाओं में अनेकत्र वाचस्पति मिश्र को उद्धृत किया है। कुछ स्थल प्रस्तुत हैं।

(१) सद्भिन्न वस्तु में भी अर्थक्रियाकारित्व-प्रदर्शन

वेदान्तसिद्धान्त प्रपच को सद्भिन्न मानता है। इस पर द्वैतवादियों के प्रबल आक्षेप हैं। उनका कहना है कि सद्वस्तु ही लोक में सप्रयोजन या अर्थक्रियाकारी मानी जाती है। उससे भिन्न में अर्थक्रियाकारित्व न होने के कारण प्रपंच को सत् मानना होगा। इस पर वेदान्त के आचार्यों का समाधान यह है कि लौकिक व्यवहारसाधनता सत् से भिन्न में भी पाई जाती है। जैसे स्वप्न सत् से भिन्न (असत्) होने पर भी शुभाशुभ-सूचक होता है। शंकाविष मरण का हेतु देखा जाता है। वर्ण में ह्रस्वत्व दीर्घत्व

आदि धर्म आरोपित होते हैं जो कि सत् नहीं होते फिर भी उनसे बोध यथार्थ होता देखा जाता है। सभी असत् पदार्थ अपने प्रयोजन के निष्पादक होते हैं, यह नियम नहीं। धूलि-पटल में धूम अपने सत् अग्नि का अनुमापक नहीं होता। इस प्रकार के स्वभाववैलक्षण्य में मधुसूदन सरस्वती ने वाचस्पति के वक्तव्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है—"तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः, तथैवासत्त्वाविशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, न तु धूमाभासादिना' इति।"[६३] वेदान्ताचार्य मीमांसकों के समान शब्द में ह्रस्वत्व, दीर्घत्व का आरोप माना करते हैं। आरोपित ह्रस्वत्व, दीर्घत्व से प्रतिपाद्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान माना जाता है, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुंजरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः।'[६४] लोकव्यवहार में दीर्घ 'नकार' घटित 'नाग' शब्द से हाथी का बोध होता है एवं ह्रस्व 'नकार' युक्त 'नग' पद से वृक्ष आदि का बोध होता है। ऐसे बोध को यथार्थ माना जाता है, भ्रम नहीं। इसी प्रकार आरोपित वस्तु भी लौकिक सत्य की साधन हो सकती है, किन्तु जैसे सभी सत् पदार्थों का स्वभाव एक नहीं होता उसी प्रकार सभी सद्भिन्न या आरोपित पदार्थों का स्वभाव भी एक जैसा नहीं होता। अतः आरोपित ह्रस्वत्व दीर्घत्व से बोध यथार्थ होता है किन्तु आरोपित धूम से वह्नि का यथार्थज्ञान नहीं होता।

(२) अधिष्ठान व आरोप्य के धर्मों का अन्तर

अधिष्ठान व अध्यस्त का तादात्म्य होने पर भी अध्यस्त के धर्मों से युक्त अधिष्ठान जैसे प्रतीत होता है वैसे अधिष्ठान के धर्मों से युक्त अध्यस्त वस्तु नहीं। इस विषय में वाचस्पति मिश्र का उल्लेख करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है—

"न च—समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्॥

इति वाचस्पत्युक्तेरन्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तिरिति वाच्यम्।"[६५] आरोपित सर्प की भीषणता आदि रूपों से रज्जु युक्त प्रतीत होती है किन्तु रज्जुगत त्रिगुणत्वादि धर्मों से सर्प युक्त प्रतीत नहीं होता। इसका कारण उनके परस्पर धर्मों का आरोप माना जाता है किन्तु उन्हीं धर्मों का आरोप हो सकता है जो प्रतीयमान हों। सर्प-भ्रमकाल में रज्जुगत त्रिगुणत्वादि विशेष आकार तिरोहित हो जाता है, प्रतीयमान नहीं रहता। अतः उसका आरोप नहीं होता क्योंकि उसकी प्रतीति हो जाने पर सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है।

(३) अन्योन्याध्यास में शून्यवाद प्रसंग की निवृत्ति

आत्मा का अनात्मा में तथा अनात्मा का आत्मा में अध्यास मानने पर आत्मा और अनात्मा दोनों अध्यस्त हो जाने के कारण मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार माध्यमिकसम्मत शून्यवादप्रक्रिया प्रसक्त हो जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए अधिष्ठान का बाध नहीं हो

सकता। अधिष्ठान-ज्ञान सदैव बाधक होता है बाधित नहीं। रजतादिज्ञान जैसे बाधित होता है वैसे शुक्तिज्ञान नहीं क्योंकि शुक्तिज्ञान का विषय शुक्ति सत्य होता है। शुक्तिज्ञान और रजतज्ञान की विशेषता बताते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्।' यदाहु र्बाह्या अपि—

> निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
> न बाधो यत्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥[६१]

रजतज्ञान और शुक्तिज्ञान की यही महती विशेषता है कि शुक्तिबुद्धि का विषय शुक्ति वास्तविक है, तात्त्विक है और रजतज्ञान का विषय रजत काल्पनिक है, अतात्त्विक है। किस ज्ञान का विषय काल्पनिक और किस ज्ञान का विषय तात्त्विक, इसका निर्णय कैसे किया जाए इसका निराकरण करने के लिए वेदान्त के आचार्यों ने भ्रमस्थल पर अधिष्ठान को सत्य और अध्यस्त को असत्य माना है। मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि 'अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा भ्रमाहेतुत्वेऽप्यज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेन सत्त्वनियमात्। भ्रमोपादानाज्ञानविषयो ह्यधिष्ठानमित्युच्यते, तच्च सत्यमेव, असत्यस्य सर्वस्याप्यज्ञानकल्पितत्वेनाज्ञानाविषयत्वात्....।'[६२] अध्यास में दो प्रकार की सामग्री अपेक्षित होती है—ज्ञानघटित और अज्ञानघटित। रजत जैसे अध्यस्त पदार्थों का ज्ञान एवं शुक्ति जैसे आधार द्रव्य का अज्ञान अध्यास का कारण होता है। ज्ञान का विषय सत्य होना चाहिए, यह आवश्यक नहीं। काल्पनिक रजत ज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी उत्तरकाल में रजतभ्रम देखा जाता है। किन्तु अज्ञान का विषय शुक्ति या शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य की सत्यता अनिवार्य होती है क्योंकि उसे अधिष्ठान कहा करते है और अधिष्ठान सदैव सत्य होता है। भ्रम के उपादानभूत अज्ञान का विषय अधिष्ठान कहलाता है। शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पदार्थ अज्ञान के विषय नहीं हो सकते क्योंकि वे सब अज्ञान के द्वारा कल्पित होते हैं। उनकी कल्पना से पूर्व अधिष्ठान की सत्ता अपेक्षित होती है। रजतादि-कल्पना का अधिष्ठान वास्तविक दृष्टि से शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य को माना जाता है। शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य विशिष्ट होने के कारण अधिष्ठान नहीं बन सकता। इस सन्देह का समाधान करने के लिए वेदान्ती कहा करते है कि शुक्त्यवच्छिन्न का यहाँ अर्थ शुक्त्युपलक्षित चैतन्य होता है जो कि शुद्ध चैतन्य है। उपलक्षित चैतन्य अज्ञान का विषय माना जाता है। प्रमाणवार्त्तिककार धर्मकीर्ति जैसे विज्ञानवादी को भी यह मानना पड़ा है कि भूतार्थ-स्वभाव का बाध नहीं हुआ करता। उसका कारण होता है बुद्धि का तत्पक्षपात। सद्-विषयक बुद्धि प्रबल होती है। यहाँ पर सांवृतिक वस्तु को काल्पनिक और पारमार्थिक वस्तु को वास्तविक माना गया है। सांवृतिक और पारमार्थिक परिभाषाएँ समस्त अद्वय-वादों में प्रायः समान रूप से प्रचलित है। रजतादि आकारों में बाह्यता का बाध हो जाता है, किन्तु ज्ञानस्वरूपता का बाध नहीं होता क्योंकि बाह्यरूपता काल्पनिक और ज्ञानरूपता वास्तविक होती है। विषयगत ज्ञानरूपता का स्पष्टावभास स्वप्नकालिक गजादि पदार्थों में होता है। ज्ञानस्वरूपता के लिए किसी प्रकार की सुरक्षाव्यवस्था के न होने पर भी उसका बाध नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति ने भी यही कहा है—'न बाधो यत्नवत्वेऽपि'।[६३]

(४) अवच्छेदवाद

जीव ब्रह्म का औपाधिक रूप है। उपाधियों के स्वरूप का निर्धारण आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप में किया है तथा आचार्य वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद के अनुयायी हैं, यह कहा जा चुका है। अवच्छेदवाद का उल्लेख करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—'अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः। अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्राः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वात् जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदः। जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात्। ईश्वरस्य च सप्रपंच-जीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः।''[९९] अर्थात् अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म जीव कहलाता है। वही जीव अज्ञान का आश्रय माना जाता है और उस अज्ञान का विषय अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म माना जाता है। अज्ञान के भेद से जीवों का भेद एवं जीव भेद से प्रपंच का भेद, इस पक्ष की विशेषता है।

उपाधि के सभी प्रकारों का मूलस्रोत उपनिषद्वाक्य एवं शंकराचार्य के वक्तव्य माने जाते हैं। आचार्य शंकर ने 'वाक्यसुधा' में कहा है—

> **अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।**
> **तस्मिन् जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥३३॥**
> **अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।**
> **तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥३४॥**[१००]

अर्थात् अवच्छेदक सदैव कल्पित होता है और अवच्छेद्य वास्तविक। जैसे तरंग, फेन, बुद्बुद आदि के रूपों में प्रतीयमान जलतत्त्व वास्तविक होता है और तरंग आदि काल्पनिक जल के धरातल पर एक सांकेतिक रूप-सा माना जाता है। तरंगावच्छिन्न जल तरंग का आधार होता है, उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य अज्ञान का आधार वाचस्पत्य मत में माना जाता है। कुछ लोगों का यह आक्षेप कि अवच्छेदक आधार नहीं हो सकता, जलतरंग दृष्टान्तों से समाप्त हो जाता है। आकाश में एक चादर बिछी हुई है। उस चादर का आधार कौन-सा आकाश माना जाए? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि जिस आकाश में चादर है। यहाँ पर भी चादर से अवच्छिन्न आकाश ही चादर का आधार प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रत्येक अवच्छेदक का आधार अवच्छिन्न तत्त्व ही माना जाता है। अवच्छेदक किसी वस्तु के उस व्यावर्तक विशेषण पदार्थों को कहा जाता है जिनके द्वारा विशेष्य वस्तु का भेद व्यवहृत होता है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश का मठावच्छिन्न या मल्लिकावच्छिन्न आकाश से भेद प्रतीत होता है। गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन प्रदेशों में रहने वाले आकाश का महाकाश से किसी प्रकार का भेद नहीं होता अपितु घटादि प्रदेशों का ही परस्पर भेद आकाश को भिन्न जैसा बना दिया करता है। उपनिषद्-वाक्य भी यही कहता है—

> **घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा।**
> **घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥**[१०१]

अर्थात् घट को एक प्रदेश से उठाकर दूसरे प्रदेश में रखा जाता है किन्तु घट के खोखले में

घिरे हुए आकाश को दूसरे प्रदेश में नहीं ले जाया जा सकता, फिर भी घटाकाश में भी वैसा ही प्रदेशान्तर में नयन का व्यापार होता है जैसाकि घटादि के लिए। घट के उठाने पर घट में रहने वाला जल भी उठाया जाता है किन्तु घटस्थ आकाश नहीं उठाया जाता। व्यवहारमात्र में ऐसा हो जाया करता है। इसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य में जन्म-मरण—संसरण की प्रतीति वैसे ही अज्ञान के संसरण से हो जाया करती है जैसे घटगत देशान्तरनयन का व्यवहार घटाकाश में हो जाता है। वाचस्पतिमत में जीव ही अपने प्रपंच की कल्पना का अधिष्ठान माना जाता है। अधिष्ठान सदैव सत्य होता है, यह कह चुके हैं। अज्ञानरूप उपाधि को छोड़ देने पर जीव का अवशिष्ट चैतन्यस्वरूप वास्तविक होता है। अतः प्रतिबिम्बवादि पक्षों में इस प्रकार की सुचारु व्यवस्था का निर्वाह नहीं हो पाता। श्रुति, सूत्र और भाष्य के वचनों का सामंजस्य एवं युक्तियुक्तता की दृष्टि से अवच्छेदवाद श्रेष्ठ समझा जाता है।

मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' नामक ग्रन्थ में भी वाचस्पतिमत को उद्धृत किया है।[१०२]

५. धर्मराजाध्वरीन्द्र (१५६० ई०)

(१) वेदान्त जीवब्रह्मैक्य विषयक ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति मानता है। इसीलिए नारद ने कहा है—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्।' किन्तु जीवब्रह्मैक्य-ज्ञान, जिससे कि अज्ञान की निवृत्ति मानी जाती है, वह प्रत्यक्षात्मक होना चाहिए क्योंकि जगद्विषयक भ्रम प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति प्रत्यक्ष ज्ञान से ही सम्भव है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति विवरणकारादि तत्त्वमस्यादि शब्दप्रमाण से मानते हैं किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र का कथन है कि शब्दप्रमाण से कहीं भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, आन्तर या बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थलों में शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होने का दावा वेदान्ती करते हैं किन्तु वहाँ भी शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। शब्दज्ञान के बाद दशमपुरुष के साथ जो चक्षुःसंनिकर्ष होता है उसी से दशम पुरुष का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। अतः जीवब्रह्मैक्य-ज्ञान रूप प्रत्यक्ष ज्ञान भी तत्त्वमस्यादि शब्दप्रमाण से नहीं होता किन्तु शब्द के अनन्तर जब मनननिदिध्यासन-संस्कृत अन्तःकरण का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, तभी उत्पन्न होता है। ऐसा मानने पर लोक में जो सामान्य नियम है कि शब्दादि प्रमाणों से परोक्ष ज्ञान ही होता है अपरोक्ष नहीं, इसमें भी कोई बाधा नहीं पहुँचती। वेदान्तपरिभाषाकार ने 'तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित् मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे'[१०३]— इस उक्ति के द्वारा वाचस्पति के इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। यहाँ पूर्व मत में 'केचित्' शब्द के द्वारा अरुचि बतलाई है और वाचस्पति के मत में 'अपरे' कहकर सम्मान सूचित किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार ने वाचस्पति के उक्त मत का समीचीन रीति से प्रतिपादन किया है।[१०४] इस प्रसंग में उन्होंने बतलाया है कि ज्ञानों का प्रत्यक्षत्व विषय पर निर्भर नहीं है किन्तु कारण पर निर्भर है क्योंकि एक ही सूक्ष्म वस्तु का पटु करणों वाला व्यक्ति

प्रत्यक्ष कर सकता है और अपटुकरण वाला नहीं। अतः प्रत्यक्षत्व विषय पर निर्भर नहीं, करण पर निर्भर है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी मन को ही आत्मसाक्षात्कार में कारण बतला रही हैं। 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को असंस्कृत मन का अविषय बतला रही हैं, न कि संस्कृत मन का भी। आत्मज्ञान में मन को कारण मानने पर 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुति में 'औपनिषद' पद की उपपत्ति कैसे बनेगी, इसका समाधान भी कर दिया गया है कि मन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार उपनिषज्जन्य ज्ञान के बाद ही होता है। अतः 'औपनिषद' कहना उपपन्न हो जाता है। 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १।१।३०) - इस सूत्र में 'शास्त्रदृष्टि' पद भी ब्रह्मविषयक मानस प्रत्यक्ष तत्त्वमस्यादिशास्त्र-प्रयोज्य है, इस अभिप्राय को लेकर उपपन्न हो जाता है। इसीलिए 'अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० ३।२।२४)—इस सूत्र में निरस्तसमस्तप्रपंच अव्यक्त आत्मा को योगियों के प्रत्यक्ष का विषय बतलाया गया है। वेदान्त कल्पतरुकार ने ऐसा कहा है—

अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टि मंता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः॥

(२) 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) —इस श्रुति के अनुसार श्रवणमनन निदिध्यासन में आत्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता बतलायी गई है किन्तु विवरणाचार्यादि आत्मसाक्षात्कार में श्रवण को प्रधान कारण तथा मनन और निदिध्यासन को श्रवण के फल ब्रह्मसाक्षात्कार के निष्पादक होने से आरादुपकारक मानते हैं, साक्षात् नहीं। जिस प्रकार घट में मृत्पिण्ड आदि प्रधान कारण व चक्रादि सहकारी कारण हैं उसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण प्रधान कारण है और मनन तथा निदिध्यासन सहकारी कारण हैं। ये प्रत्यगात्मा में चित्त को अभिमुख करके भावना संस्कार के द्वारा उत्पन्न ब्रह्ममात्रविषयकवृत्ति को उत्पन्न करने में काम आते हैं। यह विवरणकार का मत है।[१०४]

किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र निदिध्यासन को ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति साक्षात् कारण मानते हैं, जैसा कि 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेता० १।३) इत्यादि श्रुतियों से प्रसिद्ध है और मनन को निदिध्यासन में वे कारण मानते हैं क्योंकि मनन के बिना ब्रह्मात्मैक्य विषय के निश्चित न होने से निदिध्यासन नहीं बन सकता और मनन में श्रवण को कारण मानते हैं क्योंकि श्रवण के अभाव से श्रुतार्थ-विषयक युक्तायुक्तत्वनिश्चयानुकूल मनन नहीं बन सकता। इस प्रकार ये तीनों ही साक्षात् और परम्परया आत्मसाक्षात्कार में कारण हैं।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इस सूत्र के भाष्य की 'भामती' में 'तत्र आद्ये तावत् प्रतिपत्ती (श्रवणमनने) विदितपद-तदर्थस्य विदितवाक्यगतिगोचरन्यायस्य च पुंस उपपद्येते एवेति न तत्र कर्मापेक्षा। ते एव च चिन्तामयीं तृतीयां प्रतिपत्तिं प्रसुवाते'[१०५]—इस उक्ति के द्वारा इस तथ्य का स्पष्टी-करण किया है। भामतीकार के इस अभिमत का वेदान्तपरिभाषाकार ने ससम्मान उल्लेख किया है।[१०६]

(३) वेदान्तपरिभाषाकार ने लाघवमूलक एकाविद्या-पक्ष में भी एक की मुक्ति से सर्वमुक्तिरूप दोष का परिहार करने के लिए अविद्या के एक होने पर भी उसकी आवरणशक्तियाँ जीवभेद से नाना मानी हैं आवरणशक्तियों को नाना मानने पर जिस जीव को ब्रह्मज्ञान हो गया है, उस जीव की ब्रह्मावरणशक्तिविशिष्ट अविद्या का नाश हो जाता है, शेष का नहीं। अतः एक की मुक्ति से सर्वमुक्तिप्रसक्ति नहीं होती। इसी में उन्होंने प्रमाणरूप से वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्त को उद्धृत किया है।[११८] तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने पर भी अपान्तरतमः प्रभृति आचार्यों का देहग्रहण और उसका परित्याग श्रुतियों में बतलाया गया है और वह अनुपपन्न है क्योंकि 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतियाँ ज्ञानी की अपुनरावृत्ति बतला रही हैं। अतः इस दोष का परिहार करने के लिए यह सिद्धान्त किया गया है कि जिस प्रकार ज्ञानी को भी ज्ञान होने के बाद प्रारब्ध कर्म-जन्य देह की समाप्ति न होने तक विदेहमुक्ति नहीं होती क्योंकि वहाँ ज्ञान के फल का प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म विद्यमान है, उसी प्रकार अपान्तरतमः प्रभृति ज्ञानियों में भी ज्ञान होने पर भी उसके फल का प्रतिबन्धक विचाराराधन-संतोषित ईश्वरविहित अधिकार विद्यमान है। अतः उस अधिकार की समाप्ति तक विदेहमुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी किन्तु जैसे ही प्रारब्धकर्म समाप्त होने पर प्रारब्धकर्मजन्य देह का नाश होकर ज्ञानियों को विदेहमुक्ति की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार अपान्तरतमः प्रभृति ज्ञानियों को भी विद्याराधनसंतोषित ईश्वरविहित अधिकार की समाप्ति होने पर विदेहमुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार एकाविद्यापक्ष में भी जीवभेद से भिन्न-भिन्न आवरणशक्ति को मानने पर जिसकी आवरणशक्ति का नाश हो गया है उसकी मुक्ति हो जाती है, शेष की नहीं।

६. ब्रह्मानन्द सरस्वती

(१) परमाणुकारणतावाद का निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'अनुभूयते हि पृथिवी गन्धरूपरसस्पर्शात्मिका स्थूला, आपो रूपरसस्पर्शात्मिकाः सूक्ष्माः, रूपरसात्मक तेजः सूक्ष्मतरं, स्पर्शात्मको वायुः सूक्ष्मतमः। पुराणेऽपि स्मर्यते—

,आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समाविशत्।
द्विगुणस्तु ततो वायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत् ॥१॥
रूपं तथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ।
त्रिगुणस्तु ततो वह्निः सशब्दस्पर्शवान् भवेत् ॥२॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसमात्रं समाविशत्।
तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः ॥३॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्च गन्धमाविशत्।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम् ॥४॥
तस्मात्पंचगुणा भूमिः स्थूला भूतेषु दृश्यते।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः ॥५॥
परस्परानुप्रवेशाद् धारयन्ति परस्परम्।'[११९]

अर्थात् लौकिक अनुभव से सिद्ध होता है कि पृथ्वी तत्त्व स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच गुणों का समूह है। जल रूप, रस, स्पर्श का समूह, तेजरूप, स्पर्श गुणों का समूह एवं वायुस्पर्श-स्वरूप है। वायु के परमाणुओं से जो कार्य उत्पन्न होगा उसमें स्पर्श की उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिए एवं शब्दादि गुणों की उपलब्धि नहीं होनी चाहिए, किंतु वायु के प्रबल आघातों में शब्द की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार परमाणुओं का उपचय और अपचय भी अकस्मात् नहीं होना चाहिए क्योंकि कारण और कार्य का समवाय सम्बन्ध वैशेषिक मानते हैं। समवाय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध कहलाता है। सम्बन्धी द्रव्य को छोड़कर सम्बन्ध नहीं रह सकता। अतः कार्यद्रव्य को भी नित्य मानना होगा। नित्य वस्तु का कभी विनाश नहीं होता और उत्पत्ति नहीं होती एवं पुराणों में परमाणुओं का स्वरूप गुण से अभिन्न बताया है, उसके विपरीत वैशेषिकों का गुणाधारता का परमाणुओं में प्रतिपादन संगत नहीं ठहराया जा सकता।

'भामती' के इस अंश को उद्धृत करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"किं च गुणगुण्यादोः समवायस्वीकारे तदन्तर्भावेणापि ज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्व कल्प्यमिति ते गौरवम्।...उक्तं हि भामत्यां 'उभयथा च दोषात्' इति सूत्रे 'अनुभूयते हि पृथिव्यादिकं गन्धाद्यात्मकं...आत्मत्वदेहत्वाभ्याम् इति वा भेदः।"[११०]

वेदान्तपक्ष आग्रहमात्र पर टिका हुआ प्रतीत होता है। इन्हें भेदवादी वैशेषिकों का अवश्य निराकरण करना है, इस ध्येय पर आरूढ़ होकर वैशेषिकों के गुणगुणिवाद का विकल्प-प्रणाली से निरास कर दिया है किन्तु वैशेषिक आचार्य अपनी गवेषणाशक्ति के आधार पर गुणगुणी के भेद का प्रतिपादन करते हैं, किसी के मत का निराकरण करने के लिए उनका आविष्कार प्रतीत नहीं होता। यह तथ्य है कि गुणी को छोड़कर गुण नहीं रह सकता किन्तु गुण का अपने कतिपय आधार-परमाणुओं में संकुचित एवं विकसित हो जाने से दोनों का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। गुण अप्रधान तत्त्व है और द्रव्य प्रधान। दोनों का अभेद या तादात्म्य वैशेषिक प्रक्रिया के आधार पर कभी नहीं माना जा सकता। गुणी द्रव्य के एक होने पर भी पूर्व रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का नष्ट हो जाना एवं अन्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का उत्पन्न हो जाना भी यह सिद्ध करता है कि गुण और गुणी भिन्न पदार्थ हैं, अभिन्न नहीं। 'तादात्म्य' शब्द की व्युत्पत्ति को देखकर अभेदरूपता का ही लाभ होता है—'स चासौ आत्मा तदात्मा तस्य भावः तादात्म्यम्'=तद्रूपता। गुण और गुणी में अभेद मानने पर पूर्व रूप, रस आदि के नष्ट हो जाने पर आधार द्रव्य का भी नाश मानना पड़ेगा किन्तु यह अनुभव से सिद्ध नहीं होता। आम जैसे फल जैसे के तैसे बने रहते हैं किन्तु पक्वावस्था में रूप, रस, गन्ध का ही परिवर्तन देखा जाता है। तादात्म्य की कल्पना भी वेदान्तियों की कुछ अनुपम-सी है—'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्' अर्थात् भेदसापेक्ष या भेदमिश्रित अभेद को तादात्म्य कहा जाता है। तद्रूपता या अभेद ही वह कैसा होगा जो भेदसहिष्णु है? बौद्धों के संवृतिसत्य और परमार्थसत्य—दो सत्यों का उपहास करते हुए कहा गया है कि वह सत्य ही क्या जो मिथ्या हो जाए। सत्य कभी दो प्रकार का नहीं हो सकता—एक सत्य सत्य और दूसरा मिथ्या सत्य।[१११] उसी प्रकार वह अभेद ही कैसा जो भेदगर्भित या भेद को सहन करने वाला हो।

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि वाचस्पति मिश्र का अद्वैतवाद एक ऐसा उपचार है जो व्यावहारिक जगत् को अपना क्षेत्र न बनाकर भ्रान्त प्राणियों के मस्तिष्क पर प्रयुक्त हुआ है। जिस चक्षु से दो ग्रन्थ दिखाई देते हैं वहाँ प्रतिभाशाली वैद्यवर चन्द्र पर अपना प्रयोग न करके दृष्टि के दोष का प्रतिकार किया करता है। अन्य अद्वैतवेदान्तियों से वाचस्पति मिश्र की यह एक महती विशेषता है कि वे जागतिक विप्लव पर विशेष ध्यान न देकर केवल जीवगतभ्रम की रेखाओं का गम्भीरता से अध्ययन करके मानस दोषों का प्रतिकार करने में संलग्न प्रतीत होते हैं। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' का दिन-रात पाठ करने वाले वेदान्ती यह दृष्टि प्राप्त न कर सके और न जिज्ञासुओं को ही प्राप्त करा सके। निर्मल मन सभी प्रकार के दोषों से परिशुद्ध हो जाने पर तत्त्वसाक्षात्कार वैसे ही किया करता है, जैसे दोष-रहित दृष्टि चन्द्र को एक देखती है। मन व्यवहारावस्था में अनेक प्रकार के विरोधी धर्मों से युक्त बाह्य वस्तुओं का अनुचिन्तन करता ही रहता है। भेदाभेद जैसे विरोधी धर्मों की कल्पना भी मन की एक तरंग है। वाचस्पति मिश्र ने कई स्थानों पर यह ध्वनित कर दिया है कि मन ने अनादि-काल से संचित भेदसंस्कारों को जिस सुदृढ़ता से पकड़ रखा है, उसमें शैथिल्य लाये बिना अभेददर्शन सम्भव नहीं। वही जलकण बर्फ और तुषार का रूप धारण कर लेता है, बहुत दिनों तक उसी अवस्था में पड़ा-पड़ा स्फटिक-जैसा पाषाण-खण्ड बन जाता है। यह पाषाण-खण्ड जलरूप है—इस प्रकार की किसी तत्त्व-द्रष्टा ऋषि की वाणी दूसरे व्यक्तियों को अवश्य चौंका देने वाली हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान पाषाण-खण्ड की कठोरता को देखकर उसकी जलरूपता को स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं हो सकता, किन्तु तथ्य तथ्य ही है। आपाततः वाचस्पति के शब्द भले ही हमें कुछ चौंका देने वाले लगें किन्तु गम्भीरता से अध्ययन करने पर वे हमारा सत्य मार्ग-दर्शन करते हैं।

(२) शून्यवाद का निराकरण—असत्कारणवाद के निराकरण में भामतीकार ने कहा है—"अस्थिरात् कार्योत्पत्तिमिच्छन्तो वैनाशिका अर्थादभावादेव भावोत्पत्तिमाहुः।"[११२] अर्थात् क्षणिक कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर अभाव से ही भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि क्षणिक कारण निरपेक्ष होकर कार्य का जनक होता है अथवा दूसरे की अपेक्षा करके, यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि किसी अन्य की अपेक्षा न करके अकेला ही क्षणिक कारण कार्य को जन्म दे सकता है, तब कार्योत्पत्ति के लिए पुरुष का प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता है और अन्य सामग्री की अपेक्षा करने पर उसकी क्षणिकता समाप्त हो जाती है। अतः क्षणिक कारण कार्य का उत्पादक सिद्ध नहीं होता। वाचस्पति के इन वाक्यों को उद्धृत करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"अस्थिरात् कार्यमिच्छतोऽर्थादभावाद् भावमाहुरुक्तमेतद् इत्यादि भामती।"[११३]

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक चारों बौद्ध सम्प्रदाय अभाव को कारण नहीं माना करते। उनका कहना यह है कि अभाव तुच्छ, अनुपाख्य होने के कारण अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता। गगनकुसुम से किसी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वैभाषिक प्रत्यक्षसिद्ध क्षणिक मृत्तिकारूपहेतु एवं क्षणिक दण्ड चक्र, चीवर, कुलाल आदि प्रत्ययसामग्री से घटादि कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। सौत्रान्तिक का भी

यही पक्ष है। योगाचार विज्ञानतत्त्व को कारण स्वीकार करता है। शून्यवादी माध्यमिक शून्य से जगत् की उत्पत्ति मानता है किन्तु उसके शून्य का अर्थ अभाव समझना बहुत बड़ी भूल है क्योंकि उसकी दृष्टि से मृत्तिका आदि सामग्री के दो स्वरूप होते हैं— (१) सांवृतिक और (२) पारमार्थिक। मृत्तिका आदि सामग्री परस्पर सापेक्ष होकर कार्य को जन्म देती है। यहाँ मृत्तिका आदि में सापेक्षहेतुता एवं प्रतीत्यसमुत्पादकता ही सांवृतिक आकार है। निरपेक्षहेतुता उसमें नहीं मानी जाती। सांवृतिक आकार को ही कारण माना जाता है, वह अभाव नहीं पदार्थ है। क्षणिक पदार्थों में सापेक्षहेतुता का निराकरण वाचस्पति मिश्र ने किया है। सापेक्षता मानने पर क्षणिकता समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार 'न्यायरत्नावली' में भी बौद्धों के शून्यवाद का निराकरण करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने भामतीकार को उद्धृत किया है— "तदेद्विज्ञानरूपात्ममिथ्यात्व-मतमेव शून्यमात्मेति अनेनोक्तम्। न हि शून्यं नाम किञ्चित्तत्त्वं तेनोच्यते। अतएव तत्त्वस्य कस्यचित्त्वयानंगीकारात् तत्त्वज्ञानं विना सर्वबाधासम्भवेन सर्वमिथ्यात्वासिद्धिरिति तन्मतं दूषितं भामत्याम्।"[११४] अर्थात् शून्यवादी विषय और ज्ञान का प्रत्याख्यान करता है तथा किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं करता। तत्त्व के न होने पर तत्त्वज्ञान भी संभव नहीं होता। तत्त्वज्ञान के बिना सर्ववस्तुओं का बाध नहीं हो सकता जिससे कि सब वस्तुओं में मिथ्यात्वप्रसक्ति सम्भव नहीं। वाचस्पति मिश्र ने इस शून्यवाद मत का निराकरण किया है। 'भामती' में इस मत का निराकरण करते हुए कहा है—"लौकिकानि हि प्रमाणानि सदसत्त्वगोचराणि। तैः खलु सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते। सदसतोश्च विचारासहत्वं व्यवस्थापयता सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धं व्यवस्था-पितं भवति।"[११५] शून्यवाद सर्वथा प्रमाणविप्रतिषिद्ध है। शून्यवादी जब सभी प्रकार के प्रमाण और प्रमेय का निराकरण करता है तब सर्वशून्यतावाद अथवा सर्वमिथ्यात्व भी कैसे सिद्ध होगा ?

(३) **वेदान्तवाक्यों की मुख्यार्थपरता**— प्रभाकर मिश्र जैसे विचारकों का वेदांत वाक्यों के विषय में कहना है कि वे या तो अविवक्षार्थक हैं या गौणार्थक हैं या लक्षणा आदि के द्वारा अन्यपरक माने जाते हैं। उनका कहना है कि वेदों में दो प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं—(१) स्वार्थपरक और (२) अन्यार्थपरक। कर्मबोधक विधिवाक्य प्रायः स्वार्थपरक माने जाते हैं, जैसाकि द्वितीय सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रभाकर मिश्र ने सिद्ध किया है कि 'कार्यरूपो वेदार्थः' अर्थात् 'अग्निहोत्रं जुहोति' जैसे वाक्य मुख्य रूप से अपने स्वार्थ के बोधक माने जाते हैं। किन्तु कुछ ऐसे वाक्य भी माने जाते हैं जिनका स्वार्थ-प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं होता किन्तु लक्षणा आदि के द्वारा किसी अन्यार्थ की प्रशंसा या निन्दा किया करते हैं, जैसेकि 'यजमानः प्रस्तरः' वाक्य प्रस्तर को मुख्य रूप से यजमान का स्वरूप नहीं बताता अपितु यजमान के कार्य का सम्पादक होने के कारण गौणरूप से प्रस्तर को यजमान उसी प्रकार कहता है जैसेकि 'सिंहो माणवकः' वाक्य शूरता आदि गुणों के सम्बन्ध से माणवक को सिंह बताता है। इन दोनों भेदों में से वेदान्तवाक्य ही गौणार्थक माने जाते हैं, वे मुख्य रूप से स्वार्थ के समर्पक नहीं क्योंकि

समस्त वेद का तात्पर्य मुख्य रूप से जब कर्म में होता है और वेदान्त-वाक्यों में कर्मप्रति-पादक कोई पद उपलब्ध नहीं होता, अतः ये मुख्यतः स्वार्थपरक नहीं माने जा सकते किन्तु प्रस्तरादि वाक्यों के समान अन्यार्थपरक माने जाते हैं।

मीमांसा की इस तर्कप्रणाली पर दोष दिखाते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि प्रस्तरादिवाक्य अन्य कर्मविधायक वाक्यों के शेष होने के कारण स्वार्थपरक नहीं माने जाते किन्तु वेदान्तवाक्य किसी अन्य वाक्य के शेष न होने के कारण मुख्यार्थपरक माने जाते हैं। वेदि में एक मुट्ठी भर कुश बिछाई जाती है जिसे प्रस्तर कहते हैं। दर्शपूर्णमास कर्म सम्पन्न हो जाने पर 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वाक्य के द्वारा प्रस्तर का अग्नि में प्रक्षेप विहित है। प्रक्षेप कार्य में विनियुक्त प्रस्तर की प्रशंसा में कहा गया है कि 'यजमानः प्रस्तरः'। यह वाक्य दर्शपूर्णमास विधायक कर्म का अंग वाक्यशेष माना जाता है। अतः प्रस्तर के उद्देश्य से यजमानरूपता या यजमान के उद्देश्य से प्रस्तररूपता का विधान न करके केवल दर्शपूर्णमास कर्म के अंगभूत प्रस्तरप्रक्षेप की प्रशंसा करता है कि प्रस्तरकर्मक प्रक्षेपरूप कर्म प्रशस्त है क्योंकि प्रशस्त यजमान ही है। अर्थात् प्रस्तर उतना आवश्यक है जितना कि कर्म के लिए यजमान। प्रकरण के आधार पर प्रस्तरवाक्य दर्शपूर्णमास या उसके अंगभूत कर्म की प्रशंसा में ही प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' जैसे वेदान्तवाक्य किसी कर्म के प्रकरण में या अन्य किसी प्रकरण में पठित नहीं अपितु उपक्रम उपसंहार आदि तात्पर्य-निर्णायक प्रमाणों के द्वारा निश्चित होता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्य ऐसे प्रकरण में पठित हैं जिसका मुख्य-तात्पर्य परापर ब्रह्म के अभेदबोधन में है। सभी वेदान्तवाक्य मुख्यरूप से शुद्ध ब्रह्म के समर्पक माने जाते हैं और उस अर्थ का समर्पण मुख्य रूप से करते हैं, गौण या लाक्षणिक रूप से नहीं।

वाचस्पति मिश्र को इस विषय में प्रमाण मानते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"तथा चोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्। अद्वैतवाक्यं त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेव। उक्तं हि शाबरभाष्ये न विधौ परश्शब्दार्थ' इति।"[११६] अर्थात् विधिवाक्यों में सभी शब्द स्वार्थबोधक माने जाते हैं, परार्थबोधक नहीं। अन्य शब्द का अन्य अर्थ में प्रवृत्त होना लाक्षणी या गौणी वृत्ति मानी जाती है। वेदान्तवाक्य मुख्यार्थ के समर्पक होते हैं, प्रस्तरादि वाक्यों के समान गौणार्थक नहीं।

(४) प्रपंचमिथ्यात्व और भेदाभेदवाद का अन्तर

अद्वैतसिद्धिकार ने प्रपंचमिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग किया है—'प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात्'। 'मिथ्या' शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय अथवा सदसदुभयभिन्न पदार्थ माना जाता है। प्रपंच बाधित होने के कारण सद्भिन्न है और प्रतीयमान होने के कारण असत् से भी भिन्न है, यह वेदान्त का मूल मंत्र है। उक्त अनुमान प्रयोग में प्रति-वादी ने दोष दिखाया है कि प्रपंच में खपुष्पादि असत् पदार्थों का भेद हम मानते हैं, अतः सिद्धसाधनता हो जाती है। इसका परिहार करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि

केवल असद्भेद सिद्ध होने पर भी सद्भेद और असद्भेद उभय सिद्ध न होने के कारण सिद्धसाधनता दोष नहीं होता, जैसे भेदाभेदवादी गुण में गुणी से भेदाभेद सिद्ध करने के लिए अनुमान करता है। वहाँ केवल भेद सिद्ध होने से सिद्धसाधनता दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि भेदाभेद-समुच्चय सिसाधयिषित होता है, केवल भेद नहीं। दृष्टान्त के विवरण में भेदाभेदवादी का मत स्पष्ट करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अवच्छेदक भेद से विरुद्ध धर्मों का समन्वय मानने वाले नैयायिकों का, भेदाभेदवादी भास्करादि आचार्यों से अन्तर दिखाते हुए कहा है कि वृक्षादि में शाखा और मूलादि अवच्छेदक के भेद से संयोग और संयोगाभाव दो विरोधी धर्मों का समावेश तार्किक मानते हैं किन्तु भेदाभेद-वादी एकावच्छेदेन भेदाभेद उभय मानता है, अवच्छेदक-भेद से नहीं। भेदाभेद की इस व्याख्या पर आपत्ति उठाते हुए पूर्वपक्षी ने कहा है—"न च कुण्डलत्वादेः कनकत्वाद्य-वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदानुयोगितावच्छेदकत्वे—

कार्यात्मना तु नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ।।

इति भामत्युक्तभेदाभेदवादिकारिकया कारणतावच्छेदकरूपेणाभेदस्यैव कार्यतावच्छेदक-रूपेण भेदस्यैवोक्त्या विरोध इति वाच्यम्।"[११७] अर्थात् भेदाभेदवाद का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए भामतीकार ने कहा है कि सुवर्णत्व रूप से कटककुण्डल का परस्पर अभेद और कटकत्व, कुण्डलत्व रूप से दोनों का भेद माना जाता है, एकावच्छेदेन भेदाभेद नहीं। किन्तु यदि एकावच्छेदेन भेदाभेद ही भेदाभेदवादी को अभिमत है तो वाचस्पति मिश्र का उक्त वक्तव्य विरुद्ध हो जाता है। इस विरोध का परिहार करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"भामत्युक्तिरसति दोषे। अत एवात्यन्ताभेदे अन्यतरस्य भामत्यां द्विरवभासमात्रं दूषणमुक्तम्। न तु भेदानुभव-विरोधः, भेदानुभवस्य त्वन्मतेऽप्यसार्वत्रिक-त्वात्। अन्यतरस्याभिन्नस्य धर्मिणो द्वाभ्यां रूपाभ्यामवभासमात्रं न त्वेकरूपावच्छिन्ने अपररूपावच्छिन्नस्य विशिष्टधीः, अत्यन्ताभेदे सम्बन्धासम्भवादिति तदर्थः। अथैवमपि भावाभावावेकत्र कथम्? न चावच्छेदकभेदेनैव तौ साध्याविति वाच्यम्, एकावच्छेदेन तत्साधकयुक्तेरेवोक्तत्वात्। भामत्यादौ तन्मतस्य विरोधोक्त्या दूषणासंगतेः। मणिका-रैरपि 'न चैवं भेदाभेदः' इत्यनेन तन्मतमापाद्य अवच्छेदकभेदेन स्वमते तन्मतवैलक्षण्योक्त-त्वाच्चेति।"[११८] आशय यह है कि वेदान्त-सिद्धान्त में भी भावाभाव पदार्थों का एकत्र समन्वय माना जाता है। भास्करादि के मत में भी भेदाभेद का एकत्र समुच्चय माना जाता है। तार्किक सिद्धान्त में भी संयोग और संयोगाभाव का एक ही वृक्ष में समावेश माना जाता है एवं अनेकान्तवादी मीमांसक, जैन आदि दार्शनिक भी विरोधी तत्त्वों का एक धर्मी में समाहार माना करते हैं। किन्तु सबका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होता है। इनमें वेदान्त विषमसत्ताक भावाभाव पदार्थों का समावेश मानता है। वह ब्रह्म में प्रपंच का व्यावहारिक भाव और पारमार्थिक अभाव उसी प्रकार मानता है जैसे शुक्ति में प्रातिभासिक रजत और व्यावहारिक रजताभाव। विषमसत्ताक भावाभाव पदार्थों का सहावस्थान माना जाता है। किन्तु भेदाभेदवादी समान रूप से दोनों वास्तविक पदार्थों

का समन्वय मानता है। ब्रह्म का जगत् परिणाम है, जैसे सुवर्ण के आभूषण। अतः ब्रह्म का प्रपंच के साथ वैसा ही भेदाभेद सम्बन्ध माना जाता है जैसे कि सुवर्ण का मुकुटादि के साथ। तार्किकगण एक ही वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपि-संयोगाभाव, इस प्रकार एक ही वृक्ष में अवच्छेदक-भेद से दोनों भावाभाव पदार्थों का समन्वय मानते हैं। मीमांसक और जैनगण भी कुछ अन्तर से अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना किया करते हैं। प्रपंच मिथ्या है, इसका अर्थ होता है कि प्रपंच सत् और असत् उभय से भिन्न है। सद्भेद पारमार्थिक और असद्भेद व्यावहारिक माना जाता है। वाचस्पति मिश्र ने भेदाभेद मत की आलोचना स्थान-स्थान पर करते हुए यही कहा है कि दो समानसत्ताक विरोधी धर्मों का एकत्र रहना सम्भव नहीं है, किन्तु विषमसत्ताक पदार्थों का ही समन्वय सम्भव होता है। अद्वैतसिद्धिकार ने भी भेदाभेदवाद को केवल दृष्टान्त बनाकर सत् और असत्, उभय का समुच्चित भेद प्रपंच में सिद्ध करना उद्देश्य बताया है।

(५) ब्रह्म की अवेद्यवेदकता

ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। स्वयप्रकाशता का अर्थ माना गया है अवेद्यवेदकता। वह ब्रह्म किसी अन्य प्रकाश से वेद्य नहीं, अतः अवेद्य है और समस्त विश्व का भासक होने के कारण वेदक माना जाता है। इस प्रकार की अवेद्यवेदकता जीव में बताई गई है, जैसाकि गीता कहती है—"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।"[११९] अर्थात् सूर्य और शशांक आदि प्रकाशों के द्वारा यह क्षेत्रज्ञ प्रकाशित नहीं हो सकता। इसी प्रकार—

> यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
> यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥[१२०]

आदित्यगत प्रकाश तत्त्व वही है और वही जगत् का भासक मेरा स्वरूप। यहाँ उसी चेतन में जगत् की भासकता या वेदकता बतलाई गई है। अतः जीव और ब्रह्म दोनों एक सिद्ध होते हैं। गीता के दोनों उदाहरणवाक्यों का आशय स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है—"न तद्भासयत इति ब्रह्मणो ग्राह्यत्वमुक्तम्। 'यदादित्यगतम्' इत्येनन तु तस्यैव ग्राहकत्वमुक्तम्"[१२१] भामतीकार के इस विवरण को उद्धृत करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"अपि च स्मर्यते इति सूत्रे तु 'न तद्भासयत' इत्यादिकं 'यदादित्य-गतमि' त्यादिकं चोदाहृतम्। तच्च न प्रकृतविरुद्धम्, आद्येन ब्रह्मणोऽन्याभास्यत्वम्, अन्त्येन ब्रह्मण एव भासकत्वं प्रतिपादितमिति, भामत्यां व्याख्यातत्वात्।"[१२२] ज्ञान विज्ञान अथवा चैतन्य तत्त्व की स्वप्रकाशता में विश्वास रखने वाले दार्शनिक हैं वेदान्ती, प्राभाकर, बौद्ध, प्रत्यभिज्ञावादी? किन्तु उनमें से कुछ दार्शनिक विधि-रूप से एवं कुछ निषेधरूप से स्वयंप्रकाशता के पक्षपाती हैं। सौगत-सिद्धान्त में कहीं पर अन्यप्रकाशा-प्रकाश्यत्व को स्वप्रकाशता माना गया है और कहीं पर स्वाकारावभास्यता को कहा गया है। प्राभाकार निश्चित रूप से विधिप्रकार के पक्षपाती हैं, प्रत्येक ज्ञान में तीन विषयों का अवभास माना जाता है—स्वयंज्ञान का, घटादि विषय का एवं ज्ञाता आत्मा का। प्रकाश्यतावच्छेदक धर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। घटादि की प्रकाश्यता विषयत्वा-

वच्छिन्न ज्ञान की प्रकाश्यता ज्ञानत्वावच्छिन्न एवं आत्मा की प्रकाश्यता कर्तृत्वावच्छिन्न मानी जाती है। स्वक्रिया-विरोध का उद्भावन कतिपय दार्शनिक किया करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक क्रिया अपने कर्म को प्रभावित किया करती है, स्वयं को नहीं, जैसे गमन-क्रिया से ग्रामादि प्रभावित होते हैं, स्वयं गमन नहीं। इसी प्रकार ज्ञानक्रिया के द्वारा घटादि प्रभावित होते हैं। उस प्रभाव का नाम कुछ दार्शनिक ज्ञातता, प्रकटता, प्रकाश्यता और कर्मता माना करते हैं। ज्ञानजन्य प्रभाव या फल स्वयं ज्ञान पर नहीं हो सकते। अतः ज्ञान की स्वयंप्रकाशता स्वयंग्राह्यता अनुपपन्न होती है। इसका उत्तर प्राभाकर दिया करते हैं कि दीपक स्वयं अपना प्रकाश किया करता है। भेदनक्रिया स्वयं अपने को भिन्न किया करती है। इसी प्रकार ज्ञानक्रिया स्वयं अपने को प्रभावित किया करती है। वस्तु के स्वभाव भिन्न-भिन्न माने जाते हैं, कुछ परप्रकाशित और कुछ स्वप्रकाशित होते हैं। ज्ञानस्वकाशतत्त्व है, स्वयं पर अपना प्रकाश डालता है। किन्तु उस आक्षेप का प्रतिक्षेप करने के लिए वेदान्ती अन्य मार्ग का अनुसरण किया करते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्मगत स्वप्रकाशता का अर्थ होता है अन्यानवभास्यता, दूसरे किसी प्रकाश या भास से ब्रह्म का अवभास नहीं हुआ करता। यही इसकी स्वप्रकाशता है। वह विश्व का भासक है, इस रीति से स्वयं अपना भी भासक क्यों नहीं ? इसका उत्तर वेदान्त किया करता है कि अप्रकाशित, अनवभासित अनात्म वस्तु को अपने प्रकाश की अपेक्षा हुआ करती है, ब्रह्म अनभासित नहीं, अतः उसे अपने अवभास के लिए किसी प्रकाशक की आवश्यकता नहीं। यहाँ इस सन्देह का समुद्भूत हो जाना स्वाभाविक है कि यदि ब्रह्म अनावृत है, उसे किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं तब उसके ज्ञान के लिए मुमुक्षुओं की जिज्ञासा और उस जिज्ञासा के प्रशमन के लिए विस्तृत वेदान्त-विचार आदि की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। कोई भी शास्त्र विषय और प्रयोजन के बिना प्रवृत्त नहीं होता। अज्ञातब्रह्म विषय और ज्ञातब्रह्म प्रयोजन माना जाता है। यदि ब्रह्म कभी भी अज्ञात नहीं तब वेदान्त-विचार का विषय समाप्त हो जाता है और विचारशास्त्र के आरम्भ की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा गया है कि फलव्याप्यतारूप प्रकाश्यता ब्रह्म में अपेक्षित नहीं क्योंकि वह स्वप्रकाश है किन्तु वृत्तिव्याप्यता की अपेक्षा अवश्य होती है। साधनसम्पादन के पूर्व वृत्तिव्याप्यता न रहने के कारण उसे अज्ञात माना जाता है और अज्ञात ब्रह्म को अनावृत्त करने के प्रयत्न में वेदान्त-विचार आदि का उपयोग माना जाता है 'न तद्भासयते सूर्यः' इत्यादि वाक्य फलव्याप्यत्वभाव के ही प्रतिपादक माने जाते हैं। 'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्' आदि वाक्य वृत्ति की विषयता उसमें (ज्ञान में) बताते हैं। अतः फलव्याप्यत्वाभाव ही वेदान्त की स्वप्रकाशता है जिसका उपपादन सूत्र, भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों में किया गया है।

(६) अद्वैतवाद में भोक्तृभोग्य आदि की कल्पना

ब्रह्माद्वैतवाद पर द्वैतवाद का यह प्रबल आक्षेप रहा है कि जब सब कुछ ब्रह्म है तब भोक्ता, और भोग की उपपत्ति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्' (२।१।१३)। भामतीकार ने सूत्र का

दृष्टान्त देकर इन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है।

(७) चेतन की प्रतिबिम्बरूपता

प्रतिबिम्बवाद को छोड़कर वाचस्पति ने अवच्छेदवाद को मानते हुए यह सिद्ध कि नीरूप चेतन का प्रतिबिम्ब अयुक्त और अप्रामाणिक है। वाचस्पति के इस कथन का निराकरण करने के लिए मधुसूदन सरस्वती ने प्रतिबिम्बवाद में प्रमाण का उपन्यास किया है, यह सूचित करते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती कहते हैं—"अतएव वाचस्पतिमते तन्न स्वीक्रियते इति श्रुतेरेव तत्र मानतां वक्तुं किं प्रमाणमिति।"[१२५] 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठो० २।२।६) आदि श्रुतियों के आधार पर प्रतिबिम्बवाद की उपादेयता बताई जाती है। किन्तु वाचस्पति के मत में श्रुतिगत प्रतिरूप शब्द का प्रतिबिम्ब न होकर वैसे ही अनवच्छिन्न स्वभाव आत्मा के विपरीत अवच्छिन्नरूपता किया जाता है, जैसेकि प्रत्यगात्मा आदि शब्दों के द्वारा कर्त्तृत्व आदि रहित आत्मा के विपरीत कर्त्तृत्वादि-विशिष्ट आत्मा का प्रतिपादन किया जाता है, जैसाकि वाचस्पति ने कहा है—"अशक्य-निर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयमञ्चति जानातीति प्रत्यङ्, स चात्मेति प्रत्यगात्मा……।"[१२६]

(८) अन्तःकरणवृत्ति का प्रयोजन

विभिन्न मतों में अन्तःकरणवृत्ति के पृथक्-पृथक् प्रयोजन बताए गए हैं। वाचस्पत्य-मत-सिद्धप्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—"वाचस्पतिमते च वृत्यादौ चित्प्रतिबिम्बास्वीकाराद् आवरणभङ्गार्थत्वमेव वृत्तेः स्वी-क्रियते, न तु प्रतिबिम्बघटितोपरागार्थत्वम्। यदि च वाचस्पतिमतेऽपि चिदुपरागो वृत्तेः प्रयोजनम् अन्यथा तन्मते मूलवाज्ञानस्वीकारे त्वावरणभङ्गस्य प्रयोजनत्वसम्भवेऽपि तदस्वीकारपक्षे प्रयोजनाभावात्, तदा विषयावच्छिन्नचिति जीवचितोभेदनाश एव प्रयोजनम्, वृत्तेरिति वाच्यम्, सोऽयं वृत्तेरभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वपक्षः।"[१२७] अवच्छेदवाद में मुख्य रूप से दो मत प्रचलित हैं, एक मायावच्छिन्न चेतन को जगत् का उपादान कारण मानते हैं। दूसरा मत वाचस्पति मिश्र का है। पहले मत में अन्तःकरण की वृत्ति के घटा-कार होने का प्रयोजन माना जाता है--अधिष्ठान चैतन्य के साथ जीव का उपराग अर्थात् घटादि का अधिष्ठान चैतन्य घटादि का प्रकाशक होता है। जीव का वृत्ति के द्वारा विषय-प्रकाशक अधिष्ठान चैतन्य के साथ अभेद हो जाने पर जीव को घटादि का अनुभव होता है। किन्तु वाचस्पति के मत में जीव को जगत् का उपादान कारण माना है। अतः वृत्ति का वह प्रयोजन नहीं रह जाता। केवल आवरण भंग करने के लिए वृत्ति की आवश्यकता होती है। घटाकारवृत्ति में घटाकारवृत्ति से अभिव्यक्त अथवा अनावृत होकर जीव चैतन्य घटादि का भासक माना जाता है। अतः इस मत में वृत्ति-प्रयोजन आवरण-भंग या चैतन्याभिव्यक्ति है।

(९) जीवाश्रित अविद्या से जन्य प्रपंच

जैसाकि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि वाचस्पति मिश्र ने जीव के भेद

से जीवाश्रित अविद्या का भेद माना है। प्रपंच उस अविद्या से जन्य होने पर भी ईश्वर की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र अविद्या जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती। जिस प्रकार शुक्ति-विषयक अज्ञान जीवाश्रित होकर शुक्ति में रजत का उत्पादक माना जाता है। प्रपंच-सृष्टि में जीव उपादान कारण है और ईश्वर निमित्तकारण। ईश्वर जीवाश्रित अविद्या का विषय माना जाता है। ज्ञान के समान अज्ञान भी नियमतः सविषयक होता है। अतः ईश्वर के न होने पर अज्ञान का विषय और कोई नहीं हो सकता तथा निमित्तकारण कुलालादि के बिना जैसे घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार ईश्वररूप निमित्त-कारण के न होने पर जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वराश्रित अविद्या जगत् का का कारण है, इस प्रकार की प्रसिद्धि विषयता-सम्बन्ध से अज्ञान की अधिकरणता ईश्वर में मानकर संगत की जा सकती है।

वाचस्पति मिश्र के इस मत का उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने किया है जिसकी चर्चा पीछे आ चुकी है। ब्रह्मानन्द सरस्वती का कहना यह है कि उपादान कारण अपने आश्रय में कार्य का जनक होता है, जैसे मृत्तिका अपने आश्रयभूत चक्र पर घटादि को उत्पन्न किया करती है, किन्तु जीव के आश्रित रहने वाली अविद्या ईश्वर में जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि ईश्वर उसका आश्रय नहीं माना जा सकता। अतः ईश्वराश्रित माया को ही जगत् का परिणामी उपादान कारण मानना होगा और ब्रह्म को उसके द्वारा विवर्तोपादानताकारण। इस प्रकार ब्रह्म के आश्रित माया ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत् को वैसे ही उत्पन्न कर देती है जैसे कि चक्राश्रित मृत्तिका चक्र पर घट आदि को उत्पन्न किया करती है। वाचस्पति के वक्तव्य का तात्पर्य इसमें ही मानना होगा।

यद्यपि इस विषय पर पहले भी विचार किया जा चुका है किन्तु यहाँ कुछ विस्तार से इस समस्या पर विचार करना आवश्यक है। यहाँ पर विचारणीय है कि यदि उपादान कारण अपने आश्रय में ही कार्य को जन्म देता है, तब जीवाश्रित शुक्तिविषयक अज्ञान जीव में रजत को जन्म देगा, शुक्ति में नहीं। इसी प्रकार दर्शकों का अज्ञान दर्शक के आश्रित माया हस्ती आदि का निर्माण करेगा, मायावी में नहीं, किन्तु अनुभव इसके विपरीत देखा जाता है। अतः लौकिक मृत्तिका आदि उपादान कारण की अपेक्षा अज्ञान की विलक्षणता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी। मृत्तिका अपने आश्रय में घटादि को जन्म देकर उनमें विपरीत भाव को उत्पन्न नहीं किया करती किन्तु अज्ञान जलप्रति-बिम्बित वृक्ष के विपरीत आकार के समान सत्तागत घटादि की सत्ता का आश्रय बना दिया करता है। इसी प्रकार अज्ञान अपने आश्रयजीव में प्रपंच को उत्पन्न न कर अपने विषय-भूत ईश्वर में सृष्टि की रचना करता है, तब इसमें आश्चर्य क्यों? कथित अनुभवों के आधार पर अज्ञानविषयता को ही उपादानकारणता का अवच्छेदक मानना होगा। इस प्रकार जो लोग एक ही चेतन को अज्ञान का विषय और आश्रय मानते हैं, उन्हें भी अज्ञाना-श्रयता को चेतननिष्ठ उपादानकारणता का अवच्छेदक न मानकर अज्ञानविषयता को ही नियामक मानना होगा। जैसे भाट्टसम्मत ज्ञान अपने विषयभूत घट आदि पर ज्ञातता को जन्म देता है, आश्रय में नहीं। ज्ञान का आश्रय आत्मा माना जाता है। आत्मा को घटादि

गत ज्ञातता का प्रत्यक्ष अवश्य होता है किन्तु उसका विषयभूत ज्ञाततारूप कार्य घट पर ही उत्पन्न होता है। उसके साथ ज्ञान का सामानाधिकरण्य विषयतासम्बन्ध से ही घटाया जाता है। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से अपनी आश्रयभूत वस्तु में भी अज्ञान रजतादि कार्य को जन्म दिया करता है। ज्ञान के लिए यदि कोई ऐसा नियम बनाना चाहे कि वह अपने विषय में ही कार्य को उत्पन्न करता है तो वह नियम भी असंगत होगा, क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न इच्छा आत्मा में ही रहा करती है जोकि ज्ञान का आश्रय माना जाता है। केवल असमवायी कारण के लिए वैशेषिक दर्शन समानाधिकरणकार्योत्पत्ति का नियम स्वीकार करता हुआ भी समवायी कारण और निमित्त कारण के लिए वैसा नियम नहीं मानता क्योंकि तन्तु जैसे समवायी कारण अपने में ही उत्पन्न किया करते हैं। कपाल से उत्पन्न घट कपाल के ही आश्रित माना जाता है, कपालिकाओं के आश्रित नहीं। अदृष्ट आदि निमित्तकारण आत्मा में रह करके भी कार्यमात्र के जनक माने जाते हैं, चाहे वह कार्य आत्मा के आश्रित हो अथवा अनाश्रित। वैशेषिकप्रक्रिया के अनुसार द्रव्य को ही समवायी कारण माना जाता है। अज्ञान को यदि द्रव्य मान भी लिया जाए तो सर्प आदि की उत्पत्ति अज्ञान में होनी चाहिए रज्जु में नहीं। दुग्ध का विकार दधि दुग्ध के ही आश्रित माना जाता है, दुग्ध के समानाधिकरण नहीं। वैसे तो वेदान्त-सिद्धान्त माया से समस्त प्रपंच की उत्पत्ति मान लेता है। वह माया किसी कार्य का समवायी कारण, किसी का असमवायी कारण और किसी का निमित्त कारण हुआ करती है। कारण वस्तु के एक होने पर भी समवायिकारणता आदि के आकार भिन्न-भिन्न मानने पड़ते हैं। सभी आकारों को ध्यान में रखते हुए कार्य-कारण के सामानाधिकरण्य का नियम गहन-सा प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र इस तथ्य से भली-भाँति परिचित और प्रभावित थे। अतः अज्ञानजन्य कार्य के लिए विषय, विधेय या ईश्वर की अपेक्षा बताई है। उनका आशय यह है कि विषयता-सम्बन्ध से अज्ञान का आश्रय ईश्वर होता है। उसी में प्रपंच की उत्पत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। किसी भी वस्तु का सभी सम्बन्धों से कोई आश्रय नहीं होता किन्तु भिन्न-भिन्न सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न आश्रय माने जाते हैं। ब्रह्मानन्द सरस्वती वाचस्पति की इस सूक्ष्म तार्किक मनीषा, इस मार्ग से सुपरिचित हैं। किन्तु उनका प्रयत्न वेदान्त की प्राचीन और अर्वाचीन धाराओं का अन्तर कम करने की दिशा में रहा है। उनकी यह मान्यता अत्यन्त सत्य है कि पुरातन सिद्धान्तों की सुदृढ़ भूमि नूतन निरूपण-पद्धति से कहीं-कहीं दूर होती-सी प्रतीत होती है, उसी के कारण अवान्तर मत-भेदों का जन्म हो जाया करता है। कुछ विघटनवादी मनोवृत्तियाँ उनकी केवल दूरता ही नहीं बढ़ाती अपितु मध्यवर्ती भाषा और भावना दोनों को विषाक्त-सा बना दिया करती है। किन्तु ब्रह्मानन्द सरस्वती जैसा समन्वयवादी विद्वान् सदैव इस दिशा में सचेष्ट रहा है कि भाष्यकार श्री शंकराचार्य के सिद्धान्तों से टीकाकार दूर न होने पायें। आपाततः विद्वानों की निरूपण-पद्धतियों में प्रतीयमान अन्तर दोषाधायक नहीं माना जाता, क्योंकि उनका उद्देश्य एकमात्र प्रत्यक्तत्त्व का बोध कराना होता है।[१२८] यह आवश्यक नहीं कि वह उद्देश्य एक ही मार्ग से सिद्ध किया जाए। उस एक गन्तव्य तक

पहुँचने वाले सभी मार्ग वैध और उपादेय माने गए हैं, जैसाकि वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है —

> यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
> सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता ॥[१२६]

अर्थात् जिस जिस प्रक्रिया से प्रत्यगात्मा का बोध हुआ करता है, वह सभी प्रक्रिया उचित मानी जाती है। उन प्रक्रियाओं का एक रूप में अवस्थित होना आवश्यक नहीं, केवल उनका उद्देश्य एक होना चाहिए।

(१०) स्मृतिज्ञान की प्रमाणता

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु में कहा है—"सर्वप्रमाणानां चाज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रामाण्यात्। अन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तिरिति।"[१३०] ब्रह्मानन्द सरस्वती ने इसकी व्याख्या में ज्ञातज्ञापकस्मृति की अप्रमाणता दिखाते हुए वाचस्पति मिश्र का उद्धरण दिया है—"गृहीतग्रहणस्वभावा स्मृतिरित्यध्यासलक्षणे वाचस्पत्युक्तेः।"[१३१] वाचस्पति मिश्र ने अख्यातिवाद-प्रदर्शन के अवसर पर कहा है—"सा च गृहीतग्रहणस्वभावापि···"[१३२] अर्थात् स्मृतिज्ञान का स्वभाव है पूर्वज्ञात विषय को प्रकाशित करना। पूर्वज्ञात विषय प्रमाज्ञान के द्वारा भी प्रकाशित हो सकता है और भ्रमज्ञान के द्वारा भी। भ्रमज्ञान से प्रकाशित वस्तु को प्रकाशित करने वाली स्मृति भी वेदान्त-सिद्धान्त में प्रमाण नहीं मानी जाती क्योंकि वेदान्त में प्रमाण का मुख्य लक्षण माना गया है—अप्रकाशित वस्तु का प्रकाश करना।[१३३] कोई प्रमाणज्ञान किसी वस्तु का प्रकाश करके मानव की प्रवृत्ति में विशेषता लाया करता है। प्रकाशित वस्तु का प्रकाश करना अनुवादक शब्द के समान प्रवृत्ति-विशेष में सहयोग प्रदान नहीं कर सकता। स्मृतिज्ञान भी इसी कोटि में आ जाने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता। तार्किकगण सन्देह किया करते हैं कि जहाँ पर मनुष्य को पूर्वानुभूत स्नान, पान आदि का स्मरण आता है, तत्काल मनुष्य उसमें प्रवृत्त हो जाता है। अतः प्रवृत्ति-विशेष में सहयोगी होने के कारण स्मृतिज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए। वेदान्ती इस सन्देह का समाधान किया करते हैं कि पूर्वानुभव के द्वारा प्रकाशित स्नानादि की भावी प्रवृत्ति का बोध हो जाया करता है। उसका स्मरण दिलाना न तो अज्ञातज्ञापन है और न अप्रवृत्त-प्रवर्तन। मीमांसकों ने स्मृति को भी धर्म में वैसे ही प्रमाण माना है जैसे श्रुति। वहाँ भी जिस धर्म के बोधक श्रुतिवाक्य उपलब्ध होते हैं उस धर्म में स्मृति प्रमाण नहीं माना गया अपितु जिनके इस समय श्रुतिवाक्य उपलब्ध नहीं होते, ऐसे अष्टकादि धर्मों में ही स्मृतिवाक्य को तब तक प्रमाण माना गया है जब तक कि उनके प्रत्यक्ष उपलम्भक श्रुतिवाक्य उपलब्ध न हों। मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रमेय धर्म है। उसका अनुभव न होकर श्रुतियों और स्मृतियों से ही अवबोध माना जाता है। उस अवबोध के आधार पर ही उनमें प्रवृत्ति बन जाती है। किन्तु वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रमेय ब्रह्म माना जाता है। उस ब्रह्म का साक्षात्कार या दर्शन होना परमावश्यक है। केवल उसके स्मरण से विशेष फल नहीं हुआ करते। व्यावहारिक क्षेत्र में

स्मृति का उपयोग होने पर भी उसकी प्रमाणता अनिवार्य नहीं होती। ऐसे तो संवादी भ्रम भी सफल प्रवृत्ति को जन्म दे डाला करता है। इतने मात्र से उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता। वेदान्त-सिद्धान्त में स्मृति की अप्रमाणता का यही रहस्य है।

७. महादेव सरस्वती (१७०० ई०)

श्री महादेव सरस्वती ने अद्वैतवेदान्त पर 'तत्त्वानुसन्धान' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस पर 'अद्वैतकौस्तुभ' नाम की उनकी स्वोपज्ञ टीका भी है। अपनी इस रचना में महादेव सरस्वती ने आचार्य वाचस्पति के मत का कई स्थानों पर उल्लेख किया है—

(१) विवरणप्रस्थान के अनुयायी मन को इन्द्रिय नहीं मानते। वे इस विषय में 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' (काठ० १।३।१०) इत्यादि श्रुतियों में इन्द्रियों से भिन्न उल्लेख को प्रमाण रूप से उपन्यस्त करते हैं। 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' (गी० १५।७) इत्यादि वचनों में 'यजमानपंचमा ऋत्विज इडां भक्षयन्ति' के सदृश मानते हैं। अर्थात् जैसे यजमान के ऋत्विक् न होने पर भी ऋत्विग्भिन्न यजमान के द्वारा पंचत्व संख्या की पूर्ति मानी जाती है, उसी प्रकार 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' भगवद्गीता के इस वचन में अनिन्द्रिय मन के द्वारा भी इन्द्रियों की षट्त्वसंख्या की पूर्ति माननी चाहिए।

किन्तु वाचस्पति मिश्र 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इस स्मार्तप्रमाण के आधार पर मन को इन्द्रिय मानते हैं। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्यादि कठ श्रुति में मन का इन्द्रियों से पृथक् प्रतिपादन गोबलीवर्दन्याय से किया गया है। अर्थात् बलीवर्द के गो होने पर भी उसका गो से पृथक् कथन उसकी प्रमुखता को लेकर किया गया है, उसी प्रकार मन के इन्द्रिय होने पर भी इन्द्रियों से पृथक् ग्रहण मन की अन्तरिन्द्रियता तथा त्रैकाल्य-गोचरता-रूप विशेषता को लेकर किया गया है। मन को इन्द्रिय मानने पर जीवब्रह्मैक्य प्रत्यक्ष में क्लृप्त इन्द्रियत्व की कारणता को छोड़कर शब्द की पृथक् कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ती—यह लाघव भी है। अतः मन को इन्द्रिय मानना चाहिए। वाचस्पति के इस मत का उल्लेख तत्त्वानुसन्धानकार ने प्रत्यक्ष प्रमा का प्रतिपादन करते हुए 'अन्तरिन्द्रियं मनः आन्तरप्रमाकरणमिति वाचस्पतिमिश्राः'[१३४]—इस प्रकार से किया है।

(२) **त्रिवृत्करण**—आचार्य वाचस्पति मिश्र, जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के आधार पर त्रिवृत्करण प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। उनके इस मत का उल्लेख महादेव सरस्वती ने इस प्रकार किया है—"त्रिवृत्करणेनापि सर्वव्यवहारोपपत्तेरित्याशङ्क्याह तासामिति। तासां पृथिव्यप्तेजोरूपाणां मध्ये एकैकां देवतां त्रिवृतं यथा भवति तथा करवाणि, एवं च प्रक्रिया पृथिव्यप्तेजसां त्रयाणां भूतानां मध्ये एकैकं भूतं द्विधा विभज्य तत्रापि एकं भागं द्विधा विभज्य स्वांशं परित्यज्येतरयोर्योजनीय त्रिवृत्करणम् एतदभिप्रायेण सूत्रकारोऽप्याह—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशादिति श्रुतिसूत्रप्रसिद्धत्वेन भूतानां त्रिवृत्करणमेव न पंचीकरणमिति वाचस्पतिमिश्राः।"[१३५]

(३) **पदशक्ति**—वेदान्ती पदों की शक्ति कार्यान्वित पदार्थ में न मानकर लाघ-

जात् इतरान्वित पदार्थ में मानते हैं। यद्यपि मीमांसकों का यह कहना है कि शक्तिज्ञान व्यवहार से होता है और व्यवहार प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप हेतु होता है। कार्यताज्ञान न होने पर प्रवृत्ति के न होने से शक्तिग्रह नहीं होगा, तथापि वेदान्त का यह अभिमत है कि 'पुत्रस्ते जातः'—इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर पुत्रोत्पत्तिरूप सिद्धार्थवस्तु के ज्ञान से श्री मुखविकरण के द्वारा हर्ष का अनुमान होता है और वह हर्ष ज्ञानजन्य है। ज्ञान के पश्चात् ही हर्ष हुआ है, अतः उसमें ज्ञानजन्यता का अनुमान होता है। इस अनुमान के बाद वह ज्ञान वाक्यजनक है क्योंकि वाक्योच्चारण के अनन्तर ही ज्ञान हुआ है, पूर्व नहीं। अतः इस अनुमान के द्वारा 'पुत्र' पद की शक्ति जनिमत् पिण्ड में है, यह निश्चय हो जाता है। इसमें कार्यताज्ञान की आवश्यकता नहीं। इस बात को वाचस्पति मिश्र ने—

कार्यबोधे यथा चेष्टा लिंग हर्षादयस्तथा।
सिद्धबोधेऽर्थवत्त्वं शास्त्रत्वं हितशासनात्॥[१३६]

इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया है। 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' में वाचस्पति का यह कथन यथा-रूप में उल्लिखित है—

तदुक्त वाचस्पतिमिश्रैः—'कार्यबोधे यथाचेष्टा···हितशासनात्॥"[१३७]

इसी प्रकार महादेव सरस्वती ने, 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः···' में कोई विधि नहीं,[१३८] वाचस्पति के इस मत का तथा मन के इन्द्रियत्व का भी ससम्मान उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य वाचस्पति की विशिष्ट मान्यताएँ महादेव सरस्वती जैसे अर्वाचीन वेदान्ती की दृष्टि में उतनी ही उपयोगी हैं जितनी उनसे लगभग आठ शताब्दी पूर्व थीं।

आधुनिक हिन्दी भाषा में एक लोकोक्ति है—जादू वह जो सिर चढ़कर बोले अर्थात् जब किसी व्यक्ति के कथन या सिद्धान्तविशेष से विपक्षी भी प्रभावित हो जाए तथा उसे सादर स्वीकार कर ले तो समझना चाहिए कि उस कथन या सिद्धान्त का उद्-भावक व्यक्ति वस्तुतः तथ्यद्रष्टा है, उसके कथन कल्पना के खिलौने नहीं हैं। इस दृष्टि-कोण से जब हम वाचस्पति की 'भामती' को देखते हैं तो पाते हैं कि वेदान्तेतर ही नहीं अपितु वैदिकेतर दार्शनिक ग्रन्थों में उनकी उक्तियाँ अत्यल्प परिवर्तन के साथ, प्रत्युत कहीं-कहीं तो तत्सम शब्दावली में उपलब्ध होती हैं। एकादश शताब्दी[१३९] के एक लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्य हेमचन्द्रसूरि की रचना 'प्रमाणमीमांसा' के कुछ वाक्यों को उक्त कथन की पुष्टि के लिए प्रस्तुत कर इस विषय को विराम दिया जाता है।

(१) **भामती**—"अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवन्मगलं कुर्वन् मगलप्रयोजनो भवति, अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्।"[१४०]

प्रमाणमीमांसा—"अधिकारार्थस्य च अथशब्दस्यान्यार्थंनीयमानकुसुमदामजलकुम्भादेर्दर्शनमिव श्रवणं मगलायापि कल्पते।"[१४१]

(२) **भामती**—"पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः।"[१४२]

प्रमाण मीमांसा—"पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः"[१४३]

(३) भामती—"न हि जातु कश्चिदत्र संदिग्धेऽहं वा नाहं वेति ।"[१४४]

प्रमाणमीमांसा—"न खलु कश्चिदहमस्मि न वेति सन्दिग्धे ।"[१४५]

(४) भामती—"यद्युच्येत समर्थोऽपि क्रमवत्सहकारिसचिवः क्रमेण कार्याणि करोतीति"[१४६]

प्रमाणमीमांसा—"समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत् ।"[१४७]

'भामती' के ही नहीं अपितु 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' और 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' के भी वाक्य 'प्रमाणमीमांसा' में मिलते हैं, यथा

(१) सांख्यतत्त्वकौमुदी

"अप्रतिपित्सितं तु प्रतिपादयन् नायं लौकिको नापि परीक्षक इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत ।" —पृ० १०

प्रमाणमीमांसा—"अपि च अप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन्' 'नायं लौकिको न परीक्षकः' इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् ।" —पृ० ८०

(२) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका

"तदाऽस्मै कुप्यति गुरुः, आः शिष्यापसद छान्दसवत्सर माठर मामवधीरयसीति ब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किंचिदुच्यते कृतकत्वादिति वा यत् कृतकं तदनित्यमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानं, तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हति । यत्कृतकं तत् सर्वमनित्यं, यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्यसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेन्न, परस्पराश्रयत्वप्रसंगात् । अवधाने सत्यतोऽर्थनिश्चयस्तमाच्चावधानमिति न च परिषत्प्रतिवादिनो प्रमाणीकृतवादिनो यदेतद्वचनमनुसन्धाय प्रयतिष्येते तथा च सति न हेत्वाद्यपेक्षेतां, तद्वचनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षित उक्ते कुत इत्यपेक्षायां कृतकत्वादिति हेतुरुपतिष्ठते ।" —पृ० २७४-७५

प्रमाणमीमांसा—तदाऽस्मै कुप्यति भिक्षुः आः शिष्याभास, भिक्षुखेट, अस्मानवधीरयसीति ब्रुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इति विषयमनुपदर्श्य यदेव किंचिदुच्यते—कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वमस्यानपेक्षितमापाततो सम्बद्धाभिधानबुद्ध्या, तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति । यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेत्, न, परस्पराश्रयात् । अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति । न च परिषत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ यदेतद्वचनसम्बन्धाय प्रयतिष्यते । तथा सति न हेत्वाद्यपेक्षेयाताम्, तद्वचनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षिते उक्ते कुत इत्याशंकायां, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वेत्युपतिष्ठते ।"[१४८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ अनेक प्रकांड पण्डितों ने 'भामती' की व्याख्या-

पद्व्याख्यापरम्परा में स्वयं को जोड़कर सम्मान एवं गौरव का अनुभव किया है वहाँ शंकर के वाचस्पतिपरवर्ती व्याख्याकारों ने उससे बहुमूल्य प्रकाश प्राप्त किया है। इतना ही क्यों, अद्वैतवेदान्त के परवर्ती प्रकरणग्रन्थ-लेखकों ने अपनी रचनाओं में 'भामती' के व्याख्यानों को सुप्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक सिद्धान्तों के रूप में उद्धृत करना आवश्यक समझा है। ये तीनों बातें दर्शन के विद्यार्थी को इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य कर देती हैं कि वाचस्पति मिश्र की 'भामती' को शांकरवेदान्त के प्रति एक स्थायी और प्रतिष्ठित देन के रूप में देखा जाना चाहिए।

सन्दर्भ

१. निरुक्त, अमृतसर संस्करण, संवत् २०२१
२. ऋग्वेद १०।६।७१।७, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९७३
३. Catalogus Catalogurum.
४. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 108
५. Ibid, p. 52
६. वेदान्तकल्पतरु, प्रारम्भिक श्लोक संख्या, ८, ९, १०
७. "ज्ञातुं न पारं प्रभवन्ति तस्मिन् कृष्णक्षितीशे भुवनैकवीरे।
भ्राता महादेवनृपेण साकं पाति क्षितिं प्रागिव धर्मसूनौ॥"
—वेदान्तकल्पतरु, अन्तिम श्लोक संख्या ६-७
८. A History of South India, p. 219
९. "कीर्त्या यादववंशमुन्नमयति श्रीजैत्रदेवात्मजे कृष्णे......"
—वेदान्तकल्पतरु, प्रारम्भिक श्लोक संख्या, १३
१०. अमलानन्द के स्पष्ट उल्लेख से स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती (वेदान्तदर्शनेर इतिहास पृ० ५५२, बंगला संस्करण) की यह मान्यता ध्वस्त हो जाती है कि कृष्ण व रामचन्द्र अभिन्न थे, एक ही व्यक्ति के दो नाम थे।
११. Early History of India, p. 393
१२. वेदान्तकल्पतरु, ३।३।२६, पृ० ८०६
१३. वही, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ११
१४. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 219
१५. कल्पतरुपरिमल, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ३
१६. वही, श्लोक संख्या ४
१७. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 108
१८. आभोग, अन्तिम से पहला श्लोक, मद्रास गवर्नमेंट संस्करण
१९. जैसे 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग......' (ब्र० सू० २।१।१) सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि 'कपिल' शब्द सामान्य मात्र से 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं' (श्वे० ५।२)—इस श्रुति में सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिल का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस पर भामतीकार ने

'स्यादेतत् कपिल एव श्रौतो नान्ये मन्वादयः' (भाम० पृ० ४३५) अर्थात् कपिल ही श्रुतिप्रतिपादित होने से श्रौत है और मन्वादि नहीं, यह शंका की है किन्तु उसका आशय साधारण पाठक को स्पष्ट नहीं होता तथा इसका स्पष्टीकरण कल्पतरुकार ने भी नहीं किया है। वहाँ आभोगकार 'भामती' का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भाष्य में सांख्यप्रणेता कपिल से भिन्न सगरपुत्रदाहक कपिल का ही उक्त श्वेताश्वतर श्रुति में प्रतिपादन है तथा इस पर आचार्य वाचस्पति कहते हैं कि सांख्यप्रणेता कपिल को ही सगरपुत्रों का दाहक मानकर दोनों को एक मान लेना चाहिए। सगरपुत्रदाहक कपिल के समान सांख्यप्रणेता कपिल को भी 'कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया' (भाम० ३।२५।१) इस भागवत वचन में परमेश्वर बतलाया ही गया है। दोनों के अभिन्न होने से 'ऋषिं प्रसूतं' यह श्रुति सांख्यप्रणेता कपिल को ही ज्ञानातिशययुक्त सिद्ध करती है। अतः सांख्यस्मृति के श्रौत होने से सांख्यस्मृतिविरुद्ध मन्वादिस्मृतियों को ही अप्रामाणिक मानना चाहिए, यह अभिप्राय है।

इसी प्रकार अनेकत्र 'भामती' के आशय का उद्घाटन करने में आभोगकार सचेष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। कल्पतरु के तो वे व्याख्याता ही हैं, उसका स्पष्टीकरण तो उनका मुख्य कर्त्तव्य है।

२०. आभोग, अन्तिम श्लोकावली से

२१. "श्रीमान् श्रीनलगन्तुवंशजनितः श्री कालहस्त्यध्वरी।
यज्ञाम्बा च यमात्मजं प्रसुषुवे श्री रंगनाथाभिधम्॥
सोऽयं सम्प्रति साधनोज्ज्वलमनाः प्राग्जन्मपुण्योदयात्।
प्राप्याखण्डयतीशतामनुभवत्यार्यादिखण्डां मुदम्॥"

—ऋजुप्रकाशिका, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ४,
मैट्रोपोलिटन प्रेस, कलकत्ता, १९३३

२२. 'रत्नकोश' नाम के कई ग्रन्थ दर्शन-साहित्य में है यथा—वैशेषिक का 'रत्नकोश', वेदान्त का 'अद्वैतरत्नकोश' तथा जैनों का 'प्रमेयरत्नकोश'। (द्र० A History of Indian Logic, p. 406)। श्री अखण्डानन्दयतिराट् ने किस पर व्याख्या लिखी है, यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अधिक सम्भावना इसी बात की है कि 'अद्वैतरत्नकोश' पर ही उक्त व्याख्या रही होगी।

२३. "यद्यपि वस्तुतोऽहंकारातिरिक्त आत्मन्यहंकाराद् भेदाग्रहादात्मन्यहंकारतादात्म्याध्यासो युक्तः, अतएव अहंकारादिगतकर्तृत्वादिधर्माध्यासोऽप्यात्मनि सुतरां युक्तः, तथाप्यहंकारातिरिक्तात्मनि प्रमाणं नास्ति। यद्यस्ति, तर्हि वक्तव्यम्—किं प्रत्यक्षं प्रमाणम्? अनुमानम्? आगमो वा? नाद्यः, 'अहमि' त्यात्मनोऽहंकारात्मतयैवानुभवात्, न द्वितीयः, तद्व्याप्तिलिंगाभावात्, न तृतीयः, आगमस्य सत्त्वेऽप्यात्मनोऽहंकारात्मत्वानुभवविरोधेन तस्योपचरितार्थत्वकल्पनाया एवोचितत्वादित्यभिसन्धिः।"

—ऋजुप्रकाशिका, अध्यासभाष्य, पृ० ९७

२४. ऋजुप्रकाशिका, प्रारम्भिक श्लोक संख्या ६

२५. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 124

२६. इनका अपरनाम आनन्दज्ञान भी है।
    (द्र० A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 124)
२७. भामती, २।२।२१
२८. न्यायनिर्णय, २।२।२१
२९. शांकरभाष्य, २।२।२८
३०. भामती, २।२।२८
३१. न्यायनिर्णय, २।२।२८
३२. शांकरभाष्य, २।२।२८
३३. भामती, २।२।२८
३४. न्यायनिर्णय, २।२।२८
३५. भामती, २।२।२८
३६. न्यायनिर्णय, २।२।२८
३७. शांकरभाष्य, २।२।३२
३८. भामती, २।२।३२
३९. न्यायनिर्णय, २।२।३२
४०. भामती, २।२।३३
४१. न्यायनिर्णय, २।२।३३
४२. भामती, ३।१।१
४३. न्यायनिर्णय, ३।१।१
४४. भामती, ३।३।१५
४५. न्यायनिर्णय, ३।३।१५
४६. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 103
४७. Ibid, p. 104
४८. "तस्मादागमवाक्यैरापातत: प्रतिपन्नाधिकार्यादिनिर्णयार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्। तदुक्तं प्रकाशात्मश्रीचरणै:—"अधिकार्यादीनामागमिकत्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्र' इति। येषां मते श्रवणे विधिर्नास्ति तेषामविहितश्रवणेऽधिकार्यादिनिर्णयानपेक्षणात् सूत्रं व्यर्थमित्यापततीत्यलं प्रसंगेन।" —रत्नप्रभा, १।१।१
४९. भामती, प्रारम्भिक श्लोक सं० ७
५०. रत्नप्रभा, प्रारम्भिक श्लोक सं० ७
५१. शांकरभाष्य, अध्यास भाग
५२. "इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्। यथा ह्यहंकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकार:, एते वयमिमे वयमास्महे इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति।" —भामती, अध्यासभाष्य
५३. रत्नप्रभा, अध्यासभाष्य
५४. "यत्तु खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते तच्चेतनकर्तृकं दृष्टं, यथा घटादि। विवादाध्यासितं च जगन्नामरूपव्याकृतं, तस्माच्चेतनकर्तृकं संभाव्यते। चेतनो हि बुद्धा-

वालिख्य नामरूपे घट इति नाम्ना रूपेण च कम्बुग्रीवादिना बाह्यं घटं निष्पादयति। अतएव घटस्य निर्वर्त्यस्याप्यन्तः संकल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकभावो घटं करोतीति···" इत्यादि पंक्तियाँ। —भामती, १।१।२

५५. रत्नप्रभा, १।१।२

५६. "यदापि द्वे द्वे द्व्यणुके इति पठितव्ये प्रमादादेकं द्वे पदं न पठितम्। एवं चतुरणुकमित्याद्युपपद्यते।" —भामती, २।२।११

५७. रत्नप्रभा, २।२।११

५८. भामती, २।२।११

५९. वही, २।२।१९

६०. रत्नप्रभा, २।२।१९

६१. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 56

६२. भामती, १।१।१, पृ० ५५—५७

६३. ब्रह्मविद्याभरण, पृ० ४७

६४. शांकरभाष्य, ब्र० सू० १।१।१, पृ० ७०-७१

६५. भामती, १।१।१, पृ० ६१

६६. ब्रह्मविद्याभरण, पृ० ५३

६७. वही, पृ० ५४, ५८, ७४५

६८. वही, पृ० ३७८

६९. भामती, पृ० ६

७०. ब्रह्मविद्याभरण, पृ० ४

७१. भामती, पृ० ६

७२. ब्रह्मविद्याभरण, पृ० ४

७३. यथा—भाम०, पृ० ६६-६७, ब्रह्म०, पृ० ६०—६२, भाम०, पृ० ४६५-६६, ब्रह्म०, ४७०

७४. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 116

७५. न्यायमकरन्द, पृ० १७३, चौखम्बा संस्करण, १९०१

७६. वही, पृ० २६४

७७. वही, पृ० १४७, भाम० पृ० १०

७८. वही, पृ० १८२, भाम० पृ० ४०२

७९. प्रमाणमाला, पृ० १४, भाम०, पृ० ५

८०. सांख्यतत्त्वकौमुदी का आरम्भ वाक्य है—"इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम्।" भाव यह है कि किसी भी ग्रन्थकार को अपना ग्रन्थ आरम्भ करने से पहले यह सोच लेना चाहिए कि लोकबुभुत्सा का विषय क्या है? उसके अनुसार ही उसे पदार्थों का प्रतिपादन करना है।

८१. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १९९-२००

८२. तात्पर्यटीका, पृ० २७४-७५

८३. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० २२१

८४. वही, पृ० २२०

८५. वही: पृ० २२१, न्या० ता० टी०, पृ० १२

८६. वही, पृ० ५९८

८७. नयनप्रसादिनी, पृ० ५९८

८८. "न हि सारूप्यनिबन्धना: सर्वे विभ्रमा इति व्याप्तिरस्ति। असरूपादपि कामादे: कान्तालिंगनादिवित्र स्वप्नविभ्रमस्योपलम्भात्। किं च कादाचित्के विभ्रमे सारूप्यापेक्षा नानाद्यविद्यानिबन्धे प्रपंचे। तदवोचदाचार्यवाचस्पति:—विवर्तस्तु प्रपंचोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिन:। अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ इति। तदेतत् सर्वं वेदान्तशास्त्र-परिश्रमशालिनां सुगमं सुघटं च।"

—सर्वदर्शनसंग्रह, १६।५७—६३, पृ० ३६३

८९. भामती, पृ० १४

९०. "नन्वभिज्ञया भेदसिद्धिर्मा संभून्नाम। प्रत्यभिज्ञया तु सोऽहमित्येवंरूपया तत्सिद्धि: संभविष्यतीति चेन्न। विकल्पासहत्वात्। किमियं प्रत्यभिज्ञा पामराणां स्यात् परीक्षकाणां वा। नाद्य:। देहव्यतिरिक्तात्मैक्यमवगाहमानाया: प्रत्यभिज्ञाया अनुदयात्। प्रत्युत श्यामस्य लौहित्यवत्कारणविशेषादल्पस्यापि महापरिमाणत्वमविरुद्धमनुभवतां तद्देह एव तस्या: संभवाच्च। न द्वितीय: व्यवहारसमये पामरसाम्यानतिरेकात्। अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षज्ञानविनाश्यत्वानुपपत्तेश्च। यदुक्तं भगवता भाष्यकारेण—पश्वादिभिश्चाविशेषात् (ब्र० सू० १।१।१ भा०) इति। भामतीकारैरप्युक्तं शास्त्रचिन्तका: खल्वेवं विचारयन्ति न प्रतिपत्तार इति। तथा चात्मगोचरस्याध्यासात्मरूपत्वं सुस्थम्।" —सर्वदर्शनसंग्रह, १६।१९५—२०५, पृ० ४०९-१०

९१. "यच्चोक्तं स्वगोचरव्यभिचारे सर्वानाश्वासप्रसंग इति। तदसांप्रतम्। संविदां क्वचित्संवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि न सर्वत्र तच्छंकया प्रवृत्त्युच्छेद इति यथा तावके मते तथा मामकेऽप्यसौ पन्था न वारित इति समानयोगक्षेमत्वात्। तौतातिकमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणैराचार्यवाचस्पतिमिश्रै र्बोधकत्वेन स्वत:प्रामाण्यं नाव्यभिचारेणेति न्यायकणिकायां प्रत्यपादि। तस्मादविश्वासशंकानवकाशं लभते।"

—सर्वदर्शनसंग्रह, १६।५७५—८१, पृ० ४२८

९२. A History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 225

९३. अद्वैतसिद्धि, भाग २, पृ० १३

९४. भामती, पृ० १०

९५. अद्वैतसिद्धि, भाग ३, पृ० ७१-७२

९६. भामती, पृ० ४०

९७. अद्वैतसिद्धि, भाग २, पृ० १७०

९८. प्र० वा० ३।२२१ प्रमाणवार्तिक के इस पद्य में 'यत्नवत्त्वेऽपि' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है जिसका आशय होता है कि भूतार्थ स्वभाव का कभी बाध नहीं होता चाहे उसके बाध का कितना भी यत्न किया जाए।

९९. सिद्धान्तबिन्दु, पृ० २२७—३२
१००. वाक्यसुधा, पृ० २४-२५
१०१. न्यायरत्नावली, पृ० २३२
१०२. अद्वैतरत्नरक्षणम्, पृ० ४५, निर्णयसागर, बम्बई, १९१७
१०३. वेदान्तपरिभाषा, पृ० ३३४, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता
१०४. "अन्येषान्त्वेवमाशय:। करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्। न विषयविशेषनिबन्धतम्। एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयो: प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवहारदर्शनात्। तथा च संवित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वम्। ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मननिदिध्यासनसंस्कृतं मन एव करणम्। मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतेः। मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया। न चैवं ब्रह्मण औपनिषदत्वानुपपत्तिः। अस्मदुक्तमनसो वेद-जन्यज्ञानानन्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात् वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वस्यैव वेदगम्यत्वविरोधात्। शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयकमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्। अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा। शास्त्रदृष्टिर्मता तान्तु वेत्ति वाचस्पति: परमिति।" —वेदान्त०, पृ० ३३७—४०
१०५. "सूचितं चैतद् विवरणाचार्यैः। शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणम्भवति। प्रमाणस्य प्रमेयावगमम्प्रत्यव्यवधानात्। मनननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितकारणस्य शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनननिदिध्यासने तदङ्गे अंगीक्रियेते।" इति।
—वेदान्त०, पृ० ३५१-५२
१०६. भामती, पृ० ८९८
१०७. "तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम्। ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणै निगूढामित्यादिश्रुतेः। निदिध्यासने च मननं हेतुः। अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषयकनिदिध्यासनायोगात्। मनने च श्रवणं हेतुः श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानाभावेन श्रुतार्थविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात्। एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीति केचिदाचार्या ऊचिरे।" —वेदान्त०, पृ० ३४४-४५
१०८. तदुक्तमाचार्य वाचस्पतिमिश्रैः—

उपासनादिसंसिद्धितोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति।

—वेदान्त०, पृ० ३६६

नोट—निर्णयसागर संस्करण में 'उपासनादिसंसिद्धि' पाठ के स्थान पर 'विद्याकर्मस्वनुष्ठान' पाठ है। —भामती, पृ० ८१६
१०९. भामती, पृ० ५१६, २।२।१६
११०. गुरुचन्द्रिका, पृ० २९

१११. बौद्धगण दो प्रकार की सत्यता मानते हैं—(१) संवृतिसत्यता और परमार्थ-सत्यता, जैसाकि नागार्जुन ने कहा है—

"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोके संवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥"

—माध्यमिक कारिका २४।८

इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"सत्यं चेत् संवृत्तिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥६॥
सत्यत्वं न तु सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्न हि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्ष-सिंहयोः ॥७॥

—मीमांसा, श्लोकवार्त्तिक, पृ० १९६

अर्थात् सत्य सत्य और मिथ्यासत्य जैसी विरुद्ध उक्तियाँ व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के वाद में भी उपलब्ध होती हैं किन्तु अपने वक्तव्य में किसी व्यक्ति को भी विरोध-प्रतिभान नहीं होता जैसे कि दूसरे के वक्तव्य में। भास्कर का भेदाभेदपक्ष विरोधपूर्ण और अनर्गल-सा अवश्य प्रतीत होता है किन्तु 'भेद-सहिष्णुरभेदः' शब्दों में किसी प्रकार का विरोध प्रतीत नहीं होता। वेदान्तजगत् की ऐसी उलझनों में यदि कोई सावधान वेदान्ती रहा है तो केवल वाचस्पति मिश्र। उनकी बहुश्रुत और व्यापक वैदुष्य-समन्वित मनीषा सभी कहीं सावधान रही, अप्रमत्त रही। न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका के पृष्ठों पर अनिर्वचनीयख्याति की आलोचना के समय वाचस्पति प्रशान्त महासागर के समान संक्षिप्त, गम्भीर कुछ पदों का प्रयोग मात्र करते हैं किन्तु उदयन का हृदय उबल जाता है और मुख से बहुत कुछ निकल जाता है। इसका कारण भी यही है कि उदयन को न्यायपक्ष पर विशेष आग्रह था। किन्तु वाचस्पति मिश्र कहीं पर भी आग्रह या असंगत आवेश को अपनाते नहीं देखे जाते। स्थान-स्थान पर उनके मुख से 'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः' जैसे धर्मकीर्ति के शब्द प्रस्फुटित हो उठते हैं। अनिर्वचनीयता-वाद की पद्धति पर उनकी पहले से ही अगाध श्रद्धा प्रतीत होती है। 'भामती' में आकर उस वाद को जितना सुदृढ़, विस्तृत कलेवर वाचस्पति मिश्र ने प्रदान किया उस स्तर पर किसी अन्य वेदान्ताचार्य की देन प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। वैशेषिकों की आलोचना में भी जो कुछ कहा गया है, दृष्टिभेद से विरोधी धर्मों का समन्वय कटककुण्डलादि पदार्थों की सुवर्णरूपता दिखाकर करते चले आए हैं।

११२. भामती, पृ० ५३८

* द्र० भामती, १।३।३३

११३. गुरुचन्द्रिका, पृ० ५०

११४. न्यायरत्नावली (सिद्धान्तबिन्दु टीका), पृ० ११०

११५. भामती, २।२।३१, पृ० ५५७

११६. गुरुचन्द्रिका, भाग प्रथम, पृ० ३१२

११७. वही, पृ० ३४

११८. वही पृ० ३५-३६
११९. गीता, १५।६
१२०. वही, १५।१२
१२१. भामती, पृ० ३१३
१२२. गुरुचन्द्रिका, भाग द्वितीय, पृ० १२८
१२३. भामती, पृ० ४५३, २।१।१३
१२४. गुरुचन्द्रिका, भाग द्वितीय, पृ० २०४
१२५. न्यायरत्नावली, पृ० १५५
१२६. भामती, पृ० ३७
१२७. न्यायरत्नावली, पृ० १८४
१२८. "नानाविधैरागममार्गभेदैरादिश्यमाना बहवोऽभ्युपायाः ।
एकत्र ते श्रेयसि संतपन्ति सिन्धौ प्रवाहा इव जाह्नवीयाः ।।"
—आगमडंबरम्, ४।५४

कालिदास ने भी कहा है—
"बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।।"
—रघुवंश १०।२६

महिम्नस्तोत्र में तो स्पष्टतः ही सभी दर्शनों की प्राप्यस्थली वही एक परमतत्व है, ऐसा कहा गया है—
"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।"
—महिम्न स्तोत्रम्, श्लोक ७

१२९. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, १।४।४०२
१३०. सिद्धान्तबिन्दु, पृ० २४६—५५
१३१. न्यायरत्नावली, पृ० २४७
१३२. भामती, पृ० २७
१३३. (अ) "अनधिगतार्थप्रतिपादनस्वभावत्वात् प्रमाणानाम्"
—भामती, ३।३।१५, पृ० ७६८

(ब) "अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्"
—वेदान्तपरिभाषा, पृ० १६

१३४. तत्त्वानुसंधान, पृ० १३६
१३५. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, पृ० ८३
१३६. भामती, १।१।४, पृ० १३१
१३७. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, पृ० १६२

१३८. वही, पृ० १८७
१३९. A History of Indian Logic, P. 205
१४०. भामती, पृ० ४८
१४१. प्रमाण-मीमांसा, पृ० २
१४२. भामती, पृ० ४६
१४३. प्रमाणमीमांसा, पृ० २
१४४. भामती, पृ० ५
१४५. प्रमाणमीमांसा, पृ० १०
१४६. भामती, पृ० ५३९
१४७. प्रमाणमीमांसा, पृ० २५
१४८. वही, पृ० ५१

११८. वही पृ० ३५-३६
११९. गीता, १५।६
१२०. वही, १५।१२
१२१. भामती, पृ० ३१३
१२२. गुरुचन्द्रिका, भाग द्वितीय, पृ० १२८
१२३ भामती, पृ० ४५३, २।१।१३
१२४. गुरुचन्द्रिका, भाग द्वितीय, पृ० २०४
१२५. न्यायरत्नावली, पृ० १५५
१२६. भामती, पृ० ३७
१२७. न्यायरत्नावली, पृ० १८४
१२८. "नानाविधैरागममार्गभेदैरादिश्यमाना बहवोऽभ्युपायाः।
एकत्र ते श्रेयसि संतपन्ति सिन्धौ प्रवाहा इव जाह्नवीयाः॥"
—आगमडंबरम्, ४।५४

कालिदास ने भी कहा है—
"बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥"
—रघुवंश १०।२६

महिम्नस्तोत्र में तो स्पष्टतः ही सभी दर्शनों की प्राप्यस्थली वही एक परमतत्व है, ऐसा कहा गया है—
"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"
—महिमन स्तोत्रम्, श्लोक ७

१२९. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, १।४।४०२
१३०. सिद्धान्तबिन्दु, पृ० २४६—५५
१३१. न्यायरत्नावली, पृ० २४७
१३२. भामती, पृ० २७
१३३. (अ) "अनधिगतार्थप्रतिपादनस्वभावत्वात् प्रमाणानाम्"
—भामती, ३।३।१५, पृ० ७६८

(ब) "अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्"
—वेदान्तपरिभाषा, पृ० १६

१३४. तत्त्वानुसंधान, पृ० १३६
१३५. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, पृ० ८३
१३६. भामती, १।१।४, पृ० १३१
१३७. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ, पृ० १६२

उपसंहार

(१) निष्कर्ष

इस प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र एक उदग्र आलोचक, जागरूक व्याख्याकार तथा सूक्ष्मद्रष्टा दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। इन तीनों ही रूपों में वेदान्त दर्शन का उन्होंने महान् उपकार किया है। आलोचक के रूप में उन्होंने लोकायतिक, बौद्ध, जैन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा आदि मतों की गम्भीर एवं सम्प्रदायपरम्परानुसार आलोचना करके अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों की स्थापना की। एक विवादास्पद व्यक्तित्व, भले ही वह कितना ही प्रतिभाशाली एवं सशक्त क्यों न हो, शनैः-शनैः अपने सिकुड़ते हुए प्रभावक्षेत्र के साथ ही जिज्ञासुओं की आस्था को खो बैठता है। आचार्य शंकर की वैदिक निष्ठा भी कुछ पुरातनपन्थी आचार्यों की दृष्टि में सन्देहास्पद हो चली थी, जैसाकि प्रतिपादित किया जा चुका है, और उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा था। ऐसी स्थिति में इस आशंका से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि उक्त सन्देहास्पदता के अभियान का दमन व प्रतिकार नहीं किया जाता तो आचार्य शंकर का उदात्त व्यक्तित्व विवादास्पद बनकर रह जाता और उनके द्वारा प्रचारित अद्वैत वेदान्त अपनी वर्तमान गरिमा को प्राप्त न कर पाता। आचार्य वाचस्पति को उक्त स्थिति के दूरगामी परिणामों की गन्ध, सम्भवतः, समय रहते मिल गई थी। उन्होंने समय की मांग को समझा और आशंकित अनिष्ट के निवारण में अपनी शक्ति व प्रतिभा को केन्द्रित कर दिया। इसके लिए उन्होंने जो मार्ग चुना वह उनकी व्यावहारिक कुशलता एवं दूरदर्शिता का परिचायक है। उन्होंने शंकर पर उक्त आरोप लगाने वालों से इस सम्बन्ध में कुछ न कहकर, उनके समक्ष सफाई प्रस्तुत न करके सौगतसिद्धान्तों की स्वरूप विवेचना व आलोचना इतनी तत्परता व कुशलता से कर डाली कि शांकर वेदान्तीय मान्यताओं का उनसे अन्तर स्पष्ट झलकने लगा। निष्पक्ष विज्ञजनों को इस बात की प्रतीति हो गई कि शांकर वेदान्त बौद्ध दर्शन नहीं है, उसकी वैदिकता सन्देह की परिधि से परे है। इस प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने शंकर के व्यक्तित्व की तथाकथित प्रच्छन्नबौद्धता की धारा से मुक्ति दिलाकर, उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करके अद्वैत वेदान्त को सदा के लिए अपना कृतज्ञ व ऋणी बना दिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वाचस्पति के परवर्ती काल में इस प्रकार के आरोप को किसी प्रतिष्ठित आचार्य ने नहीं दुहराया।

भास्कराचार्य ने शांकर-वेदान्त के शिविरोन्मूलन की जो प्रतिज्ञा की थी उसे

वाचस्पति मिश्र ने लेशत: भी पूर्ण न होने दिया। उन्होंने भास्कर के द्वारा शंकर पर किये गये एक-एक आरोप को खण्ड-खण्ड कर डाला, भास्करीय मान्यताओं के व्यूह को छिन्न-भिन्न कर डाला[४] और इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रामाणिकता को अक्षुण्ण बनाए रखा। अद्वैत वेदान्त उनके इस उपकार को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।

मीमांसकों ने वेदान्तवाक्यों में विध्येकवाक्यता तथा प्रतिपत्तिविधिशेषता की उपपत्ति सिद्ध करके वेदान्त को प्रभावित करने का अभियान प्रारम्भ किया था और वेदान्त के कतिपय आचार्य उसके शिकार भी हो चले थे किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उक्त अभियान को विफल कर दिया[५] और इस प्रकार वेदान्त के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा की। इसे भी वेदान्त के प्रति आचार्य वाचस्पति मिश्र के द्वारा किया गया उपकार माना जाना चाहिए।

आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा की गई वेदान्तेतर सम्प्रदायों की, विशेषकर भास्कर-दृष्टि की, ये आलोचनाएं शांकर वेदान्त की अमूल्य निधि के रूप में सदा सम्मानित होती रहेंगी। इन आलोचनाओं का अद्वैत वेदान्त में वही स्थान है जो विदेशी आक्रान्ताओं व आन्तरिक विद्रोहों से अपनी मातृभूमि की अखण्डता की रक्षा में किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा सेनाओं का हो सकता है।

इस बात का संकेत किया जा चुका है[६] कि कतिपय विषयों पर मतभेद होने के कारण शांकरमत व माण्डनमत के रूप में अद्वैतवेदान्त की दो धाराएं प्रचलित थीं और इसलिए उपेक्षा होने पर माण्डन धारा की विलुप्ति अथवा आगे चलकर पारस्परिक कलह की सम्भावना थी। प्रथमकोटिक अनिष्ट की निवृत्ति के लिए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने मण्डन की ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या करके उसके पक्ष को उजागर किया और इस प्रकार वेदान्त की एक महत्त्वपूर्ण निधि की रक्षा की। किन्तु यदि वे अपना प्रयास यहीं तक सीमित रखते तो वे माण्डनधारा के अनन्य अनुयायी के रूप में सुरक्षित, संकुचित व एक-पक्षीय बनकर रह जाते। अत: उन्होंने शांकरभाष्य के प्रति भी 'भामती' के रूप में अपनी आस्था अभिव्यक्त कर दी। उनके इस प्रकार के प्रयास से इस तथ्य को अवश्य ही बल मिला होगा कि उक्त दोनों विचारधाराओं का अपना-अपना मूल्य है, उनमें से कोई भी पक्ष उपेक्षणीय नहीं है। इस तथ्य की प्रतिष्ठा ने परोक्ष रूप से उस आशंकित गृहयुद्ध की तीव्रता को अवश्य ही विरल किया होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'भामती' की रचना करते समय आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उक्त समस्या की तीव्रता व उसके समाधान की आवश्यकता को और अधिक गहनता से अनुभव किया था। जीवन की अवसान-परिधि के आसन्नसंस्पर्श की आशंका ने उस प्रौढ आचार्य की चिन्ता को और अधिक तीक्ष्ण बना दिया होगा। सम्भवत: इसीलिए 'भामती' के रूप में उन्होंने उपरिचर्चित समस्या का अन्तिम समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया और इसी सन्दर्भ में उन्होंने मण्डन की विचारधारा को भी उसमें प्रति-निधित्व दिया—जीवाश्रिताविद्यावाद के सिद्धान्त के प्रति अपनी अडिग आस्था अभि-व्यक्त करके। शंकर के व्याख्याकार की भूमिका में मण्डन के जीवाश्रिताविद्यावाद का पल्लवन बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। इसी प्रसंग में एक बात जो विशेष ध्यान देने योग्य

है वह यह है कि उन्होंने मण्डन मिश्र को अन्धसमर्थन नहीं दिया है।[६] जीवन्मुक्ति की चर्चा के अवसर पर मण्डन की आलोचना करके उन्होंने अपनी निष्पक्षता का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है।[७] इसी प्रकार शंकर के व्याख्याकार के पद पर आसीन होते हुए भी उन्होंने सर्वत्र भाष्यकार की अँगुलि पकड़कर चलना स्वीकार नहीं किया और भाष्य की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों पर, भाष्य की संयोजना से कुछ परे हटते हुए अपना स्वतन्त्र व्याख्यान प्रस्तुत करके[८] अपनी नीरक्षीरविवेचिनी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

इस प्रकार मण्डन व शंकर दोनों के प्रति यथोचित आस्था तथा आवश्यक होने पर असहमति प्रदर्शित करके उन्होंने किसी प्रकार की भ्रान्ति को जन्म दिये बिना पूर्व-चर्चित सम्भावित अनिष्टद्वय से अद्वैत वेदान्त की रक्षा की और उसे 'भामती' के रूप में एक ऐसी अद्वितीय व्याख्या प्रदान की जो शांकर व माण्डन दोनों विचारधाराओं के उदात्त भावों का संगमस्थल है। अद्वैतवेदान्त-सम्प्रदाय की ओर से आचार्य वाचस्पति मिश्र इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए साधुवाद के अधिकारी हैं।

भास्कर ने जहाँ शंकर के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की आलोचना की थी वहाँ उन्होंने अनेक सूत्रों की शांकर योजना व विवृति को भी असंगत ठहराया था। एक प्रबुद्ध व्याख्याकार के रूप में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने शंकर के व्याख्यानों की प्रामाणिकता की पुनः स्थापना करके[९] शांकर-वेदान्त को विशेषतः उपकृत किया है। अध्यासभाष्य के औचित्य पर जो सन्देह व आक्षेप किया जाने लगा था, उसका भी आचार्य मिश्र ने परिमार्जन किया[१०] और भाष्यकार की प्रतिष्ठा की 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' वाली स्थिति से रक्षा की। व्याख्या करते समय उन्होंने यत्र-तत्र न केवल भाष्यकार से ही असहमति प्रकट की अपितु उनके प्रथम व्याख्याकार आचार्य पद्मपाद के व्याख्यानों को भी समीक्षा की सान पर चढ़ा कर देखा।[११] गम्भीरता से सोचा जाए तो इतने प्रतिष्ठित व उच्चस्तरीय विद्वानों से असहमति प्रकट करना असाधारण साहस का कार्य है जिसे एक विशिष्ट प्रतिभा ही सम्पन्न कर सकती है। किसी महान् विद्वान् के वक्तव्यों की महत्ता से अभिभूत होना भिन्न बात है तथा उन्हें समझना भिन्न बात। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपने प्राग्वर्ती आचार्यों के वक्तव्यों के मर्म को समझने का प्रयास किया तथा जहाँ उन्हें उनमें अस्वारस्य प्रतीत हुआ, वैमत्य प्रकट कर दिया और अपनी मान्यता प्रस्तुत की। जैसाकि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, ऐसा करते समय उनके सामने एक ही लक्ष्य था – अद्वैत वेदान्त के कलेवर को इतना सुदृढ़ बना देना कि विरोधी मतवादों के लिए वह एक अभेद्य दुर्ग बन जाए।

एक दार्शनिक के रूप में भी आचार्य वाचस्पति मिश्र की उद्भावनाएँ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जीवाश्रिताविद्यावाद को उन्होंने इतनी रुचि, आस्था एवं सतर्कता के साथ उपनिबद्ध किया कि आगे आने वाले आचार्य उसका मूलोद्भावक के रूप में उन्हें सम्मानित करने लगे। प्रतिजीव पृथक् अविद्या की मान्यता की स्थापना करके इस सिद्धान्त में आचार्य मिश्र ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ दी।[१२] उनके प्राग्वर्ती आचार्य पद्मपाद ने प्रपंच की प्रतीति की व्याख्या प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के सहारे की थी किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रतिबिम्बवाद की तुलना में अवच्छेदवाद को इतनी

सुदृढ़ रीति से प्रस्तुत किया[१३] कि परवर्ती आचार्यों ने अवच्छेदवाद को उनके एक विशिष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।[१४] इसी प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कर्मों की उपयोगिता विविदिषा में सिद्ध करके आचार्य पद्मपाद द्वारा स्थापित, ज्ञान के प्रति कर्मोपयोगिता के सिद्धान्त को चुनौती दी।[१५] शब्द (महावाक्य) के द्वारा आत्म-साक्षात्कार न होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन से संस्कृत मन के द्वारा होता है[१६], वाचस्पति द्वारा उपनिबद्ध इस सिद्धान्त का भी अद्वैत वेदान्त में अपना विशिष्ट स्थान है।[१७]

प्रकटार्थकार आदि परवर्ती आचार्यों के द्वारा की गई वाचस्पत्यमत की आलोचनाएँ[१८] इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्त व व्याख्यान उस समय तक अपना इतना प्रभाव अवश्य स्थापित कर चुके थे कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। किन्तु ये आलोचनाएँ भी वाचस्पत्यमत की धारा को अवरुद्ध न कर सकीं[१९] और आगे चलकर वही धारा 'भामती-प्रस्थान' के नाम से सुप्रतिष्ठित हुई।

अनेक परवर्ती वेदान्ताचार्यों ने स्वयं को 'भामती' की व्याख्यापरम्परा में जोड़ कर[२०] अथवा शांकरभाष्य की अपनी व्याख्याओं के गठन में 'भामती' की भाषा-शैली तथा विषय-सामग्री का उपयोग करके[२१] अथवा अपने प्रकरणग्रन्थों में 'भामती' के व्याख्यानों को ससम्मान उद्धृत करके[२२] जहाँ स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया वहीं उसके प्रणेता आचार्य वाचस्पति मिश्र के प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा के सुमन भी अर्पित किए हैं। इन परवर्ती प्रतिष्ठित वेदान्ताचार्यों द्वारा दिया गया यह सम्मान वेदान्त-दर्शन के प्रति भामतीकार की महत्त्वपूर्ण देन की कथा असन्दिग्ध रूप से चिरकाल तक कहता रहेगा।

(२) उपलब्धियाँ

प्रस्तुत अध्ययन की अपनी उपलब्धियाँ हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र के विराट् व्यक्तित्व व कृतित्व के परिचय के सन्दर्भ में उनके आविर्भावकाल, कृतियों के अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व आदि पर नवीन दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया गया है। 'भामती' के मर्म को अधिकाधिक खोलने, उसकी दार्शनिक व व्याख्यात्मक विशेषताओं को पूर्ण स्पष्टता के साथ रखने के प्रयास को भी प्रस्तुत ग्रन्थ की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। दृष्टिसृष्टिवाद की सम्प्रदायानुसारिणी व्याख्या भी एक विशेष उपलब्धि मानी जा सकती है। कतिपय परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई वाचस्पति मिश्र की आलोचनाओं के प्रतिपादन व मूल्यांकन का प्रयास भी इस सम्बन्ध में एक नवीन उद्भावना है। जिन विषयों पर भास्कर का शंकर से मतभेद था, उन विषयों से सम्बन्धित शांकरमत, भास्कर द्वारा उनकी आलोचना तथा वाचस्पतिमिश्र द्वारा उन आलोचनाओं के उत्तर, पद्मपाद के विभिन्न दृष्टिकोणों की वाचस्पत्यमत से तुलना व समीक्षा तथा वेदान्तेतर दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं के वाचस्पति मिश्र द्वारा विखण्डन की प्रस्तुति भी अध्ययन की अपनी महती विशेषता है। परवर्ती वेदान्त पर वाचस्पति के प्रभाव की जिज्ञासा के सन्दर्भ में किया गया सर्वेक्षण भी इसकी गरिमा का

संवर्धक कहा जा सकता है।

लेखक का विश्वास है कि भाष्य व 'भामती' के हृदय को समझने के लिए प्रस्तुत अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकेगा। भास्कर के हृदय को टटोलने-जानने के अभिलाषियों के लिए भी यह प्रबन्ध पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। अद्वैत वेदान्तीय मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं को भी इस शोध प्रबन्ध से उपयोगी सहायता मिल सकती है।

सन्दर्भ

१. द्र० चतुर्थ उन्मेष
२. यथा भास्कराचार्य ने भी शंकर पर बौद्ध-प्रचारक होने का आरोप लगाया था (ब्र० सू० १।४।२५ व २।२।२९) किन्तु आचार्य मिश्र ने भास्कर के अन्य आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए भी इस विषय में मौनावलम्बन ही किया है।
३. द्र० चतुर्थ उन्मेष
४. वही
५. द्र० द्वितीय उन्मेष
६. पुनरपि प्रकटार्थकार ने तो उन्हें 'मण्डनपृष्ठसेवी' की उपाधि से विभूषित कर ही दिया। (द्र० चतुर्थ उन्मेष)
७. द्र० तृतीय उन्मेष
८. वही
९. द्र० चतुर्थ उन्मेष
१०. तृतीय उन्मेष
११. वही
१२. वही
१३. वही
१४. द्र० पचम उन्मेष
१५. द्र० तृतीय उन्मेष
१६. वही
१७. द्र० पंचम उन्मेष
१८. द्र० चतुर्थ उन्मेष
१९. वही
२०. द्र० पंचम उन्मेष
२१. वही
२२. वही

शोध-प्रयुक्तग्रन्थ-निर्देशिका

संस्कृत

१. अच्युत [ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभूमिका] (पं० गोपीनाथ कविराज)—गौरीशंकर गोयनका समर्पितनिधि, काशी, वैशाख पूर्णिमा, संवत् १९९३ ।

२. अद्वैतग्रन्थकोश—देववाणी परिषद्, १, देशप्रिय पार्करोड, कलकत्ता ।

३. अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ (महादेव सरस्वती)—एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९२२ ।

४. अद्वैतरत्नरक्षणम् (मधुसूदन सरस्वती)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१७ ।

५. अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती)—मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९३३ व १९४० ।

६. अन्ययोगव्यवच्छेदस्तोत्र (हेमचन्द्र)—भण्डारकर प्रा० वि० मन्दिर, पूना, सन् १९३३ ।

७. अभिज्ञानशाकुन्तल, (कालिदास)—श्री राजस्थान संस्कृत कालेज ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९४१ ।

८. अभिधर्मकोश (राहुलकृत टीकोपेत), (वसुबन्धु)—काशीविद्यापीठ, काशी, संवत् १९८८ ।

९. आगमडम्बरम् (जयन्तभट्ट) मिथिला इंस्टीट्यूट, दरभंगा, सन् १९६४ ।

१०. आत्मतत्त्वविवेक (उदयन)—(१) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९२५ ।
(२) वही, सन् १९४० ।

११. आभोग (लक्ष्मीनृसिंह)—मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, सन् १९५५ ।

१२. इष्टसिद्धि (विमुक्तात्मा)—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, सन् १९३३ ।

१३. ईशावास्योपनिषद्—श्री शंकराचार्य ग्रन्थावली, प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसी दास, सन् १९६४ ।

१४. उपदेशसाहस्री (शंकराचार्य)—पूना संस्करण, सन् १९२५ ।

१५. ऋग्वेद—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९७३ ।

१६. ऋजुप्रकाशिका (अखण्डानन्द)—मैट्रोपोलियन प्रेस, कलकत्ता, सन् १९७३ ।

१७. कठोपनिषद्—श्री शंकराचार्य ग्रन्थावली, प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६४ ।

१८. कल्पतरुपरिमल [वेदान्तकल्पतरुपरिमल] (अप्पयदीक्षित)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८ ।

१९. काव्यमीमांसा (राजशेखर)—चौखम्बा संस्करण, १९६४।
२०. कौशीतकीब्राह्मण—श्री वेङ्कटेश्वर, बम्बई।
२१. खण्डनखण्डखाद्य (श्रीहर्ष)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९०४।
२२. गरुडपुराण (महर्षि वेदव्यास)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९६४।
२३. गुरुचन्द्रिका (ब्रह्मानन्द सरस्वती)—मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९४०।
२४. चन्द्रिका (ज्ञानोत्तम मिश्र)—बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज, १९२५।
२५. छान्दोग्योपनिषद्—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६४।
२६. छान्दोग्योपनिषद्भाष्य (शंकराचार्य)—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १८५९
२७. जैनदर्शनसार (चैनसुखदास)—जयपुर संस्करण, सन् १९६३।
२८. जैमिनिसूत्र (महर्षि जैमिनि)—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १८९२।
२९. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली (ज्ञानश्रीमित्र)—काशीप्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, सन् १८५९।
३०. तत्त्वप्रदीपिका [नयनप्रसादिनीसंवलिता] (चित्सुखाचार्य)—(१) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५।
(२) उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी, सन् १९५६।
३१. तत्त्वबिन्दु (वाचस्पति मिश्र)—अण्णामलै यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज नं० ३, सन् १९३६।
३२. तत्त्वबोधिनी (नृसिंहाश्रम)—दि प्रिन्स आफ वेल्स सरस्वती भवन टैक्स्ट्स नं० ६६, १९४१।
३३. तत्त्वानुसन्धान (महादेव सरस्वती)—एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९२२।
३४. तत्त्ववैशारदी (वाचस्पति मिश्र)—भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९७१।
३५. तन्त्रवार्तिक (कुमारिल भट्ट)—आनन्दाश्रम, पूना, १९३१।
३६. तन्त्रवार्त्तिक (कुमारिल भट्ट)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९०३।
३७. दीधिति (रघुनाथ शिरोमणि)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९२५।
३८. धर्मोत्तरप्रदीप (धर्मोत्तराचार्य)—तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरीज, पटना, सन् १९३५।
३९. निरुक्त (यास्कमुनि)—श्रीरामलाल ट्रस्ट, अमृतसर, संवत् २०२१।
४०. नैष्कर्म्यसिद्धि (सुरेश्वराचार्य)—मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९५५।
४१. नैष्कर्म्यसिद्धि [चन्द्रिकाव्याख्यासंवलिता] (सुरेश्वराचार्य)—बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज, सन् १९२५।
४२. न्यायकणिका (वाचस्पति मिश्र)—अण्णामलै संस्करण, सन् १९०७।
४३. न्यायकणिका (वाचस्पति मिश्र)—मैडिकल हाल प्रेस, काशी, सन् १९०७।
४४. न्यायकुसुमांजलि (उदयन)—श्रीनिवास प्रेस, तिरुनादी, सन् १९४०।
४५. न्यायनिर्णय (आनन्दगिरि)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०९।
४६. न्यायप्रवेश ४१, (दिङ्नाग)—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज नं० ३८।

४७. न्यायमकरन्द (आनन्दबोध)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी, सन् १९०१ व सन् १९०७।
४८. न्यायमञ्जरी (जयन्त भट्ट)—मैडिकल हाल प्रेस, काशी, संवत् १९५६।
४९. न्यायरत्नमाला (पार्थसारथि मिश्र)—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, सन् १९३७
५०. न्यायरत्नाकर, [श्लोकवार्त्तिकटीका] (पार्थसारथि मिश्र)—तारायन्त्रालय काशी।
५१. न्यायरत्नावली [सिद्धांतबिन्दुटीका] (ब्रह्मानन्द सरस्वती)—काशी संस्कृत सीरीज नं० ३५, सन् १९२८।
५२. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (वाचस्पति मिश्र)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९२५।
५३. न्यायसिद्धांतमुक्तावली (विश्वनाथ पंचानन)—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६०।
५४. न्यायसूचीनिबन्ध, (वाचस्पति मिश्र)
५५. न्यायसूत्र (महर्षि गौतम)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९४२।
५६. न्यायसूत्रभाष्य (वात्स्यायन)—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६।
५७. पंचपादिका (पद्मपाद)—लाजरस संस्करण, सन् १८९१।
५८. पंचपादिका (पद्मपाद)—मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, सन् १९५८।
५९. पंचपादिकाविवरण (प्रकाशात्म)—मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, सन् १९५८।
६०. पातंजलयोगदर्शन (महर्षि पतञ्जलि)—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७१।
६१. प्रकटार्थ विवरण, भाग II, (अज्ञात)—मद्रास विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज नं० १, सन् १९३९।
६२. प्रकरणपंचिका (शालिकनाथ मिश्र)—विद्याविलास यन्त्रालय, काशी, सन् १९०४।
६३. प्रबोधपरिशोधिनी (आत्मस्वरूप)—मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज नं० CLV, सन् १९५८।
६४. प्रमाणवार्त्तिक [प्रथम भाग] (धर्मकीर्ति)—तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरीज, पटना, सन् १९३५।
६५. प्रमाणवार्त्तिक (धर्मकीर्ति)—बौद्ध-भारती-ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६८।
६६. प्रमाणमाला (आनन्दबोध)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९०७।
६७. प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्रसूरि)—भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९३९।
६८. बृहदारण्यकोपनिषद्—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६४।
६९. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य (शंकराचार्य)—श्री शंकराचार्य ग्रन्थावली, प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६४।

७०. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक [आनन्दगिरिटीकासंवलित] (सुरेश्वराचार्य)—आनन्दाश्रम, पूना।
७१. ब्रह्मविद्याभरण (अद्वैतानन्द)—विद्यामुद्राक्षरशाला, कुम्भकोण।
७२. ब्रह्मसिद्धि (मण्डन मिश्र)—मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट सीरीज नं० ४, सन् १९३७।
७३. ब्रह्मसूत्र (बादरायण)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८।
७३. ब्रह्मसूत्रभाष्य (शंकराचार्य)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८।
७५. ब्रह्मसूत्रभाष्य (भास्कराचार्य)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९१५।
७६. ब्रह्मसूत्र-(शांकर)-भाष्यवार्त्तिक (नारायणानन्द सरस्वती)—कलकत्ता संस्कृत सीरीज, नं० १, सन् १९४१।
७७. भामती (वाचस्पति मिश्र)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८।
७८. भामती (चतुःसूत्री, 'हिन्दी अनुवाद') (वाचस्पति मिश्र, 'अनु० सरयूप्रसाद उपाध्याय')—सरयूप्रसाद उपाध्याय, संस्कृत महाविद्यालय, मीरजापुर, सन् १९६६।
७९. भारतीय दर्शन (वाचस्पति गैरोला)—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९६२।
८०. भारतीय दर्शन (न्यायवैशेषिक भाग) (धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री)—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९५३।
८१. माण्डूक्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।
८२. मुण्कोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।
८३. माध्यमिककारिका (नागार्जुन)—मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९६०।
८४ मित्रवाणी (पत्रिका, 'वाचस्पति अंक') (सम्पा० रुद्रधर झा)—वाचस्पति समिति, अन्धराठाढी (दरभंगा) शकाब्द १८८५।
८५. मीमांसान्यायप्रकाश, (आपदेव)—यैले युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, सन् १९२९।
८६. मीमांसान्यायप्रकाश (भाट्टालङ्कारटीका)—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९१९।
८७. युक्तिदीपिका, (अज्ञात)—मैट्रोपोलियन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, सन् १९३८।
८८. योगदर्शनभाष्य (महर्षिव्यास)—भारतीय विद्या-प्रकाशन, सन् १९७१।
८९. योगवार्तिक (विज्ञानभिक्षु)—काशी संस्कृत सीरिज, सन् १९३५।
९०. रघुवंश (कालिदास)—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९५४।
९१. रत्नकीर्ति-निबन्धावली (रत्नकीर्ति)—काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इस्टीट्यूट, पटना।
९२. रत्नप्रभा (गोविन्दानन्द)—निर्णय-सागर प्रेस, सन् १९०९।
९३. लक्षणावली (उदयन)—वाराणसी।
९४. लंकावतारसूत्र—मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९६३।

९५. वाक्यपदीय (भर्तृहरि)—पूना विश्वविद्यालय, पूना, सन् १९६५।
९६. वाक्यसुधा (शंकराचार्य)—बनारस संस्कृत सीरिज, सन् १९०१।
९७. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (वसुबन्धु)—चौखम्बा विद्याभवन, सन १९६७।
९८. विधिविवेक (मण्डनमिश्र)—मैडिकल हाल प्रेस, काशी, सन् १९०७।
९९. विभ्रमविवेक (मण्डनमिश्र)—मद्रास, सन् १९३२।
१००. विवेकचूडामणि (शंकराचार्य)—पूना संस्करण, सन् १९२५।
१०१. विष्णुसहस्रनामभाष्य (शंकराचार्य)—पूना ओरियण्टल सीरीज नं० ८, सन् १९५२।
१०२. वेदान्तकल्पतरु (अमलानन्द सरस्वती)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३८।
१०३. वेदान्ततत्त्वविवेक (नृसिंहाश्रम)—मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९५५।
१०४. वेदान्तदर्शनेर इतिहास (बंगला) (प्रज्ञानन्द सरस्वती)—कलकत्ता संस्करण।
१०५. वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र)—१. चौखम्बा संस्कृत सीरिज, सन् १९६३,
२. विलयार प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता, सन् १९००।
१०६. शतपथब्राह्मण—वैदिक यंत्रालय, अजमेर।
१०७. शाण्डिल्यसूत्र (शाण्डिल्य)—श्यामाचरण संस्कृत सीरिज नं० ४, यूनियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९२५।
१०८. शाबरभाष्य [मीमांसा] (शबरस्वामी)—विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९१०।
१०९. श्रीदादूदयालजी की वाणी (श्री दादू)—श्री जयरामदास स्वामी, श्री स्वामी लक्ष्मीराम चिकित्सालय, जयपुर, सन् १९५१।
११०. श्रीभाष्य (तत्त्व टीकासंवलित) (रामानुज)—ग्रन्थमाला ऑफिस, कांजीवरम्, सन् १९४१।
१११. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्यसंवलिता) (महर्षि व्यास)—भारतीयाधिशासन के संरक्षण में प्रकाशित।
११२. श्रीमद्भागवत (महर्षि व्यास)—श्री वेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, सन् १९७०।
११३. श्लोकवार्तिक, (कुमारिल)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १८९८।
११४. श्वेताश्वतरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२७।
११५. सर्वदर्शनसंग्रह (सायणमाधव)—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् १९५१।
११६. सर्वदर्शनसंग्रह (हिन्दी अनुवाद सहित) (सायणमाधव)—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सन् १९६४।
११७. सरस्वतीभवन स्टडीज पत्रिका, भाग-३—सरस्वती भवन, वाराणसी, सन् १९२४।
११८. संक्षेपशारीरक (सर्वज्ञात्ममुनि)—काशिका यन्त्रालय, संवत् १९४४।
११९. सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)—श्री गुरुमण्डलाश्रम हरिद्वार, संवत् १९८७।

१२०. सांख्यतत्त्वकौमुदी (विद्वत्तोषिणी सवलिता) (वाचस्पति मिश्र)— श्रीगुरुमण्डला-
श्रम, हरिद्वार, संवत् १६४४।
१२१. सांख्यसूत्र (कपिल)—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १६६६।
१२२. सांगयोगदर्शन—काशी संस्कृत सीरीज नं० ११०, सन् १६३५।
१२३. सिद्धान्तबिन्दु (मधुसूदन सरस्वती)—काशी संस्कृत सीरीज नं० ६५, सन् १६२८।
१२४. सिद्धान्तलेशसंग्रह (अप्पयदीक्षित)—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, सन् १६१६।
१२५. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह (शंकराचार्य)—पूना ओरियण्टल सीरीज नं० ८।
१२६. स्याद्वादमञ्जरी (मल्लिषेण)—बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज, सन् १६३३।
१२७. हेतुबिन्दुटीका (अर्चटभट्ट)—गायकवाड ओरियण्टल सीरिज, सन् १६४६।

ENGLISH

128. A History of Indian Philosophy Volms I—V, (S. N. Das Gupta)— (i) Cambridge University Press, London, Second Impression.
(ii) Motilal Banarsi Dass, 1975.
129. A History of South India, (Nilkanta Shastri) —Oxford University Press, 196◦ A. D.
130. A Source Book in Indian Philosophy, (S. Radhakrishan & Moore)—Princton University Press, 1957 A. D.
131. An Introduction to Indian Philosophy, (S. Chatterjee & D. Datta —University of Calcutta, 1948 A. D.
132. Catalogus Catalogurum, (Theodor Afrecht)—Leipzing, 1891 A. D.
133. History of Dharmaśāstra, (P. V. Kane)—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1930 A. D.
134. History of Indian Logic, (Satish Chandra Vidyabhu Shana)—Motilal Banarasidas, 1971 A; D.
135. History of Indian Philosophy (Umesh Mishra) — Allahabad Edition, 1966.
136. Indian Philosophy, (S. Radhakrishnan)—George Allen & Unwin Ltd., Ruskin House, 40 Museum Street, W. C. I, London, 1948 A. D.
137. Lights on Vedānta (V. P. Upadhaya)—The Chowkhamba Sanskrit Series office Varanati, 1959
138. Prabhākar School of Pūrvamimānsā, (Dr. Ganga Nath Jha) —Proceedings of the Second Oriental Conference, Calcutta.
139. Systems of Buddhistic Thought (S. Yaamakami) —Calcutta University.
140. The Early History of India, (Vincent A. Smith)—Oxford University Press, 1908 A. D.

141. The Holy Bible—Bible Meditation League, Columbus, Ohio.
142. The Rāmāyana of Bālmeeki, (Bālmeeki)—The D. A. V. College Sanskrit Series No. 17—20. Lahore.
143. Vācaspati Miśra on Advaita Vedānta, (Dr. S. S. Hasurkar)—Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, Darbhanga, 1958.

अशुद्धि-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	३६	न्याकणिका	न्यायकणिका
५	५	विद्यासोत	विद्यास्रोत
५	१२	वागरूपी	वाग्रूपी
५	३५	प्रयीयमान	प्रतीयमान
६	५	संस्कारिता	संस्कार्यता
६	२१	नमतस्तक	नतमस्तक
८	१८	वाङ्मय	वाङ्मय
१५	१३	अनुपेक्षणी	अनुपेक्षणीय
१७	२३	Add 'A' before 'History........'	
२३	१२	आचार्च	आचार्य
२४	३५	ॠजु	ऋजु
३१	६	शारीरिक	शारीरक
३७	११	सूलझाने	सुलझाने
३८	२६	पचीकरण	पंचीकरण
३८	२१	जैसासिक	जैसा कि
३९	२८	औव	जीव
४१	१६	आयश्यकता	आवश्यकता
४५	२७	क्रि	कि
४७	२	नैष्कर्म्यसिद्वि	नैष्कर्म्यसिद्धि
४९	२७	रुचिकार	रुचिकार
५३	२	ओर	और
५४	३१	३३	१३
५५	१६	बाध	बाध
५६	१०	स्पर्यमाणता	स्मर्यमाणता
५८	२८	न्यायवर्त्तिक	न्यायवार्त्तिक
६३	६, ११, १२, १६, १८	प्रप्रंच	प्रपञ्च

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५	६	मे	में
६५	१२	र्व	सर्व
६६	२	परिरणाम	परिणाम
६६	१०	मानने होगी	माननी होगी
६८	२६	देताक	देवताक
७०	२७	पाना	पाया
७१	६	जल, जल	जल
७१	११	अप्रासगिक	अप्रासंगिक
७४	८	सयोगादि	संयोगादि
७५	१२	उपलब्धि	उपलब्धि
७६	१९	प्रर्दशन	प्रदर्शन
८२	१२	लिङ्ग	लिङ्ग
८३	६	आमा	आत्मा
८३	१८	चाक्षुग	चाक्षुष
८३	३३	त्रस्रेणु	त्रसरेणु
८६	२१	शमशमादि	शमदमादि
८६	३०	व्यक्तिरेक	व्यतिरेक
९०	३६	व्यदहृत	व्यवहृत
९७	१३	तयदभावे	तदभावे
९८	१२	प्रपचः	प्रपंचः
१०६	३१	कर्म	कर्म
११०	६	समयच्छिन्ना	समयानवच्छिन्ना
१११	२७	शकर	शंकर
११४	F.N. ४५	सर्वसशया:	सर्वसंशया:
११६	F.N. ७१	अवद्येति	अविद्येति
११६	F.N. ८९	अममेव	अमुमेव
११७	F.N. १०६	पक्तियां	पंक्तियाँ
१२०	१५	Vācasdati	Vācaspati
१२०	३६	तत्त्वसग्रह	तत्त्वसंग्रह
१२१	६	सग्रह	संग्रह
१२३	३४	उपवप	उपवर्ष
१३०	१६	पुव	पूर्व
१३२	१६	आक्षप	आक्षेप
१३३	२	उपबब्ध	उपलब्ध
१३३	२१	ऋतु	ऋतु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३४	२१	अभिधर्मकोष	अभिधर्मकोश
१३४	अन्तिम	प्रज्ञा	प्रज्ञा
१३५	२	प्रतिसंख्या	प्रतिसंख्या
१३८	१३	सौन्त्रान्तिक	सौत्रान्तिक
१३८	१८	"	"
१३६	२	शस्त्रकार	शास्त्रकार
१४४	६ (नीचे से)	होता है।[३२]	होता है।*
१५६	३ (नीचे से)	जैा	जैसे
१५६	१३	निराश	निरास
१६१	६	निशिचत	निश्चित
१६३	२	जसा	जैसा
१६६	११	स्मृतिकाकार	स्मृतिकार
१६७	१७	प्राप्ति	प्राप्ति
१६७	१७	प्रतिपादिति	प्रतिपादित
१६७	२४	विदान्	विद्वान्
१६८	३	बोटपन्नाग्निरग्निको	बोटसन्नाग्निरग्निको
१६८	२१	यावदुपाधिविद्यमान	यावदुपाधिविद्यमान,
१६८	३०	भास्कर ने	भास्कर के
१७०	४	किया	किया जाए
१७३	१६	सिन्द्धान्त	सिद्धान्त
१७४	७	पूर्व	पूर्वं
१७४	१०	ऽमृतत्वमेति	ऽमृतत्वमेति
१७५	१६	कहा	कहा है
१७७	२१	जीव	जीव
१७७	३०	ब्रह्म	ब्रह्म
१७८	३	पदाथ	पदार्थ
१७८	१०	बेती	देती
१७८	२७	बिशेषणात्	विशेषणात्
१७८	२६	स्त्रोत	स्रोत
१७६	२०	विकारावृत्ति	विकारावर्ति
१८१	२२	आवश्वकता	आवश्यकता
१८३	२४	खड्गी	खड्गी
१८४	२७	प्राप्त	प्राप्त होता
१८५	२०	तत्वप्रदीपिका	तत्त्वप्रदीपिका
१६०	६	अह	अहं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	१२	लिङ्गमित्यमिधीयते	लिङ्गमित्यभिधीयते
१६४	५	आवृत्त	आवृत
१६४	३५	काय	कार्य
१६७	६	अज्ञानाश्रयता	अज्ञानाश्रयता
२०५	F.N. ६७	कौ०	कौ०
२१४	६	त्वर्ण	त्वश
२१७	१७	भास्कराचार्य	यास्काचार्य
२१६	१४	वात्तिकार	वात्तिककार
२२३	२	विरुद्धो	विरुद्धो
२२६	८	मगल	मंगल
२२६	६	सयाग	संयोग
२२६	१८	गप्त्वा	गत्वा
२३०	२१	शका	शंका
२३०	२४	त्व	त्वं
२३१	२०	चित्सुखाचाय	चित्सुखाचार्य
२३८	५	प्रपच	प्रपंच
२३६	१५	श्रमराजाध्वरीन्द्र	धर्मराजाध्वरीन्द्र
२४१	२२	ब्रह्मनन्द	ब्रह्मानन्द
२४३	४	ग्रन्थ	ग्रन्थ
२५०	४	सिद्ध	सिद्ध किया है
२५०	२१	आवरणभग	आवरणभंग
२५६	१५	न्यायव्...	न्यायवा...
२६३	१८	वैदुष्यामन्वित	वैदुष्यसमन्वित
२७०	१२	मौनाचलम्बन	मौनावलम्बन
२७२	F.N. २०	कौषीतकी	कौषीतकी
२७२	F.N. २०	वेङ्कटेश्वर	वेङ्कटेश्वर

नामानुक्रमणिका

[ग्रन्थ, लेखक, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति]

●●●

लेखक—(डॉ०) ईश्वर सिंह

जन्म-स्थान :

निजामपुर, दिल्ली-११००८१

शिक्षा :

दिल्ली से हायर सेकण्ड्री, संस्कृत में विशेष योग्यता; राजस्थान मा० शि० बोर्ड से उपाध्याय, स्वर्णपदक; राजस्थान विश्वविद्यालय से बी० ए०, योग्यता-क्रम में चतुर्थ स्थान, राष्ट्रीय छात्रवृत्ति; जोधपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० (संस्कृत), स्वर्णपदक; विश्व० अनु० आयोग छात्रवृत्ति पाते हुए जोधपुर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी०।

विशेष अध्ययन :

भारतीय दर्शन।

अध्यापन :

प्राक् आर० एल० (राजकीय) महाविद्यालय, कालाडेरा (राजस्थान);
राजकीय महाविद्यालय, शाहपुरा, (राजस्थान);
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर;
एस० एम० बी० कॉलिज, हापुड़।

साम्प्रतम् :

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।